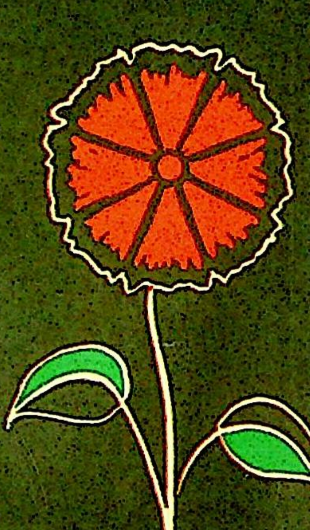
जीवन-भाष्य

जे. कृष्णमूर्ति

खण्ड – २



जीवन-भाष्य

[Commentaries on Living (२) का हिन्दी रूपान्तर]

(भाग २)

लेखक

जे० कृष्णमूर्ति

अनुवादक

इन्दुबहन

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी

इस द्वितीय भाग का भाषागत संशोधन-संपादन स्व० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट ने किया है। यदि यह अनुवाद श्री अच्युत पटवर्धनजी के सामने प्रकाशित हो सका होता तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती। वे आज हमारे बीच नहीं हैं। पर उनकी आत्मा को संतोष तो होगा ही।

श्री इन्दुबहन ने अंत में, परिशिष्ट के रूप में कृष्णमूर्तिजी द्वारा व्यवहृत अंग्रेजी शब्दों के अर्थों को दर्शाने का प्रयास किया है, ताकि हिन्दी पाठक भावों के हार्द तक पहुँच सकें।

आशा है हिन्दी जगत् इसका भी प्रथम भाग की भाँति स्वागत करेगा और लाभान्वित होगा।

विषय-सूची

जीवन-भाष्य
(भाग २)

अनुवादक का मनोगत

जे० कृष्णमूर्तिजी के अंग्रेजी साहित्य का हिन्दी अनुवाद करना आसान नहीं है। अंग्रेजी भाषा की अपनी खास विशेषता हिन्दी में उतारने के लिए दोनों भाषाओं का सखोल ज्ञान जितना आवश्यक है, उतनी ही कृष्णजी की जीवनदृष्टि तथा उसे प्रकट करने के लिए अंग्रेजी भाषा का उनके द्वारा किया हुआ कुशल तथा कलात्मक उपयोग गहराई से समझना जरूरी है।

मेरा इन उभय भाषाओं का ज्ञान बहुत मर्यादित है। और कृष्णजी की अंग्रेजी की खूबियाँ अपने खास अर्थ के साथ जब व्यक्त होती हैं, तब उनका अनुवाद करना दिग्गज भाषाविदों के लिए भी सुलभ नहीं है, यह अनेक मर्मज्ञों को मान्य होगा। अतः अनुवाद में मेरी अधूरी अभिव्यक्ति को सुस्वरूप देने के लिए आदरणीय श्रीकृष्णदत्त भट्टजी को जिम्मेदारी सौंपी गयी यह उचित ही हुआ। उनकी मैं आभारी हूँ।

यह अनुवाद का काम तीन साल पहले ही पूरा करके मैंने सर्व सेवा संघ प्रकाशन विभाग के पास भेज दिया था। यह कब प्रकाशित होगा, होगा भी या नहीं, इसमें मुझे खास दिलचस्पी नहीं थी, क्योंकि अनुवाद का काम इतना आनन्द का, आत्मविस्मृति का और देश-काल-परिस्थिति से चित्त को अलिप्त रखनेवाला था कि यह अपने में ही सार्थक लगता था। इसलिए सर्व सेवा संघ की मैं कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने मुझसे इस आनन्ददायी कार्य की अपेक्षा की।

शेष सब निःशेष है उस अनन्त-अपार में।

प्रबास में से, १८-११-'९२ —इन्दुबहन

१. सृजनात्मक आनन्द

उस भव्य महान् नदी के किनारे एक नगर बसा है। लम्बी और विस्तीर्ण सीढ़ियाँ पानी तक चली गयी हैं और उन पर सारी दुनिया ही मानो आश्रित है। प्रातःकाल से रात्रि तक उन पर भीड़ और कोलाहल बने ही रहते हैं। पानी को लगभग स्पर्श करती हुई उन सीढ़ियों पर अपनी आशा-आकांक्षाओं में, अपने देवों और संकीर्तनों में खोये हुए लोग बैठते हैं। मन्दिर की घंटियाँ बज रही हैं, मुगलजन नमाज की पुकार कर रहा है, कोई गा रहा है और बड़ी संख्या में लोग तन्मयता से उस गान को सुन रहे हैं।

इन सबसे परे; पगडंडी के घुमाव के आगे, नदी किनारे के काफी ऊपर कुछ भवनों की पंक्ति है। सघन वृक्षों के मध्य, चौड़े मार्गों से होकर यह बस्ती, अन्दर की ओर कितनी ही दूर तक फैली है। नदी के साथ-साथ, एक सँकरी और गन्दी गली से होकर शिक्षा के विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश होता है। वहाँ देशभर से विद्यार्थी आये हैं। वे उत्सुक, क्रियाशील और उपद्रवी हैं। अध्यापक गर्वीले और शानदार हैं। वे उच्च पद तथा अधिक वेतन के लिए सदा साजिश में लगे रहते हैं। यहाँ से पढ़कर, बाहर जाने पर विद्यार्थियों का क्या होता है, इसमें किसी को भी बहुत दिलचस्पी नहीं है। अध्यापक कुछ ज्ञान और तकनीक सिखा देते हैं। तेज विद्यार्थी उसे तुरन्त आत्मसात् कर लेते हैं। फिर स्नातक होते ही वहाँ पूर्ण विराम लग जाता है। अध्यापकों की सुनिश्चित नौकरियाँ हैं, अपने परिवार हैं और सुरक्षा है, लेकिन विद्यार्थियों को यहाँ से निकलने पर जीवन की उथल-पुथल और असुरक्षा का सामना करना होता है। ऐसी इमारतें, ऐसे अध्यापक तथा छात्र सारे देश में हैं। कुछ छात्रों को संसार में कीर्ति और पद उपलब्ध होते हैं। शेष कितने ही केवल परिवार बढ़ाते हैं, संघर्ष करते हैं और अन्त में मर जाते हैं। राज्य को मार्गदर्शन और शासन के लिए कार्यक्षम तंत्रज्ञ और प्रशासक चाहिए। साथ में सेना, धर्म स्थान और व्यापार उद्योग तो होते ही हैं। सारी दुनिया में यही स्थिति है।

कोई एक तकनीक सीखकर नौकरी या व्यवसाय में लग जाय, इसी के लिए हम मन के ऊपरी स्तर को, तथ्य तथा जानकारी से भर देनेवाली शिक्षण नाम की इस प्रक्रिया से गुजरते हैं, क्या यही सत्य नहीं है? निश्चित ही, आधुनिक विश्व में एक कुशल तंत्रज्ञ जीविका उपार्जन का उत्तम अवसर पा लेता है, लेकिन इससे क्या? जीने की जटिल समस्या का समाधान, क्या कोई तंत्रज्ञ, अन्य सामान्य मनुष्य से अधिक कुशलतापूर्वक प्राप्त करता है? व्यवसाय जीवन का केवल एक अंश है,

लेकिन प्रच्छन्न, सूक्ष्म और रहस्यमय ऐसे अनेक अंश जीवन में होते हैं। एक अंश को महत्त्व प्रदान करके, शेष सबको नकार देने से या दुर्लक्षित रखने से व्यवहार में निश्चित रूप से एकांगिता और विघटन की स्थिति आती है। आज दुनिया में ठीक यही हो रहा है। संघर्ष, संभ्रम और दुःख नित्य बढ़ ही रहे हैं। निस्संदेह, कुछ थोड़े अपवादस्वरूप, सृजनशील, सुखपूर्ण व्यक्ति भी हैं जिन्हें एक ऐसे तत्व का स्पर्श और प्रत्यय है जो मानव निर्मित नहीं है। उनका सुख मानसकृत वस्तुओं पर निर्भर नहीं है।

हम सबके अन्तर में आनन्द और सृजनशीलता के बीज पड़े हैं, काल के जाल से परे जो एक परम है, उसका स्पर्श पाने की शक्ति हममें निहित है। सृजनात्मक आनन्द केवल कुछ चुने हुए थोड़े से व्यक्तियों के लिए आरक्षित उपहार नहीं है। फिर भी अधिकांश मनुष्यों को इस आनन्द का परिचय क्यों नहीं है? जबकि अधिकांश लोग परिस्थिति और दुर्घटनाओं के कारण खण्डित और नष्टप्राय हो जाते हैं, तब ऐसा क्यों है कि कुछ व्यक्ति इनसे ऊपर उठकर, उस गहन गूढ़ता की निकटता पा सकते हैं। कुछ तो लचीले और नम्र रहते हैं, परन्तु शेष हठीले बनकर टूट क्यों जाते हैं। कोई ग्रन्थ या कोई मानव जिसे प्रदान कर सकता है उसके लिए ज्ञानी होकर भी कुछ लोग अपना चित्त खुला रखते हैं; और कितने ही, तंत्रज्ञान और अधिसत्ता से धूमिल होकर दब जाते हैं। किस कारण से? यह बहुत स्पष्ट है कि मानवमन, गहरे और व्यापक विषयों को अलक्षित करके, किसी न किसी क्रिया से बद्ध होकर, पक्का होना चाहता है, क्योंकि तभी वह सुरक्षित धरातल पर बना रह सकता है। इसलिए उसका शिक्षण, व्यवहार और क्रियाएँ इसी स्तर पर रखने के लिए उसे प्रोत्साहित किया जाता है, इसके परे न जाने के लिए कोई न कोई निमित्त खोजे जाते हैं।

तथाकथित शिक्षा से प्रदूषित होने से पहले कितने ही बालक अज्ञात का स्पर्श अनुभव करते हैं, और वे इसे अनेक प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं। किन्तु चारों तरफ का वातावरण उन्हें शीघ्र घेर लेता है और कुछ वर्षों के बाद वे उस आलोक को, उस सौन्दर्य को खो बैठते हैं, फिर किसी भी पुस्तक में या विद्यालय में उसे पा नहीं सकते। ऐसा क्यों होता है? यह मत कहो कि जीवन उनकी शक्ति से कुछ अधिक भारी होता है, या कठोर वास्तविकता का उन्हें मुकाबला करना पड़ता है। यह सब कहना भी निरर्थक है कि उनकी कर्मगति ही ऐसी है या यह उनके बाप-दादाओं के पाप का परिणाम है। सृजनात्मक आनन्द सभी के लिए है, कुछ चुने हुए खास व्यक्तियों के ही लिए नहीं। आप उसे एक प्रकार से व्यक्त करेंगे, तो मैं अलग ढंग से करूँगा, लेकिन है वह सबके लिए। सृजनात्मक आनन्द का बाजार में कोई

मूल्य नहीं है। न वह कोई ऐसी वस्तु है, जो अधिक बोली बोलनेवाले को नीलाम में बेची जा सके। लेकिन वही एक ऐसी चीज है, जो सबके लिए हो सकती है।

तो क्या, यह सृजनात्मक आनन्द प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है? अर्थात्, सर्वसुख के मूल स्रोत का नित्य सान्निध्य, क्या मन के लिए सम्भव है? ज्ञान और विज्ञान के रहते हुए भी, शिक्षा और जीवन की विविधता होते हुए भी, क्या चित्त का यह खुलापन बना रह सकता है? अवश्य रह सकता है, परन्तु यह तभी होगा जब शिक्षक इस सत्य में स्वयं दीक्षित हों, और पढ़ानेवाला सृजनशील आनन्द के मूल स्रोत का प्रत्यय पाता हो। अतः हमारे लिए विद्यार्थी या बालक समस्यारूप नहीं है, समस्या है—अध्यापक और माता-पिता हो। हम यदि इस परम आनन्द की महत्ता को तथा सर्वोच्च आवश्यकता को नहीं पहचानते हैं, तभी शिक्षण एक दुष्ट-चक्र बन जाता है। वस्तुतः, परम आनन्द के मूलाधार के लिए चित्त खुला रखना, यही सर्वोच्च धर्म है। किन्तु इसका प्रत्यक्ष अनुभव करना है, तो जैसे आप उद्यम-व्यवहार की ओर ध्यान देते हैं, वैसे सम्यक् ध्यान इसकी ओर देना होगा। अध्यापन का व्यवसाय केवल नियमबद्ध या नियमित कार्य नहीं है, यह सौन्दर्य और परमानन्द की अभिव्यक्ति है, इसे सफलता और उपलब्धि के मानदण्डों से नापा नहीं जा सकता।

अहं का आसन मन है, यदि मन ही नियंत्रण चलाता है, तो सत्य की दीप्ति और उसका दिव्यानन्द विनष्ट हो जाते हैं। आत्म ज्ञान ही प्रज्ञा का उदय है। आत्मज्ञान के बिना अध्ययन अज्ञान में, द्वन्द्व में और दुःख में परिणत होता है।

२. संस्कारबन्ध

मानवता की सहायता करने के लिए उसका जीवन समर्पित था। सत्कार्यों में और विभिन्न समाज कल्याणकारी संगठनों में वह नित्य लगा रहता। उसने कहा कि लम्बी अवधि की छुट्टी उसने कभी ली ही नहीं और स्नातक होने के पश्चात् मानव कल्याण के लिए ही उसने अविश्रान्त कार्य किया था। निस्संशय, वह कभी अपने सेवाकार्य का वेतन या मानधन लेता नहीं था। अपना कार्य सदैव उसके लिए बहुत महत्त्वपूर्ण था और उससे उसका गहरा लगाव था। वह प्रथम कोटि का समाज कार्यकर्त्ता हो गया था और यह बात उसे भाती थी। परन्तु एक प्रवचन में उसने सुना था कि मन को बन्धन में डालनेवाले पलायन के कई प्रकार होते हैं, इस विषय को स्पष्टता से समझने के लिए उसे चर्चा करनी थी।

"क्या आप ऐसा मानते हैं कि समाज कार्यकर्ता होने से संस्कारबद्धता आती है ? क्या इससे केवल संघर्ष को ही बढ़ावा मिलता है ?"

पहले हमें यह देखना चाहिए कि संस्कारबद्धता से हमारा अभिप्राय क्या है। हमें कब भास होता है कि हम संस्कारबद्ध हुए हैं ? कभी हमें यह भान होता भी है ? आपको संस्कारबद्धता का भान होता है, या केवल यही महसूस होता है कि आपके अन्यान्य आंतर-स्तरों में द्वन्द्व और संघर्ष चल रहे हैं ? निश्चित ही, हमें अपनी संस्कारबद्धता का नहीं, किन्तु केवल द्वन्द्व का, सुख-दुःख का ही भान होता है।

"द्वन्द्व या संघर्ष से आपका क्या अभिप्राय है ?"

हर प्रकार का संघर्ष, जैसे—राष्ट्र-राष्ट्र के बीच का, विभिन्न सामाजिक समूहों का, व्यक्तियों का और अपने अन्तरंग में चलनेवाला द्वन्द्व भी। जब तक कर्ता और कर्म, आह्वान और प्रतिसाद इनमें एकात्मता नहीं आती, तब तक क्या आन्तर-द्वन्द्व अनिवार्य नहीं है ? संघर्ष हमारी समस्या है, है न ? कोई एक विशिष्ट संघर्ष नहीं, किन्तु सब तरह का संघर्ष : विचारों का, मान्यताओं का, आदर्शवाद का और पारस्परिक विरोधों का। यदि संघर्ष नहीं होते, तो कोई समस्या ही उत्पन्न नहीं होती।

"आप क्या यह सुझा रहे हैं कि हम सबको एकाकी, चिन्तनमय जीवन अपनाना चाहिए ?"

चिन्तन बहुत कष्टप्रद है, उसे समझना अत्यन्त कठिन है। एकान्त की तलाश प्रत्येक व्यक्ति अपनी पद्धति से जाने-अनजाने करता है, लेकिन उससे समस्याओं का समाधान नहीं होता। उलटे, उससे समस्याएँ द्विगुणित होती हैं। संस्कारों के कौन से घटक संघर्षों की वृद्धि करते हैं, यह समझने की हम कोशिश कर रहे हैं। हम केवल संघर्ष को, सुख और दुःख को महसूस करते हैं, और संस्कारों का भान हमें होता ही नहीं है। फिर संस्कारबद्धता किस कारण से आती है ?

"सामाजिक या वातावरण के प्रभावकारी घटकों के कारण जिस समाज में हमने जन्म लिया, जिस संस्कृति में हम पले, जो आर्थिक, राजनैतिक आदि दबाव हम पर आये—इन कारणों से।"

यह तो ठीक है, लेकिन क्या यही सब कुछ है ? ये प्रभाव हमारे ही निर्माण किये हुए हैं न ? समाज है मनुष्य और मनुष्य के परस्पर संबंध का परिणाम, यह बहुत स्पष्ट है। यह संबंध उपयोगिता का, आवश्यकता का, सुख-सुविधा का, परितोष का, है और इससे जो प्रभाव और मूल्य आकार लेते हैं, वे हमें बन्धन में डालते हैं। यह बंधन है हमारी संस्कारबद्धता। हमारे अपने ही विचार से और कृति से हम बद्ध हैं। परन्तु इस बद्धता की हमें प्रतीति नहीं है, हमें भान है केवल सुख और दुःख के द्वन्द्व

का। हम कभी इससे परे जाते हुए दीखते नहीं हैं, और जाते भी हैं तो मात्र अधिक द्वन्द्वात्मकता में ही। हमें अपने संस्कार बंधन का अवबोध नहीं है, और यह बोध नहीं होता है तब तक हम संघर्ष और संभ्रम ही बढ़ाते जायेंगे।

"अपनी संस्कारबद्धता का अवबोध हमें कैसे होगा ?"

एक अन्य प्रक्रिया समझने से यह बोध संभव होगा। यह प्रक्रिया है आसक्ति की। हम क्यों आसक्त होते हैं, इसका आकलन हमें होगा, तो शायद अपनी संस्कारबद्धता का भान हमें हो सकेगा।

"यह तो लम्बे रास्ते से घूमकर एक सीधे से सवाल पर पहुँचना नहीं होगा ?"

क्या सचमुच ऐसा होगा ? जरा अपने संस्कारबद्धता को जानने का प्रयास करके देखिये तो ? आप उसे केवल अन्य किसी भान के संबंध से, अप्रत्यक्ष रूप में जानते हैं। अपनी संस्कारबद्धता को आप अमूर्त रूप में जान ही नहीं सकेंगे, क्योंकि फिर उसका केवल शाब्दिक ज्ञान होगा, जिसका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। हमें केवल संघर्ष का भान है जब आह्वान और प्रतिचार में एकरूपता नहीं होती है, तब संघर्ष रहता है। यह संघर्ष हमारी संस्कारबद्धता का नतीजा है। आसक्ति ही संस्कारबद्धता है : यह आसक्ति कार्य की, परंपरा की, धन-संपत्ति की, लोगों की, विचार की या अन्य किसी की भी हो सकती है। यदि किसी भी चीज की आसक्ति न हो तो क्या संस्कारबद्धता होगी ? बिलकुल नहीं होगी। तब, हमें आसक्ति क्यों होती है ? मुझे मेरे देश से लगाव है, क्योंकि इस तादात्म्य से मैं कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बन जाता हूँ। मैं अपने कार्य से एकीभूत हो जाता हूँ और तब कार्य महत्त्व का बनता है। मेरा परिवार, मेरी संपदा, मेरा ही रूप है, मैं उनमें आसक्त हो जाता हूँ। आसक्ति का विषय मुझे, मेरी आंतर-रिक्तता से दूर रहने के लिए, अवसर देता है। आसक्ति पलायन है, और यह पलायन संस्कारबद्धता को दृढ़ करता है। यदि मुझे आपके लिए आसक्ति है, तो वह इसीलिए है कि आप मेरे लिए स्वयं से भाग निकलने के साधनरूप होते हैं। तब आप मेरे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और मैं आप पर स्वामित्व रखना चाहूँगा, अपनी पकड़ में आपको रखूँगा। आप संस्कारबद्धता का आधारस्तंभ बनते हैं और पलायन है संस्कारबद्धता। यदि हमें स्वयं से छिपने के ये माध्यम मालूम हो जायेंगे तो हमारे बंधनों का निर्माण करनेवाले घटक और प्रभावों को हम देख सकेंगे।

"सामाजिक कार्य के माध्यम से, क्या मैं अपने से ही पलायन कर रहा हूँ ?"

क्या आप उसमें आसक्त हैं ? उसमें बद्ध हैं ? यदि आप समाजकार्य नहीं करेंगे, तो क्या आपको सर्वस्व खो बैठने की, रिक्तता की, नीरसता की भावना व्याप्त करेगी ?

"निश्चित ही मुझे यह भावना व्याप्त करेगी।"

तब आपके कार्य के लिए आसक्ति ही आपका स्व से पलायन है। अपने अस्तित्व के सारे स्तरों पर ये स्व से बचने के साधन उपस्थित रहते हैं। आप कार्य के माध्यम से, कोई शराब के माध्यम से, कोई धार्मिक उत्सवों के द्वारा, कोई ज्ञान या ईश्वर तो अन्य कोई मनोरंजनों के व्यसनों के मार्फत यह स्वयं से भाग निकलने का मार्ग अपनाते हैं। सारे बचाव-माध्यम एक से हैं, इनमें कोई उच्च या नीच नहीं होता। जब तक स्वयं की वास्तविकता से पलायन करने के ईश्वर और शराब ये साधनभूत आधार होंगे, तब तक दोनों एक ही स्तर पर हैं। हममें जब अपने इन पलायन-माध्यमों का भान जागता है, तब कहीं अपनी संस्कारबद्धता को हम जान पाते हैं।

"समाज कार्य के आधार से पलायन करना छोड़ दूँ, तो मैं करूँगा क्या? पलायन के सिवा क्या मैं कुछ कर भी सकूँगा? क्या स्वयं की वास्तविकता से दूर भागने के ही रूप होंगे मेरे सारे कर्म?"

यह प्रश्न केवल शाब्दिक है, या वास्तविकता की इसमें छवि है? आप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ऐसा तथ्य इसमें है? आप पलायन को अपनाते नहीं, तो क्या होगा? क्या कभी आपने इसका प्रयोग किया है?

"क्या मैं एक बात कह सकता हूँ? आपका कहना कितना निषेधात्मक लगता है। आप कर्म का कोई विकल्प भी तो नहीं सुझाते।"

क्या सभी विकल्प अन्य प्रकार के पलायन साधन ही नहीं हैं? जब एक विशिष्ट प्रकार की क्रिया संतोषजनक नहीं होती है या संघर्ष को ही बढ़ाती है, तो हम दूसरी क्रिया की ओर मुड़ते हैं। पलायन प्रक्रिया को बिना समझे, एक के स्थान पर दूसरी क्रिया करते रहना—यह व्यर्थ-सा ही तो है न? ये पलायन-साधन और इनके लिए हमारी आसक्ति दोनों मिलकर हमारी संस्कारबद्धता बुनते हैं। संस्कार-बद्धता समस्या और संघर्ष की जननी है। यह संस्कारबद्धता ही आह्वान की समझ हममें अंकुरित होने नहीं देती है और संस्कारों में फँसे रहने के कारण, हमारे प्रति-साद में से अनिवार्यरूप से संघर्ष ही पनपते हैं।

"संस्कारबद्धता से मुक्ति कैसे संभव होती है?"

केवल पलायन-माध्यमों को समझने से, उनका भान जागृत होने से। किसी व्यक्ति, कार्य या विचारप्रणाली के लिए हमारी आसक्ति ही बंधनकारक तंतु है—इस बात को हमें समझना होगा। इसके बदले किसी अच्छे या बुद्धिमत्तापूर्ण नये पलायन साधन की खोज में हम न निकल जायँ। सारे पलायन साधन बुद्धिहीनता के द्योतक हैं, क्योंकि वे अनिवार्य रूप से संघर्ष का ही प्रसव करते हैं। अनासक्ति को प्रयत्न-

पूर्वक विकसित करना भी एक अन्य प्रकार का पलायन-व्यवहार है। यह तो एकाकीपन में प्रवेश करना हुआ। इससे एक अभूत की, अनासक्तिरूप आदर्श की, आसक्ति ही प्रकट होती है। यह आदर्श तो कल्पनामात्र है, अहं-निर्मित है और आदर्श के अनुरूप बनने का अर्थ है यथार्थ से पलायन करना। जब मन किसी पलायन साधन को ढूंढ़ना छोड़ देता है, तब कहीं यथार्थ का आकलन और उसके प्रतिसाद में सम्यक् कृति संभव होती है। यथार्थ के बारे में कल्पना करना ही यथार्थ से पलायन है। समस्या के विषय में कल्पनारत होने का अर्थ होता है समस्या से दूर भागना, क्योंकि यह कल्पना या विचार ही समस्या है, एकमात्र समस्या है। स्वयं जो है वह रहने की मन की मर्जी नहीं है, अपने वास्तविक रूप से वह भयभीत है, तभी उसे स्वयं से बच निकलने के विविध माध्यम खोजने पड़ते हैं, इस खोज का वाहन होता है विचार। जब तक विचार रहेगा, पलायन स्थान, आसक्ति निश्चित ही रहेंगे, और इससे संस्कारबद्धता सुदृढ़ होगी।

विचार-जाल से छूट निकलते ही संस्कारबद्धता से मुक्ति मिलती है। मन के पूर्णरूप से शांत, स्थिर हो जाने पर ही यथार्थ के आविर्भाव की स्वतंत्रता प्राप्त होती है।

३. आन्तरिक एकाकीपन का भय

प्रतिदिन, प्रत्येक घड़ी, प्रत्येक वस्तु के लिए, विगतकाल के लिए और अभी-अभी बीते क्षण के लिए भी मृत्यु का वरण करना कितना आवश्यक है। मृत्यु के बिना पुनर्नाविन्य नहीं, मृत्यु के सिवा नवनिर्माण नहीं। भूतकाल का विलक्षण भार अपने ही अनुक्रम को जन्म देता है और कल की चिन्ता आज की चिन्ता को नया जीवन देती है। बीते कल का सातत्य आज रहता है और आगामी कल बीते की ही नकल होता है। इस निरंतरता से सिवा मृत्यु के कोई छुटकारा नहीं है। मरण में आनंद है। आज का नया प्रभात प्रफुल्ल और निर्मल है, कल के प्रकाश और अन्धकार से मुक्त है। उस पंछी का गीत पहली बार सुन रहे हैं और उन बच्चों की आवाज कल की पुरानी नहीं है। हम कल की स्मृति वहन करते हैं और उसकी छाया से हमारी चेतना धूसर होती है। जब तक मन स्मृति की यांत्रिक कठपुतली बना रहता है, उसे विश्राम नहीं, नीरवता नहीं, शांति नहीं, वह अपने-आपको क्षीण करता जाता है। जो निश्चल है, उसे नवजीवन है, लेकिन जो नित्य सक्रिय है, वह जीर्ण

होता चलता है, निरर्थक होता चलता है। उद्गम में समाप्ति है, मरण जीवन के जितना ही निकट है।

उस महिला ने कहा कि एक प्रसिद्ध मनोविज्ञानी के पास उसने अध्ययन किया था और उसी से बहुत समय लगाकर अपना मनोविश्लेषण भी करवाया था। यद्यपि वह एक ईसाई के नाते बड़ी हुई थी और उसने हिन्दू तत्वज्ञान तथा आचार्यों के विषय में भी पढ़ लिया था। लेकिन किसी विशिष्ट समूह को उसने अपनाया नहीं था या किसी विचारपंथ से वह संबंधित नहीं थी। सदा की भाँति वह नित्य असंतुष्ट रही और अब तो उसने मनोविश्लेषण का भी अस्वीकार कर दिया था। आजकल वह किसी जन-कल्याण कार्य में जुटी थी। उसने विवाह किया था और पारिवारिक जीवन के सभी सुख-दुःखों से वह परिचित थी। मन:संतोष के लिए उसने सामाजिक प्रतिष्ठा में, कार्य में, संपत्ति में और नीलसागर-किनारे के इस प्रदेश के प्रसन्न वातावरण में कई प्रकार के प्रश्रय खोजे थे। दुःख बढ़ते ही गये थे, फिर भी वह उन्हें सह सकती थी, लेकिन एक मर्यादित गहराई से आगे वह जा नहीं सकती थी, और यह गहराई अधिक नहीं थी।

प्राय: प्रत्येक वस्तु छिछली होती है और बहुत जल्दी उसका अन्त आता है। फिर से वह अपना सिर ऊँचा उठाती है, लेकिन अधिक उथलेपन के साथ। मन की किसी भी क्रिया से अक्षय की खोज हो नहीं सकती है।

"मैं एक कार्य से दूसरे कार्य में जाती रही, एक दुर्भाग्य से दूसरे की ओर, मानो हमेशा किसी चीज का पीछा करती हुई जबरदस्ती से, खींची जाती थी। आज, जब मैं एक प्रेरणा के अंतिम छोर पर पहुँची हूँ, और कई सालों तक मुझे अपने साथ ले जानेवाली दूसरी प्रवृत्ति का अनुगमन अभी प्रारंभ नहीं हुआ है, तब एक प्रबल आवेग के अधीन होकर मैं यहाँ आयी हूँ। मुझे पर्याप्त अच्छा जीवन जीने को मिला है, सुखी और भरपूर। कितने ही विषयों में मुझे दिलचस्पी रही है और कुछ विषयों का मैंने बहुत गहराई से अध्ययन किया है। फिर भी न जाने क्या इतने सालों के बाद भी मैं सभी विषयों के ऊपरी सतह पर ही हूँ। और एक विशिष्ट बिन्दु के परे मेरी गति होती नहीं है। मैं गहरे उतरना चाहती हूँ, लेकिन जा नहीं पाती हूँ। मैं जो करती आयी हूँ वह अच्छी तरह से करती हूँ ऐसा मुझसे कहा जाता है, और यह अच्छाई ही मेरा बंधन बन बैठी है। मेरे संस्कारों का स्वरूप परोपकारात्मक रहा है : दूसरों का भला करना, गरीबों की सहायता करना। विवेक से, उदारता से पेश आना—यही मेरी जीवन पद्धति रही। किन्तु यह बन्धन है, अन्य संस्कारबद्धता की तरह। केवल इन्हीं से नहीं, सभी संस्कारों से मुक्ति पाकर उनसे परे कैसे जाऊँ, यही मेरी समस्या है। यह मेरे लिए एकमेव अनिवार्यता बन गयी

है। केवल प्रवचन सुनने के कारण ही नहीं, मेरे स्वयं के ही निरीक्षण और अनुभव से मुझे यह महसूस हुआ है। फिलहाल अपने कल्याणकारी कार्य से भी मैं अलग हो गयी हूँ और फिर कभी उनमें लग पाऊँगी या नहीं, यह भी बाद में तय करूँगी।"

ये सारे कार्य आप किसलिए कर रही हैं, यह आपने इससे पहले क्यों नहीं अपने से पूछा ?

"समाज-कार्य में मैं क्यों हूँ, यह पूछने का मुझे इससे पहले कभी सूझा ही नहीं। मुझे सदैव सहायता करने की, अच्छा काम करने की इच्छा रही है, और यह केवल कोरी भावुकता नहीं थी। मुझे दीखता था कि जिन लोगों के साथ मैं रहती हूँ वे सच्चे नहीं हैं, केवल नकाबी हैं। सहायता की जिन्हें जरूरत है, वे सच्चे हैं। नकाबियों के साथ जीना मंद बुद्धि का, मूर्खता का काम है, लेकिन अन्य लोगों के साथ तो कष्टमय प्रयास और वेदना है।"

आप लोककल्याण के या दूसरे कामो में क्यों व्यस्त रहती हैं ?

"मुझे लगता है, केवल चलते रहने के लिए। किसी को भी जीना और कर्म करना पड़ता है, और मेरे संस्कार ऐसे रहे कि जितना संभव हो उत्तमता से, सुगमता से काम करूँ। मैंने कभी प्रश्न नहीं किया कि मैं ये काम क्यों करती हूँ, लेकिन अब मुझे इसका कारण ढूँढ़ना पड़ेगा। लेकिन आगे बात चलाने से पहले मैं यह कह दूँ कि मैं एक एकाकी व्यक्ति हूँ। यद्यपि मैं अनेक लोगों से मिलती हूँ, लेकिन हूँ अकेली, और मुझे यह पसंद है। अकेले होने में एक तरह का, उत्साहवर्धक आह्लाद रहता है।"

उदात्त अर्थ में अकेले होना आवश्यक है, लेकिन पराङ्मुखता का एकाकीपन सत्ता का, शक्ति का, अभेद्यता का आभास निर्माण करता है। ऐसा अकेलापन पृथकता है, यह पलायन है, बचाव है। लेकिन क्या वह खोजना महत्त्व का नहीं है कि आपने कभी अपने से यह क्यों नहीं पूछा कि आपकी तथाकथित परोपकारी प्रवृत्ति का मूल हेतु क्या है ? क्या आपको यह मालूम नहीं करना चाहिए ?

"जी हाँ, अब हम वही करें। मुझे लगता है कि आंतरिक एकाकीपन के भय के कारण ही मैं वे सब कार्य करती थी।"

आंतर-एकाकीपन के संबंध में आप 'भय' शब्द का प्रयोग क्यों कर रही हैं ? बाह्यत: अकेले होने में आपको आपत्ति नहीं हैं, लेकिन आंतरिक-एकान्त से आप मुँह मोड़ लेती हैं। क्यों ? भीति अमूर्त नहीं होती, किसी न किसी वस्तु के संबंध से वह प्रकट होती है। भीति स्वयंभू नहीं है, शब्दरूप में वह अस्तित्व में है, लेकिन उसका भान तभी होता है, जब किसी अन्य वस्तु से संबंध आता है। ऐसी कौन सी है वह वस्तु, जिससे आप डरती हैं ?

"इस आंतरिक एकान्त से ।"

आंतरिक-एकान्त का भय केवल किसी अन्य के संबंध से होता है। आप आंतर-एकाकिता से भयभीत हो नहीं सकती हैं, क्योंकि आपने उसकी तरफ कभी देखा ही नहीं है, आपको जो पहले से ही ज्ञात है, उसी से आप इसे तोल रही हैं। यदि कोई इस ढंग से कहे कि आपको अपनी हस्ती का भान है—एक समाज-कार्यकर्ता के नाते, एक माता के, या कार्यकुशल सक्षम व्यक्ति के नाते या इससे भी अन्य गुणों की दृष्टि से आप अपनी योग्यता जानती हैं। अपने बाहरी एकान्त का मूल्य भी आप जानती हैं। इसलिए इन सभी की तुलना में आप भीतरी एकान्त की ओर दृष्टिपात करती हैं। अब तक क्या-क्या बीता है, आप जानती हैं, लेकिन जो 'है', उसे आप जानती नहीं। ज्ञात का अज्ञात की तरफ देखना ही भय निर्माण करता है। यह क्रिया ही भय की जननी है।

"जी हाँ, यह बिलकुल ठीक है। अनुभव से जो मालूम हुआ है, उसके साथ मैं आंतरिक एकान्त की तुलना करती हूँ। ये ही अनुभव हैं, जो एकदम अननुभूत ऐसी किसी चीज के लिए भय का कारण बन रहे हैं।"

इसका अर्थ यह हुआ कि आपका भय आंतरिक एकान्त के लिए नहीं है, लेकिन बीता जीवन ऐसे किसी वस्तु से भयभीत है, जिसका आपको ज्ञान, अनुभव नहीं है। भूतकाल नवीन को आत्मसात् करना चाहता है, उसको अनुभूत करना चाहता है। लेकिन क्या गत-जीवन, जो आप स्वयं ही हैं, कभी नवीन को, अज्ञात को अनुभव कर सकता है? ज्ञात केवल अपने में से ही किसी रूप का अनुभव कर सकता है, वह कभी नूतन का, अज्ञात का अनुभव कर नहीं सकता। अज्ञात को एक नाम देकर, उसे आंतरिक-एकान्त कहकर, आपने उसकी केवल शाब्दिक पहचान प्राप्त की है और यह शब्द ही प्रत्यक्ष अनुभव का स्थान ले रहा है, क्योंकि यही शब्द भय के प्रक्षेपण के लिए परदा है। 'आन्तर एकान्त' यह पद वास्तविक तथ्य को, जो है उसे, आवृत्त कर रहा है, और बस, केवल यह शब्द ही भय निर्माण कर रहा है।'

"लेकिन कैसे भी हो, मेरे लिए उसकी तरफ देखना संभव नहीं हो रहा है।"

तथ्य की तरफ देखने की हिम्मत हम में क्यों नहीं होती है, और उसका तटस्थ निरीक्षण करने में क्या रुकावट है यह हम पहले समझ लेंगे। अभी, इतने में उसकी ओर देखने का प्रयास मत कीजिये, लेकिन जो कहा जा रहा है उसे कृपापूर्वक शान्ति से सुन लीजिये।

जो ज्ञात है, अनुभूत है, वह प्रयास कर रहा है कि जिसे वह आंतरिक एकान्त कहता है, उसे आत्मसात् करे। लेकिन उसका अनुभव वह कर नहीं सकता

है, क्योंकि उसे वह जानता नहीं है, वह पद को जानता है, लेकिन पद का अभिप्राय, उसके पीछे की वस्तुस्थिति, उसे मालूम नहीं है। अज्ञात का अनुभव सम्भव नहीं है। आप अज्ञात के विषय में सोच सकती हैं, अन्दाज लगा सकती हैं, उससे भयग्रस्त भी हो सकती हैं, लेकिन विचार को उसका बोध नहीं हो सकता है, क्योंकि विचार ज्ञात का, अनुभूत का निष्कर्ष है। और विचार अज्ञात को ज्ञात नहीं कर सकता, इसलिए उससे भयभीत होता है। जब तक विचार को अज्ञात के अनुभव को चाहना है, उसके आकलन की अभीप्सा है, तब तक भय रहेगा।

"तब क्या·········?"

कृपा करके सुन लीजिए। आप उचित रीति से श्रवण करेंगी, तो इस सबका सत्य दीख पड़ेगा, और तब सत्य ही एकमात्र कर्म रहेगा। आंतरिक एकान्त के साथ विचार जो भी करता है वह केवल पलायन है, आंतर तथ्य को वह केवल टालता है। वास्तविकता को टालकर विचार अपना ही संस्कार बना लेता है, और फिर यह संस्कार नूतन का, अज्ञात का अनुभव होने नहीं देता है। अज्ञात के लिए विचार का एक ही प्रतिसार है—भय। विचार उसे भिन्न-भिन्न नाम दे देगा, लेकिन है वह भय ही। विचार अज्ञात पर कुछ भी असर नहीं डाल सकता, 'आन्तर एकांत' शब्द के पीछे जो 'है' उस पर कोई क्रिया नहीं कर सकता—इस सत्य को आप केवल देख लीजिए। तभी जो 'है', वह अपने-आप को खोलकर प्रकट करेगा, और वह अक्षय है।

यदि सुझा सकते हैं तो यही कहेंगे कि अब इसे यों ही अछूता छोड़ दीजिए। आपने सुन लिया है और इसे जो करना होगा, करने दीजिये। जोतने के और बोने के बाद शान्त, तटस्थ रहना ही नवीन को अंकुरित होने का अवसर देता है।

४. घृणा की प्रक्रिया

वह अध्यापिका थी, या ऐसा कहना ठीक होगा कि वह अध्यापिका रह चुकी थी। वह स्नेहशील और सहृदय थी, और यह स्वभाव जैसे नित्य की परिपाटी ही बन गयी थी। उसने कहा कि पचीस सालों से अधिक समय तक उसने पढ़ाया था और उसमें उसे समाधान था। अन्त-अन्त में वह इस काम से निकलना चाहती थी, फिर भी वह उसी में बनी रही। उसके स्वभाव में जो एक बात गहराई में दबी पड़ी थी, उसका भान हाल ही में उसे हो रहा था। एक चर्चा-सभा के समय उसने अचा-

नक ऐसा महसूस किया और इससे वह सचमुच आश्चर्यचकित और स्तब्ध हो गयी थी। वह बात उसके भीतर निश्चित रूप से थी और यह उसका अपने पर केवल मिथ्यारोप नहीं था। गत जीवन पर नजर डालने से आज उसे दीख रहा था कि वह सदैव उसके अन्दर मौजूद थी। वह वस्तुतः घृणा करती थी। यह घृणा किसी व्यक्ति विशेप के लिए नहीं थी, लेकिन एक सर्वमान्य घृणाभाव था, प्रत्येक मनुष्य तथा प्रत्येक वस्तु के लिए एक दबा हुआ शत्रुत्व था। जब सबसे पहले उसके ध्यान में यह बात आयी, तब उसे लगा कि यह एक मामूली-सी सतही बात है और बहुत आसानी से वह उसे झटककर फेंक सकती है, लेकिन ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये वैसे उसे पता चला कि यह केवल मामूली-सी बात नहीं है, किन्तु एक गहरी जड़ जमायी हुई घृणा है जो उसके सारे जीवनभर चलती रही है। उसने अपने-आप को सदा स्नेहमय और दयालु मान लिया था, यही बात उसे धक्का देने लगी थी।

प्रेम एक विलक्षण वस्तु है, जब तक विचार उसमें बुना रहेगा, तब तक वह प्रेम है ही नहीं। जब आप अपने प्रेमपात्र का विचार करते हैं, वह व्यक्ति सुखकारक संवेदन, स्मृति और प्रतिमाओं का प्रतीक बन जाता है, लेकिन यह प्रेम नहीं है। विचार संवेदन है और संवेदन प्रेम नहीं है। विचार की प्रक्रिया ही प्रेम का खण्डन है। प्रेम है ज्योति जिसमें विचार का, ईर्ष्या का, शत्रुत्व का, उपयोग बुद्धि का धुआँ नहीं होता। ये सभी भाव मानसिक हैं। जब तक चित्त पर मानसिक भाव विभावों का बोझ रहेगा, तब तक उसमें घृणा रहेगी। क्योंकि मन है घृणा। शत्रुत्व, विरोध तथा संघर्ष का व्यासपीठ। विचार प्रतिक्रिया है और प्रतिक्रिया नित्य किसी न किसी रूप में शत्रुत्व का मूल स्रोत होती है। विचार विरोध है, घृणा है, विचार सदैव स्पर्धा में रहता है। नित्य कोई हेतु, सफलता साधना चाहता है। विचार सुफलित होने का अर्थ है सुख और उसका विफलित होना है घृणा। संघर्ष आन्तर-विरोधों में फँसा विचार है, और विरोधी विचारों का समन्वय भी घृणा, शत्रुत्व ही है।

"देखिये, मैंने नित्य माना था कि मैं बच्चों पर प्यार करती हूँ, और वे बड़े हो जाने पर भी जब उन्हें कोई दिक्कत आती थी, वे मेरे पास समाधान के लिए आते थे। मेरी यह निश्चित धारणा थी कि मैं उन पर प्रेम करती हूँ, विशेप करके उन पर जो कक्षा के बाहर मुझे प्रिय लगते थे। लेकिन अब मुझे दीखता है कि घृणा का, गहरे विद्वेष का एक अन्त.प्रवाह सतत बहता रहा है। अब खुलकर सामने आयी इस बात के साथ मैं करूँ, तो क्या करूँ? आप कल्पना नहीं कर पायेंगे कि इसके कारण मैं कितनी भयभीत हो गयी हूँ। आप भले कहते होंगे कि हमें अपराधी भाव, आत्मधिक्कार का भाव नहीं रखना चाहिए, लेकिन इस बात का प्रकट होना बहुत हितकारक लगता है।"

आपने घृणा की प्रक्रिया का भी दर्शन किया है? उस कारण को देखना, आप घृणा क्यों करती हैं यह जानना अपेक्षाकृत कुछ सरल है, लेकिन आपको घृणा की विभिन्न चालों का भान हुआ है? जैसे किसी विचित्र नये प्राणी की ओर देखते हैं, वैसे आपने इसका निरीक्षण किया है?

"यह सब मेरे लिए कितना नया है, और मैंने कभी घृणा की प्रक्रिया को बारीकी से देखा ही नही है।"

तो अब हम उसका निरीक्षण करेंगे और देखें क्या होता है। घृणा अपने-आप को खोलती जायेगी तो हम तटस्थ, क्रियाशून्य होकर निरीक्षक बने रहेंगे। उसे देखकर आप स्तब्ध न होइये, उसकी टीका न करें या बचाव में नहीं जायें, केवल तटस्थता से उसका दर्शन करें। घृणा एक प्रकार की हताशा, विफलता है, है न? आकांक्षा की पूर्ति और विफलता सदा साथ ही चलते हैं।

आपकी किस विषय में दिलचस्पी है? व्यवसाय की दृष्टि से नहीं, किन्तु अन्तःकरण की गहराई में किस चीज में आपको रुचि महसूस होती है?

"मुझे हमेशा चित्रकारी करने की इच्छा रही।"

फिर आपने चित्रकारी की क्यों नहीं?

"मेरे पिताजी का आग्रह रहता था कि पैसा न लाये, ऐसा कोई काम मुझे करना नहीं चाहिए। वे बड़े आक्रामक व्यक्ति थे और उनके लिए पैसे के सिवा किसी चीज का कोई मूल्य नहीं था। उन्होंने एक भी ऐसा काम नहीं किया जिससे धन नहीं आता था, या अधिक प्रतिष्ठा और अधिकार नहीं मिलता था। 'अधिक' ही उनका इष्टदेव था और हम सब उनकी सन्तान थे। यद्यपि वे मुझे अच्छे लगते थे, किन्तु कितने ही विषयों में मैं उनके विरोध में थी। पैसे के महत्व को यह विचार मुझमें बहुत गहराई में पैठ गया था। मुझे अध्यापन शायद इसीलिए अच्छा लगता होगा कि उससे स्वामित्व जताने का अवसर मुझे प्राप्त होता था। छुट्टियों में मैं चित्रकारी करती थी, लेकिन वह अत्यन्त असमाधानकारक रही। उसके लिए अपना पूरा जीवन देने की मेरी तमन्ना थी, लेकिन प्रत्यक्ष केवल एक-दो महीने ही सालभर में दे पाती थी। अन्ततः मैंने चित्रकला छोड़ दी, लेकिन अन्तस्तल में उसकी ज्वलंत वासना उमड़ती रही। अब मैं देख रही हूँ कि इससे विद्वेष का भाव कैसा पनपता गया।"

आपने कभी विवाह किया? आपके अपने बच्चे हैं?

"मुझे एक विवाहित व्यक्ति से प्रेम हुआ और हम गुप्तरूप से साथ रहे। मैं उसकी पत्नी और बच्चों से भयंकर ईर्ष्या करती थी और मेरे बच्चे हों ऐसी तड़पन

रहते हुए भी इसकी कल्पना से डरती थी। दाम्पत्य जीवन के सारे स्वाभाविक व्यवहार, प्रति दिन का सहजीवन आदि मेरे लिए निषिद्ध थे और ईर्ष्या सर्वग्रासी उन्माद बन चुकी थी। मेरे प्रेमी को दूसरे शहर जाना पड़ा और मेरी ईर्ष्या का कभी शमन नहीं हुआ। यह असहनीय बात थी। सब कुछ भूलने के लिए मैंने अधिक तीव्रता से अध्यापन शुरू किया। लेकिन अब मैं देख रही हूँ कि अभी भी मैं ईर्ष्यालु हूँ, उस व्यक्ति की नहीं, क्योंकि उसका तो निधन हो चुका, लेकिन सुखी लोगों की, विवाहित दम्पतियों की, यशस्वी या किसी भी व्यक्ति की मैं आज भी ईर्ष्या करती हूँ। हम दोनों मिलकर जो जीवन जी सकते थे, उसका हमारे लिए निषेध था।

ईर्ष्या घृणा ही है न? यदि कोई प्रेम करता है, तो दूसरे किसी भाव के लिए अवकाश ही नहीं रहता है। लेकिन हम प्रेम करते नहीं, धुआँ हमारे जीवन को अवरुद्ध कर देता है और ज्योति बुझ जाती है।

"अब मैं देख सकती हूँ कि स्कूल में मेरी विवाहित बहनों के साथ और मेरे सभी अन्य संबंधों में मेरा संग्राम चल ही रहा था, केवल वह आच्छादित था। मैं एक आदर्श शिक्षिका बन रही थी, आदर्श अध्यापिका बनना मेरा ध्येय था और मुझे वैसी ही मान्यता मिल रही थी।"

आदर्श जितना सशक्त, जबरदस्त, दमन उतना ही गहरा, संघर्ष और शत्रुत्व का भाव उतना ही अथाह।

"जी हाँ, अभी मैं यह सब देख रही हूँ और अजीब बात है ऐसी कि स्वयं को देखते समय, मैं प्रत्यक्ष जैसी हूँ वैसी ही होने में मुझे कोई आपत्ति नहीं लग रही है।"

आपको अपनी वास्तविकता के लिए आपत्ति नहीं है, क्योंकि इसमें एक तरह की कठोर पहचान है, है न? यह पहचान ही एक तरह का मजा लाती है, ऊर्जा देती है, अपने को जानने से आनेवाला एक प्रकार का आत्मविश्वास, सत्ता का भान जागृत करती है। जैसे ईर्ष्या दुःखदायी होते हुए भी एक सुखद संवेदना देती थी, वैसे अब आपके अतीत का ज्ञान आपको एक तरह के स्वामित्व का आभास देता है और यह भी सुखद है। अब ईर्ष्या के, हताशा के या वंचित रह जाने के भाव के स्थान में एक नया अभिधान आपके हाथ आया है: वह है घृणा तथा उसका ज्ञान! इस ज्ञान में आत्मगरिमा है, जो शत्रुत्व का ही एक भिन्न रूप है। हम एक विकल्प से दूसरे की ओर मुड़ते हैं, लेकिन तत्वत: सारे विकल्प समान कोटि के ही हैं, शब्दत: वे भले ही असमान दीखें। तो आप अपने ही विचार के जाल में फँस गयी हैं, ऐसा नहीं लगता आपको?

"हाँ, लेकिन इससे दूसरा कर ही क्या सकते हैं?"

यह पूछिये नहीं, किन्तु अपने ही विचार की प्रक्रिया को देखिये। कितनी छद्मी और भ्रामक है यह! यह मुक्ति का आश्वासन देती है, लेकिन दूसरे एक संकट का, शत्रुत्व का निर्माण करती है। इसकी केवल तटस्थ निरीक्षक हो जाइये और इसके सत्य को प्रकट होने दीजिये।

"इस ईर्ष्या-द्वेष से, इस अविरत चल रहे युद्ध से क्या मुक्ति होगी भी ?"

जब आप आशा या निराशा की अपेक्षा रखती हैं तो आप अपनी ही आकांक्षा को प्रक्षेपित करती हैं, आप अपनी इच्छा की पूर्ति कर भी सकेंगी, लेकिन वह केवल और एक विकल्प होगा, और तब पुनः युद्ध चलता ही रहेगा। यह प्राप्त करने की या टालने की इच्छा विरोधों के रणक्षेत्र के अंतर्गत ही आती है, आती है न ? मिथ्या को मिथ्या के रूप में देखिये, तब सत्य स्पष्ट है, प्रकट है। आपको उसे खोजना नहीं पड़ता है। जिसे आप ढूंढ़ेंगे, वह आपको मिलेगा, लेकिन वह सत्य नहीं होगा। यह है शंकाशील मनुष्य को अपनी आशंका का प्रत्यय आने जैसा, किन्तु यह तो अपेक्षाकृत आसान है और है बुद्धिहीनता का द्योतक ही! इस संपूर्ण विचार-प्रक्रिया का और इससे मुक्त होने की आकांक्षा का भी केवल मात्र क्रियाशून्य तटस्थ अवमान रखिये।

"यह सब मेरे लिए असामान्य आविष्कार है, और आपके कहने का मुझे प्रत्यय आ रहा है। मैं आशा करती हूँ कि इस संघर्ष से परे जाने के लिए मुझे बहुत अधिक समय नहीं देना पड़ेगा। देखिये, मैं फिर से आशा करने लगी! मैं शांति-पूर्वक निरीक्षण करूँगी और देखूंगी क्या होता है।

५. प्रगति और क्रांति

वे मन्दिर में सस्वर मन्त्रपाठ कर रहे थे। वह पाषाण-शिल्प का एक स्वच्छ मन्दिर था, भव्य और काल से अछूता। कमर तक निर्वस्त्र, तीस से अधिक पुरोहित वे थे, उनका संस्कृत का उच्चारण स्पष्ट तथा परिशुद्ध था, और उस पाठ का अर्थ वे जानते थे। शब्दों की गंभीर गहराई और नाद मन्दिर की दीवारों को और स्तंभों को कंपित करते थे, और वहाँ एकत्र हुए लोग सहज प्रेरणा से शांत हो गये थे। सृष्टि रचना के, विश्व के उत्पत्ति के मंत्र गाये जा रहे थे, मनुष्य का पृथ्वीतल पर कैसे आविर्भाव हुआ इसका वर्णन उनमें था। श्रोताओं के नेत्र निमीलित हो गये थे, और उस सुस्वर पाठ से एक सुखद हिलोरा वातावरण को आलोड़ित कर रहा था।

बचपन की विरहजन्य स्मृतियाँ पौगण्डावस्था के उन दिनों के बाद उनके द्वारा की हुई प्रगति के विचार, संस्कृत शब्दों का चमत्कारपूर्ण परिणान और पाठ के स्वर पुनः पुनः सुनने से होनेवाला आनन्द—ये सभी उस कंपित वातावरण में तैर रहे थे। कुछ व्यक्ति मन्त्रोच्चार अपने से ही कर रहे थे और उनके होंठ हिल रहे थे। प्रबल भावनाओं से वातावरण प्रभावित हो रहा था, लेकिन पुरोहित अपना पाठ अविरत चला रहे थे और देवता शांत, अविचल बने हुए थे।

प्रगति की कल्पना को हम कैसे पकड़कर अपने चित्त में संजोये रखते हैं। हमें आज से अच्छी अवस्था प्राप्त होगी, हम अधिक सहृदय शांतिप्रिय, और सद्गुणी बन जायेंगे, ऐसा सोचते रहना हमें बहुत पसंद है। इस मृगमरीचिका के साथ लटके रहना हमें प्रिय है, और बहुत कम व्यक्ति हैं, जिन्हें गहरा अवमान है कि यह कुछ अन्य बनते रहने की प्रक्रिया केवल एक दिखावा है, अहं-तुष्टि-कारक कल्पित-कथा है। किसी एक दिन हम अच्छे बनेंगे ऐसा हम प्रेम से सोचते हैं, लेकिन इस बीच हम जैसे हैं वैसे ही जीते रहते हैं। प्रगति एक कैसा सान्त्वना देनेवाला शब्द है, कैसा आश्वासन देनेवाला शब्द है, इस शब्द से हम अपने-आप को सम्मोहित करते चलते हैं। जो वास्तविकता है, वह कभी स्वयं से भिन्न, अन्य बन नहीं सकती है। लोभ कभी भी निर्लोभ बन नहीं सकता, न कभी हिंसा अहिंसा में रूपान्तरित हो सकेगी। अशुद्ध लोहे से अद्भुत और जटिल इस्पात का यंत्र बना सकेंगे, लेकिन स्वयं को अन्य बनाने के संदर्भ में प्रगति एक भ्रान्ति है। 'अहं' को गौरव सम्पन्न बनाने की यह कल्पना, एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बनने की लालसा का केवल वंचना-जाल है। राज्य की सफलता का, विचार प्रणाली और 'अहं' की सफलता का हम पूजन करते हैं और अपनी प्रगति की सुखद कल्पना से अपने-आप को धोखा दे लेते हैं। विचार प्रगति कर पायेगा, कुछ अधिक बन जायेगा, अधिक परिपूर्ण साध्य की तरफ बढ़ता रहेगा या स्वयं को शांत करेगा, लेकिन जब तक विचार ग्रहण या त्याग की गति बना रहेगा, सदैव ही वह केवल एक प्रतिक्रिया होगा। प्रतिक्रिया हमेशा संघर्ष उत्पन्न करती है और संघर्ष में प्रगति का अर्थ है अधिक संभ्रम, बढ़ता शत्रुत्व।

उस व्यक्ति ने कहा कि वह एक क्रान्तिकारी है और अपने उद्देश्य के लिए, विचार-प्रणाली के लिए मरने-मारने को तैयार है। आज से बेहतर दुनिया के खातिर किसी की भी हत्या करने की उसकी तैयारी थी। आज की समाज व्यवस्था नष्ट करने से बहुत अधिक अव्यवस्था निर्माण अवश्य होगी, किन्तु इस सम्भ्रमपूर्ण अवस्था का उपयोग करके वर्गविहीन समाज की रचना हो सकेगी। एक आदर्श समाज-व्यवस्था निर्माण करने की प्रक्रिया में थोड़े या अधिक लोग मारे गये तो इसमें आपत्ति कौन सी है? आज का मानव महत्त्व का नहीं, भविष्य के मानव का मूल्य अधिक

है। वे जिस नये समाज की रचना करने जा रहे थे उसमें विषमता नहीं होगी, सबके लिए काम होगा और सर्वत्र सुख-संपदा होगी।

आपको भविष्य के लिए इतना विश्वास कैसे हो सकता है? किस आधार पर आपको कल के समाज के विषय में इतनी निश्चितता लगती है? धार्मिक लोग स्वर्ग का आश्वासन देते हैं, आप भविष्यकालीन अच्छे मानवी विश्व का वचन देते हैं। आपको अपना ग्रंथ अपने पुरोहित हैं, जैसे उन्हें उनके हैं, इसलिए आप दोनों में खास अन्तर नहीं है। लेकिन किस कारण से आपको इतना विश्वास है कि आपकी भविष्य-दर्शन की दृष्टि स्पष्ट है?

"तर्कबुद्धि के आधार पर हम एक दिशा पकड़कर चलते हैं तो अंतिम मुकाम निश्चित है। इसके अलावा हमारी भूमिका का समर्थन करनेवाला बहुत विस्तृत ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध है।"

अपने विशिष्ट संस्कारों के आधार पर हम भूतकाल का अर्थ लगाते हैं और हमारे पूर्वग्रहों के अनुकूल उसका भाष्य करते हैं। हम सबको भविष्य के लिए जितना अनिश्चय है, उतना ही आपको भी है, और इसके लिए भगवान् को धन्यवाद है। लेकिन आभासिक भविष्य की वेदी पर वर्तमान की बलि चढ़ाना निश्चित ही घोर तर्कदुष्टता है।

"आप परिवर्तन में श्रद्धा रखते हैं, या आप पूँजीवादी सुखासीन मध्यमवर्गियों के उपकरण ही हैं?"

परिवर्तन है अतीतक्रम का संशोधित सातत्य, उसे आप भले क्रान्ति कह लें, लेकिन मूलभूत क्रान्ति एक बिलकुल भिन्न प्रक्रिया है, उसका तर्कशास्त्र से या ऐतिहासिक प्रमाण से कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल सम्पूर्ण कर्म-प्रक्रिया के आकलन में ही मूलभूत क्रान्ति होती है। मात्र किसी एक विशिष्ट, आर्थिक या आदर्श-विचार-प्रणाली से संबंधित स्तर का ही कर्म नहीं, किन्तु समग्र कर्म-प्रक्रिया के अनुसंधान में क्रान्ति घटित होती है। ऐसा सम्यक् कर्म प्रतिक्रियात्मक नहीं होता। आप केवल प्रतिक्रिया को जानते हैं, विरोधी भूमिका की प्रतिक्रिया और उसकी अग्रगामी प्रतिक्रिया, जिसे आप समन्वय-भूमिका कहते हैं। समग्रता बौद्धिक समन्वय नहीं है, या ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर निकाला शाब्दिक निष्कर्ष भी नहीं है। प्रतिक्रिया के आकलन के साथ ही जो सहज आविर्भूत होती है वह है समग्रता। मन है प्रतिक्रियाओं की शृंखला, प्रतिक्रियाओं पर, कल्पनाओं पर आधारित क्रांति वस्तुत: क्रांति है ही नहीं, वह है केवल अतीत का किंचित् परिवर्तित सातत्य। आप उसे भले क्रांति कहते रहें, लेकिन प्रत्यक्ष में वह क्रान्ति है नहीं।

"आपकी दृष्टि से क्रान्ति का स्वरूप क्या है?"

कल्पनाधारित परिवर्तन क्रान्ति नहीं है, क्योंकि कल्पना स्मृति का प्रतिसाद है, जो फिर प्रतिक्रिया ही है। मूलभूत क्रान्ति, जब विचार या कल्पना महत्वशून्य हो जाने से विलीन होते हैं, तब संभव होती है। वैरभावना में से उत्पन्न हुई क्रान्ति जैसी होने का दावा करती है, वैसी वह होती ही नहीं है, वह केवल विरोधात्मक होती है, और विरोधीभाव कभी सृजनशील हो ही नहीं सकता।

"जिस तरह की क्रांति की बात आप कर रहे हैं, वह शुद्ध अमूर्त कल्पना है, आधुनिक जगत् में उसकी कोई वास्तविकता नहीं है। आप एक संदिग्ध आदर्शवादी हैं, सर्वथा अव्यवहारिक।"

इसके ठीक विपरीत, आदर्शवादी एक ऐसा व्यक्ति होता है जो कल्पना लेकर चलता है और उसका क्रांति से कोई संबंध ही नहीं होता। कल्पना फूट डालती है, विलग करती है, और विलगता छिन्नता है, विघटन है, वह क्रांति है ही नहीं। किसी विचार प्रणाली को स्वीकारनेवाला व्यक्ति विचारों से, शब्दों से संबंध रखता है, प्रत्यक्ष कृति के साथ नहीं, वह प्रत्यक्ष कृति को टालता है। विचार-प्रणाली साक्षात्कृति के मार्ग में अवरोध है।

"क्रान्ति के मार्ग में समानता आयेगी, ऐसा आपको नहीं लगता?"

कल्पनाधारित क्रान्ति कितनी ही तर्कशुद्ध और ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुरूप होगी, तो भी वह समानता ला नहीं सकती है। लोगों को विभाजित करना, यही कल्पना का कार्य होता है। मान्यता, धार्मिक हो या राजनीतिक, मनुष्य को मनुष्य के विरोध में खड़ा कर देती है। तथाकथित धर्म लोगों को विभाजित करते आये हैं, और अभी भी कर रहे हैं। संघटित आस्था, जिसे धर्म कहा जाता है, अन्य किसी भी विचार-प्रणाली के समान मनोनिर्मित है, और इसलिए अलगाव की पोषक है। आप अपनी विचार-प्रणाली को लेकर वही तो कर रहे हैं, क्या नहीं कर रहे हैं? आप भी एक कल्पना को केन्द्र बनाकर अपना समूह बना रहे हैं, जैसे धार्मिक आस्थावाले चाहते हैं, वैसे आप भी अपने समूह में प्रत्येक को शामिल करना चाहते हैं। आप अपनी पद्धति से डूबती दुनिया को बचाना चाहते हैं, वह अपने तरीके से। बेहतर दुनिया बनाने के नाम पर आप दोनों परस्पर की हत्या करते हैं, एक दूसरे का अस्तित्व मिटाते हैं। आप दोनों में से किसी को भी अच्छा विश्व बनाने में कोई रुचि नहीं है, आप अपनी कल्पना के अनुरूप विश्व को आकार देना चाहते हैं। कल्पना कैसे समानता ला सकती है?

"कल्पना की सीमा में हम सब समान हैं, केवल हमारे कार्य अवश्य भिन्न-भिन्न होंगे। पहले हम अपने विचार के प्रतिनिधि हैं, बाद में वैयक्तिक कार्यकर्ता हैं! कार्य की दृष्टि से हम विभिन्न स्तर के हैं, लेकिन विचार-प्रणाली के प्रतिनिधि के रूप में हम वैसे नहीं हैं।"

ठीक यही अन्य सभी संघटित आस्थाओं का उद्घोष है। ईश्वर की दृष्टि में हम सब समान हैं, लेकिन क्षमता में विभिन्नता है। जीवन एक है, लेकिन सामाजिक विभाजन अनिवार्य है। एक विचार-प्रणाली के स्थान पर दूसरी का विकल्प देकर आपने इस मूलभूत तथ्य को बदला नहीं है कि एक समूह या व्यक्ति दूसरे को निम्न स्तर का मानता है। वस्तुतः अस्तित्व के सभी स्तरों पर असमानता है। एक में क्षमता होती है, दूसरे में नहीं होती। एक नेतृत्व करता है, दूसरा अनुगामी होता है, एक मन्द-बुद्धि है, दूसरा संवेदनशील, जागृत, लचीला है, कोई चित्रकला में या लेखन में प्रवीण है तो कोई खुदाई में, कोई वैज्ञानिक है तो कोई मेहतर है। असमानता एक तथ्य है और कोई भी क्रान्ति इसको हटा नहीं सकती। तथाकथित क्रान्ति यदि कुछ करती है तो एक समूह के स्थान पर दूसरे समूह को स्थापित कर देती है, और वह नया समूह राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता अपने कब्जे में कर लेता है, वह फिर नया उच्चवर्ग बनता है और अपने को विशेष अधिकारों से वह शक्तिशाली बनाता है। बस, ऐसा ही चलता है। जिसका तख्ता पलट गया है, उसके सारे दाँव-पेंच इसे मालूम होते हैं। उसकी सत्ता-क्रान्ति ने विषमता तो नष्ट नहीं की है, की है कभी ?

"अन्ततोगत्वा वह करेगी। जब सारा मानवी विश्व हमारे विचार का हो जायेगा तब विचार-प्रणाली की दृष्टि से समानता आयेगी।"

जो वास्तविक समानता है ही नहीं, किन्तु केवल एक कल्पना, एक सिद्धान्त है। परलोक संबंधी एक स्वप्नमात्र है, जैसा उस धार्मिक आस्थावाले व्यक्ति का होता है। आप दोनों परस्पर के कितने अधिक निकट हैं। कल्पनाएँ फूट डालती हैं, परस्पर का विरोध करते-करते और संघर्ष उपजाते जनाते लोगों में अलगाव निर्माण करती है। कल्पना कभी समानता ला नहीं सकती, उसके अपने विचार-विश्व में भी। यदि हम सबकी एक ही समय, एक ही स्तर पर, एक ही आस्था होगी तो एक तरह की समानता आ सकती है, लेकिन यह तो असंभव बात है, व्यर्थ की निराधार कल्पना, जो मात्र संभ्रमित करेगी।

"क्या आप सारी समानता को त्याज्य बता रहे हैं ? क्या आप सभी अच्छाइयों पर श्रद्धा करनेवाले 'सिनिक्' हो गये हैं और सबके लिए समान अवसर प्राप्त कराने के सारे प्रयासों का धिक्कार करते हैं ?"

मैं सिनिक् नहीं हो रहा हूँ, किन्तु मैं केवल स्पष्ट तथ्यों का निवेदन मात्र कर रहा हूँ, मैं सबके लिए समान अवसर दिलाने का विरोधी नहीं हूँ। निश्चित ही आज की विषम स्थिति के परे जाया जा सकता है, और शायद इस असमानता की समस्या का परिणामकारी उपाय भी खोजा जा सकता है, लेकिन यह केवल तभी

होगा जब हमें वास्तविकता का, जो है, उसका आकलन होगा। वास्तविकता का आकलन असंभव है यदि हम उसकी तरफ कल्पना के साथ या निष्कर्ष अथवा स्वप्न लेकर पहुँचेंगे। पूर्वाग्रही निरीक्षण यह निरीक्षण है ही नहीं। यथार्थता यह है कि जीवन के, चेतना के सभी स्तरों पर विषमता है, और हम चाहे जो करें, यह वास्तविकता हम बदल नहीं सकते।

अब, क्या यह संभव है, कि विषमता के तथ्य की ओर हम अधिक शत्रुत्व या विभाजन निर्माण किये बिना, देख सकेंगे? क्रान्ति ने साध्य के लिए मनुष्य का साधनरूप में उपयोग किया है। साध्य महत्त्वपूर्ण था, लेकिन मनुष्य नहीं। धर्मों ने, केवल शब्दों में ही सही, लेकिन प्रतिपादित किया कि मनुष्य महत्त्व का है, किन्तु उन्होंने भी आस्था को, सिद्धान्त को सुस्थिर करने के लिए मनुष्य को उपयोग में लिया है। किसी एक उद्देश्य के लिए मनुष्य का प्रयोग करना याने निश्चितरूप से उच्च-नीचता का भाव उत्पन्न करना है, एक आंतर-वर्तुल में शामिल है, एक बाहर का है, एक ज्ञानी है, एक अज्ञानी। यह विभाजन मानसिक विषमता है और यही ऐसा घटक है जो समाज में विघटन, विभेदन लाता है। आजकल हमारे लिए परस्पर के संबंध केवल उपयुक्तता बनकर रह गये हैं। कई प्रकार के लाभ उठाने के लिए जैसे व्यक्ति-व्यक्ति एक-दूसरे का उपयोग करते हैं, वैसे समाज भी व्यक्ति का उपयोग कर लेता है। इस तरह दूसरे का उपयोग कर लेना, यही मानव विरुद्ध मानव के विभाजन का मूल कारण है।

हम साधन के रूप में एक-दूसरे का उपयोग करना तब छोड़ देते हैं, जब परस्पर संबंधों में कल्पना प्रेरक सूत्र नहीं होती। कल्पना के साथ शोषण आता है, और शोषण से शत्रुत्व जन्म लेता है।

"तो कल्पना समाप्त हो जाने पर कौन-सा घटक निर्माण होता है?"

वह है प्रेम, केवल एक ही घटक, जो मूलभूत क्रान्ति ला सकता है। प्रेम ही केवल सच्ची क्रान्ति है। लेकिन प्रेम कोई कल्पना नहीं है, जब विचार नहीं होता, तब वह उपस्थित है। प्रेम प्रचार का साधन नहीं है, वह ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका हेतुपूर्वक विकास किया जा सके और छत पर से जिसे उद्घोषित कर सकें। जब ध्वजा, विश्वास, नेता और सुनियोजित कृति के रूप में कल्पना—ये सारे मनोनिर्मित घटक विलीन हो जाते हैं, केवल तभी प्रेम आविर्भूत हो सकता है और प्रेम ही केवल सृजनशील और अविरत, अचल क्रान्ति है।

"किन्तु प्रेम यंत्र नहीं चलायेगा, क्या चला सकेगा?"

६. उकताहट

अब वर्षा रुक गयी थी; रास्ते स्वच्छ, साफ हो गये थे और वृक्षों से सारी धूल धुल चुकी थी। धरित्री फिर से ताजी हो गयी थी और तालाब में मेढक शोर मचा रहे थे, वे बड़े-बड़े थे और उनके गले खुशी से फूल गये थे। पानी की छोटी-छोटी बूँदों से घास चमक रही थी और घनघोर वर्षा के बाद पृथ्वी पर सर्वत्र शान्त वातावरण निर्माण हो गया था। पशु पूरी तरह से भीग गये थे, लेकिन वर्षा हो रही थी तब उन्होंने किसी सूखे स्थान का आश्रय नहीं लिया था। और अब वे समाधानपूर्वक चर रहे थे। रास्ते के किनारे वर्षा के कारण जो छोटा-सा स्रोत बह रहा था, उसमें कुछ बालक खेल रहे थे, वे नंगे थे और उनके चमकते शरीर और तेजस्वी आँखें देखकर अच्छा लग रहा था। अपने जीवन का सर्वोच्च आनन्द वे लूट रहे थे और कितने खुश थे वे सब। किसी अन्य वस्तु की उनको कोई पर्वाह नहीं थी, और जब उनसे कुछ कहो तो वे खुशी से मुस्कुरा उठते, भले एक शब्द भी उनकी समझ में नहीं आता था। सूर्य निकल रहा था और छायाएँ घनी गहरी थीं।

विचार मात्र से एकदम रिक्त, शून्य होना मन के लिए कितना आवश्यक है। प्रयत्नपूर्वक रिक्त करना नहीं, सहज, सतत रिक्त होते रहना बहुत आवश्यक है। विचार जाल से मर जाना, अतीत की स्मृतियों से शून्य होना, अनागत घटिका के लिए आँख मूँद लेना अत्यन्त अनिवार्य है। मृत्यु का वरण करना सरल है, सतत प्रवाहित रहना दुष्कर है, क्योंकि सातत्य का अर्थ है, रहने या न रहने के लिए प्रयत्नशील होना। प्रयास ही इच्छा है, और इच्छा तभी विलीन होती है जब मन कुछ अर्जित करने के व्यापार से निवृत्त होता है। केवल जीना कितना सरल है। लेकिन यह कुण्ठित होना नहीं है। कुछ भी अपेक्षा न करने में, कुछ न होने में, कहीं न जाने में, महान् सुख है। जब मन विचारजाल से सम्यक्रूप से मुक्त होता है, तभी नवनिर्मिति का शान्तरस प्रस्फुटित होता है। जब तक कहीं न कहीं पहुँचने के लिए मन यात्री बना रहता है, तब तक उसका स्वस्थ, शान्त होना सम्भव नहीं है। मन के लिए कहीं पहुँच जाना याने किसी ध्येय की सिद्धि पाना। यह लक्ष्य की प्राप्ति प्रयत्न के प्रथम चरण में हो या अन्तिम चरण में, उसका स्वरूप सदा एक-सा ही है। जब तक यह स्वयं के बनने-बनाने की प्रक्रिया, अपने अस्तित्व के ताने-बाने बुनते रहने की प्यास मन में बनी रहेगी, तब तक वह रिक्त हो नहीं सकता।

उस महिला ने कहा कि वह नित्य क्रियाशील रही है, कभी अपने बच्चों के साथ, कभी सामाजिक विषयों में या कभी खेलों में। लेकिन इस कार्य-प्रवणता के

पीछे सदैव ही एक तरह की तीव्र उकताहट का भाव रहा है। जीवन की नित्य परिपाटी से, सुख-दुःख से, स्तुति-निन्दा से, चापलूसी से—सभी से उसका मन ऊब उठा था। जहाँ तक अपने गत-जीवन का स्मरण वह कर सकती थी, उसमें उसने पाया कि ऊब का यह बादल मँडराता ही रहा है। उससे बचने का उसने जब-जब प्रयत्न किया, हर समय प्रत्येक नयी दिलचस्पी गहरी उकताहट और भयंकर क्लान्ति में परिवर्तित होती गयी। उसने बहुत अध्ययन किया था और सदा वह पारिवारिक उथल-पुथल का भी अनुभव किये थी, लेकिन इन सभी में यह थकानेवाला ऊब का भाव अनुस्यूत रहता आया। उसके आरोग्य के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं था, क्योंकि वह पूर्ण स्वस्थ थी।

आपकी उकताहट का क्या कारण है उसके विषय में आप क्या सोचती हैं? क्या यह किसी हताशा का या किसी मूलभूत अभिलाषा के अवरोध का परिणाम है?

"ऐसा तो खास नहीं लगता। कुछ सतही रुकावटें अवश्य आयी थीं, लेकिन उनसे मैं चिन्तित नहीं हुई। या जब उनसे मैं कभी विचलित हुई थी, तब काफी समझदारी से मैंने उनका सामना किया और उनसे मैं कभी परास्त नहीं हुई। मुझे नहीं लगता कि मेरी समस्या हताशा की है, क्योंकि मेरी इच्छाएँ हमेशा पूरी होती आयी हैं। मैंने कभी असम्भव की लालसा नहीं रखी, अपनी अपेक्षाओं में मैं समझदार रही हूँ। लेकिन फिर भी हर चीज के साथ, मेरे परिवार के साथ और मेरे कार्य के साथ यह उकताहट का भाव बना ही रहा।"

ऊब से आपका क्या मतलब है? क्या यह असमाधान का भाव है? या किसी भी चीज से अब तक आपको भरपूर समाधान मिला ही नहीं?

"एकदम ऐसा तो नहीं है। किसी भी सामान्य मनुष्य के जैसी ही मैं असंतुष्ट हूँ, लेकिन अनिवार्य असन्तोषों के साथ मैं समझौता कर सकी हूँ।"

आपको विशेष रुचि किसमें है? क्या आपके जीवन में कोई गहरी दिलचस्पी है?

"विशेषरूप से नहीं। यदि मुझे गहरी दिलचस्पी होती तो मुझे उकताहट कभी होती ही नहीं। मैं स्वभाव से उत्साही व्यक्ति हूँ, यह निश्चित ही कह सकती हूँ, और यदि मुझे किसी में कोई गहरी रुचि होती तो उसे मैं यों ही हाथ से छूटने नहीं देती। मुझे बीच-बीच में अनेक चीजों में रुचि रही है लेकिन अन्त में उन सबकी परिणति इसी ऊब के धन में होती रही है।"

आप रुचि किसे कहती हैं? रुचि से इस ऊब में परिवर्तन क्यों होता है? रुचि का क्या अर्थ है? जो चीज आपको खुश करे, संतुष्ट करे उसमें आप रुचि लेती

हैं, ठीक है न? क्या रुचि लोभ की ही एक प्रक्रिया नहीं है? जिससे आपका कोई लाभ नहीं होगा, उसमें आप रुचि लेंगी नहीं, क्या कभी लेंगी? जितने समय तक लाभ है, उतने काल तक ही आपकी दिलचस्पी टिकती है; लाभ ही दिलचस्पी है, है न? आपके सम्पर्क में आयी सभी चीजों से आपने समाधान प्राप्त करने की कोशिश की है, और उनका जब पूरी तरह से उपयोग कर लिया, तब स्वभावतः आप उनसे ऊब उठीं। प्रत्येक उपलब्धि ऊब का, थकान का ही रूप होती है। हमें खिलौनों में बदलाव चाहिए, जब एक से रुचि हट जाती है, तब हम दूसरे की ओर मुड़ते हैं, और जिसका आकर्षण लगे ऐसा कोई नया खिलौना हमेशा रहता ही है। हम प्राप्त करने की अभिलाषा से ही किसी की ओर मुड़ते हैं, इन्द्रिय-सुख, ज्ञान, कीर्ति, सत्ता, कार्यक्षमता, कुटुम्ब—इन सबमें प्राप्ति ही तो है। जब किसी एक धर्म से, किसी एक उद्धारक से लाभ की 'अधिक गुंजाइश नहीं रहती तब उससे हमारी दिलचस्पी हट जाती है, और हम दूसरे की ओर मुड़ते हैं। कुछ लोग किसी संघटन में प्रविष्ट होकर सो जाते हैं और फिर कभी जागते ही नहीं, जो जाग भी जाते हैं, वे दूसरे में प्रवेश पाकर फिर सो जाते हैं। यह स्वार्थलाभ का संचलन विचार का विस्तार, प्रगति कहलाता है।

"तो क्या दिलचस्पी हमेशा ही लोभ-केन्द्रित होती है?"

प्रत्यक्षतः, जो आपको कुछ भी न दे ऐसी किसी चीज में क्या आपको दिलचस्पी है?—फिर वह कोई खेल हो या नाटक, कोई संभाषण हो या किताब अथवा कोई व्यक्ति? किसी एक रंग-चित्र से आपको कुछ प्राप्त न होता हो, तो आप उसके सामने से लापरवाही से हट जाती हैं; कोई व्यक्ति यदि आपको किसी भी तरह से उत्तेजित या विचलित न करता हो, किसी विशिष्ट सम्बन्ध में सुख या दुःख न हो तो आपकी रुचि खो जाती है। आप ऊब जाती हैं। यह बात क्या आपके ध्यान में कभी आयी नहीं?

"जी हाँ, लेकिन इस चीज की ओर इस दृष्टि से मैंने कभी देखा ही नहीं।"

आपको यदि कोई अपेक्षा नहीं होती तो आप यहाँ नहीं आतीं। आप ऊब से मुक्ति चाहती हैं। यह मुक्ति मैं आपको दे नहीं सकूँगा, तो आप फिर ऊब जायेंगी। लेकिन यदि हम मिलकर लोभ की, रुचि की, उकताहट की प्रक्रिया को समझ सकेंगे, तो शायद यह मुक्ति प्रत्यक्ष हो जायेगी। मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। यदि आप इसे पा सकेंगी, तो जल्दी ही आप इससे ऊब जायेंगी। क्या संग्रह से मन संवेदनहीन नहीं बनता? संग्रह का लोभ भावात्मक हो या अभावात्मक वह एक बोझ ही है। वस्तु संग्रहीत होते ही, आपकी रुचि उससे हट जाती है। प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते समय आप सजग हैं, उमंग से, रुचि से भरपूर हैं। लेकिन संग्रह आपके लिए उकता-

हट साबित होता है। आप अधिक संग्रह की इच्छा करती होंगी, लेकिन 'अधिक' का अनुगमन केवल ऊब की ओर जानेवाली गति ही है। आप संग्रह के अनेक प्रकार आजमाकर देखती हैं, लेकिन जब तक प्राप्ति के लिए प्रयत्न जारी है, तब तक आप-की रुचि जाग्रत है; लेकिन सदैव ही प्राप्ति के प्रयास का अन्त आता है, इसलिए ऊब भी नित्य है। क्या यही बात नित्य घटित नहीं होती?

"मुझे लगता है कि यही घटित हुआ है, लेकिन इसका आशय पूर्णतया मेरी समझ में आया नहीं।"

यह अभी आप समझेंगी।

संग्रह मन को थका देता है। ज्ञान, सम्पत्ति या सद्‌गुण—किसी की भी प्राप्ति संवेदनशून्यता का निर्माण करती है। मन का स्वभाव ही है प्राप्त करने का, आत्मसात् करने का, है न? अथवा ऐसा कह सकते हैं कि मन ने अपने लिए यही पद्धति बना ली है कि वह सब चीजें संग्रहीत करता जाय। और इसी क्रिया के द्वारा मन अपनी थकान, ऊब निर्माण करता जाता है। रुचि, कौतूहल है संग्राहक भाव का प्रथम चरण, और शीघ्र ही यह उकताहट में परिवर्तित होता है। इस उकताहट से मुक्ति पाने की प्रेरणा एक अन्य प्रकार का संग्राहक भाव ही है। इस तरह मन उकताहट से रुचि की ओर और फिर उकताहट की दिशा में डोलता रहता है, जब तक कि वह थक कर चूर-चूर नहीं होता; और इस रुचि तथा ऊब के क्रमिक आवेगों को अस्तित्व या जीवन माना जाता है।

"लेकिन प्राप्त करने की अग्रगामी गति के बिना मनुष्य संग्रहवृत्ति से किस तरह मुक्त होगा?"

प्राप्ति की समग्र प्रक्रिया के सत्य का अनुभव करने से यह मुक्ति आयेगी, और यह असंग्रही, अनासक्त बनने का प्रयास करने से कभी नहीं आयेगी। असंग्रही होना यह संग्राहकता का एक अन्य प्रकार है जो शीघ्र थकावट बन जाता है। यदि 'कठिनाई' शब्द का उपयोग कर सकते हैं, तो वह जो कुछ कहा उसको शाब्दिक स्तर पर समझने में नहीं है, लेकिन जो मिथ्या है उसका मिथ्यात्व अनुभव करने में ही सारी कठिनाई आती है। मिथ्या में सत्य के दर्शन करना यह प्रज्ञा का प्रारंभ है। मन के लिए स्थिर होना कष्टप्रद है, क्योंकि मन सदा चिन्ताक्रान्त होता है, वह किसी न किसी के पीछे लगा रहता है, ग्रहण में या त्याग में, खोज में या उपलब्धि में व्यग्र रहता है। मन कभी स्तब्ध, शान्त नहीं होता, नित्य गतिशील रहता है। अतीत वर्तमान को आवृत करके अपना भविष्य निर्माण करता है। यह काल के अन्तर्गत गति है और विचारों के मध्य मुश्किल से कोई अन्तराल होता है। एक विचार बिना रुके दूसरे का अनुगामी होता है। मन अपने में नित्य तेजी लाता रहता है

और इसी से अपने को जीर्ण करता जाता है। यदि किसी पेंसिल को सतत छीलकर नोकदार बनाया जायेगा तो जल्दी ही उसका अन्त आयेगा, उसी तरह मन अपना अविरत उपयोग करके चूर-चूर होता है। अपने अन्तिम छोर तक पहुँचने का भय मन को नित्य रहता है। लेकिन, जीने का अर्थ है प्रतिदिन समाप्त होना। जीवन है सभी प्राप्ति के प्रति, स्मृति के, अनुभूतियों के, अतीत के प्रति मृत्यु। यदि अनुभूति संग्रहीत होगी तो जीना संभव कैसे होगा? अनुभूति है ज्ञान, स्मृति; और क्या स्मरण अनुभवन की स्थिति है? अनुभवन की अवस्था में अनुभविता के रूप में स्मरण होगा? मन की रिक्तता जीना है, सर्जन है। अनुभवन में सौन्दर्य है, अनुभूति में नहीं। कारण, अनुभूति सदा अतीत की होती है, और अतीत अनुभवन नहीं होता, वह जीवन्त नहीं होता। मन की रिक्तावस्था चित्त का उपशमन है।

७. आत्मानुशासन

हम बहुत भारी यातायात के बीच गाड़ी चलाते रहे और अब मुख्य रास्ते से मुड़कर हमने एक छायाघन गली में प्रवेश किया। मोटरकार को छोड़कर सघन लाल वृक्षों के बीच से, हरे, पके धान के खेतों के किनारे से बढ़नेवाली पगडंडी पर हम चलते रहे। गगनस्पर्शी, ऊँचे लाल वृक्षों से घिरा, वह लम्बा, घुमावदार धान का खेत कितना रमणीय था। वह शीतल संध्या थी और मन्द समीर सघन नव-पल्लवों से भरे वृक्षों को डुला रहा था। आगे, घुमाव के पार, अनपेक्षितरूप से एक सरोवर दीख पड़ा। वह लम्बा, सँकरा और गहरा था और उसके दुतरफा लालवृक्ष एक दीवार को भाँति सटकर खड़े थे। वायुलहरी जल के साथ खेल रही थी और किनारे पर उसकी चुलबुलाहट होती थी। कुछ बालक नहा रहे थे, नग्न, निःसंकोच और खुले। उनके शरीर चमकीले, सुन्दर थे, सुडौल, पतले और लचीले। सरोवर के मध्य तक वे तैरकर जाते, लौटकर आते और फिर तैरना शुरू करते थे। पगडंडी एक देहात से होकर आगे ले गयी। लौटते समय पूनम के चाँद ने घनी छाया फैलायी थी। बच्चे चले गये थे, चाँदनी जल पर उतर आयी थी और लालवृक्ष छायाघन अँधेरे की पार्श्वभूमि पर शुभ्रस्तंभ के समान लग रहे थे।

वह व्यक्ति दूर प्रदेश से आया था और मनोनिग्रह की राह खोजने के लिए उत्सुक था। उन्होंने कहा कि वे जान-बूझकर संसार से निवृत्त हो गये थे और कुछ रिश्तेदारों के साथ अत्यन्त सादगी से रह रहे थे। मन को काबू में करने के लिए ही वे अपना सारा समय व्यतीत करते थे। कई सालों तक उन्होंने विशिष्ट साधना-

हट साबित होता है। आप अधिक संग्रह की इच्छा करती होंगी, लेकिन 'अधिक' का अनुगमन केवल ऊब की ओर जानेवाली गति ही है। आप संग्रह के अनेक प्रकार आजमाकर देखती हैं, लेकिन जब तक प्राप्ति के लिए प्रयत्न जारी है, तब तक आपकी रुचि जाग्रत है; लेकिन सदैव ही प्राप्ति के प्रयास का अन्त आता है, इसलिए ऊब भी नित्य है। क्या यही बात नित्य घटित नहीं होती ?

"मुझे लगता है कि यही घटित हुआ है, लेकिन इसका आशय पूर्णतया मेरी समझ में आया नहीं।"

यह अभी आप समझेंगी।

संग्रह मन को थका देता है। ज्ञान, सम्पत्ति या सद्गुण—किसी की भी प्राप्ति संवेदनशून्यता का निर्माण करती है। मन का स्वभाव ही है प्राप्त करने का, आत्मसात् करने का, है न ? अथवा ऐसा कह सकते हैं कि मन ने अपने लिए यही पद्धति बना ली है कि वह सब चीजें संग्रहीत करता जाय। और इसी क्रिया के द्वारा मन अपनी थकान, ऊब निर्माण करता जाता है। रुचि, कौतूहल है संग्राहक भाव का प्रथम चरण, और शीघ्र ही यह उकताहट में परिवर्तित होता है। इस उकताहट से मुक्ति पाने की प्रेरणा एक अन्य प्रकार का संग्राहक भाव ही है। इस तरह मन उकताहट से रुचि को ओर और फिर उकताहट की दिशा में डोलता रहता है, जब तक कि वह थक कर चूर-चूर नहीं होता; और इस रुचि तथा ऊब के क्रमिक आवेगों को अस्तित्व या जीवन माना जाता है।

"लेकिन प्राप्त करने की अग्रगामी गति के बिना मनुष्य संग्रहवृत्ति से किस तरह मुक्त होगा ?"

प्राप्ति की समग्र प्रक्रिया के सत्य का अनुभव करने से यह मुक्ति आयेगी, और यह असंग्रही, अनासक्त बनने का प्रयास करने से कभी नहीं आयेगी। असंग्रही होना यह संग्राहकता का एक अन्य प्रकार है जो शीघ्र थकावट बन जाता है। यदि 'कठिनाई' शब्द का उपयोग कर सकते हैं, तो वह जो कुछ कहा उसको शाब्दिक स्तर पर समझने में नहीं है, लेकिन जो मिथ्या है उसका मिथ्यात्व अनुभव करने में ही सारी कठिनाई आती है। मिथ्या में सत्य के दर्शन करना यह प्रज्ञा का प्रारंभ हैं। मन के लिए स्थिर होना कष्टप्रद है, क्योंकि मन सदा चिन्ताक्रान्त होता है, वह किसी न किसी के पीछे लगा रहता है, ग्रहण में या त्याग में, खोज में या उपलब्धि में व्यग्र रहता है। मन कभी स्तब्ध, शान्त नहीं होता, नित्य गतिशील रहता है। अतीत वर्तमान को आवृत करके अपना भविष्य निर्माण करता है। यह काल के अन्तर्गत गति है और विचारों के मध्य मुश्किल से कोई अन्तराल होता है। एक विचार बिना रुके दूसरे का अनुगामी होता है। मन अपने में नित्य तेजी लाता रहता है

और इसी से अपने को जीर्ण करता जाता है। यदि किसी पेंसिल को सतत छीलकर नोकदार बनाया जायेगा तो जल्दी ही उसका अन्त आयेगा, उसी तरह मन अपना अविरत उपयोग करके चूर-चूर होता है। अपने अन्तिम छोर तक पहुँचने का भय मन को नित्य रहता है। लेकिन, जीने का अर्थ है प्रतिदिन समाप्त होना। जीवन है सभी प्राप्ति के प्रति, स्मृति के, अनुभूतियों के, अतीत के प्रति मृत्यु। यदि अनुभूति संग्रहीत होगी तो जीना संभव कैसे होगा? अनुभूति है ज्ञान, स्मृति; और क्या स्मरण अनुभवन की स्थिति है? अनुभवन की अवस्था में अनुभविता के रूप में स्मरण होगा? मन की रिक्तता जीना है, सर्जन है। अनुभवन में सौन्दर्य है, अनुभूति में नहीं। कारण, अनुभूति सदा अतीत की होती है, और अतीत अनुभवन नहीं होता, वह जीवन्त नहीं होता। मन की रिक्तावस्था चित्त का उपशमन है।

७. आत्मानुशासन

हम बहुत भारी यातायात के बीच गाड़ी चलाते रहे और अब मुख्य रास्ते से मुड़कर हमने एक छायाघन गली में प्रवेश किया। मोटरकार को छोड़कर सघन लाल वृक्षों के बीच से, हरे, पके धान के खेतों के किनारे से बढ़नेवाली पगडंडी पर हम चलते रहे। गगनस्पर्शी, ऊँचे लाल वृक्षों से घिरा, वह लम्बा, घुमावदार धान का खेत कितना रमणीय था। वह शीतल संध्या थी और मन्द समीर सघन नव-पल्लवों से भरे वृक्षों को डुला रहा था। आगे, घुमाव के पार, अनपेक्षितरूप से एक सरोवर दीख पड़ा। वह लम्बा, सँकरा और गहरा था और उसके दुतरफा लालवृक्ष एक दीवार को भांति सटकर खड़े थे। वायुलहरी जल के साथ खेल रही थी और किनारे पर उसकी चुलबुलाहट होती थी। कुछ बालक नहा रहे थे, नग्न, नि:संकोच और खुले। उनके शरीर चमकीले, सुन्दर थे, सुडौल, पतले और लचीले। सरोवर के मध्य तक वे तैरकर जाते, लौटकर आते और फिर तैरना शुरू करते थे। पगडंडी एक देहात से होकर आगे ले गयी। लौटते समय पूनम के चाँद ने घनी छाया फैलायी थी। बच्चे चले गये थे, चाँदनी जल पर उतर आयी थी और लालवृक्ष छायाघन अँधेरे की पार्श्वभूमि पर शुभ्रस्तंभ के समान लग रहे थे।

वह व्यक्ति दूर प्रदेश से आया था और मनोनिग्रह की राह खोजने के लिए उत्सुक था। उन्होंने कहा कि वे जान-बूझकर संसार से निवृत्त हो गये थे और कुछ रिश्तेदारों के साथ अत्यन्त सादगी से रह रहे थे। मन को काबू में करने के लिए ही वे अपना सारा समय व्यतीत करते थे। कई सालों तक उन्होंने विशिष्ट साधना-

भ्यास किया था, लेकिन उनका मन अब तक नियंत्रित नहीं हो पाया था। खूँटे से बँधे पशु के समान उनका मन नित्य ही छूट निकलने के लिए तैयार रहता। उन्होंने साधना के रूप में भूखसहन की थी, लेकिन उससे कुछ लाभ नहीं हुआ था। अपने आहार के सम्बन्ध में उन्होंने प्रयोग किये थे और उससे कुछ थोड़ी मदद मिली थी, लेकिन तनिक भी शान्ति उन्हें कभी प्राप्त नहीं हुई। उनका मन सतत कल्पनाचित्र उछालता रहता, पूर्वानुभव के दृश्य, संवेदन तथा प्रसंग दिखाता अथवा कल चित्त शान्त कैसे होगा इसका चिन्तन करता। लेकिन वह कल कभी आया ही नहीं और यह समग्र प्रक्रिया एक दुःस्वप्न का रूप लेती रही। बहुत विरल प्रसंगों में मन शान्त होता था लेकिन वह शान्ति शीघ्र ही स्मृति में परिवर्तित होती थी, भूतकालीन हो जाती थी।

जिसे जीतना होता है, उसे बारंबार पराजित करना पड़ता है। प्रतिस्थापन या उदात्तीकरण के समान दमन भी पराभवन का एक प्रकार है। पराभूत करने की आकांक्षा नये संघर्ष की जननी बन जाती है। विजय प्राप्त करने की, मन को शान्त करने की इच्छा आपको क्यों होती है ?

"मुझे धार्मिक विषयों में सदा रुचि रही है। मैंने अनेक धर्मों का अध्ययन किया है और उन सबका कहना है कि ईश्वर साक्षात्कार के लिए मन की स्थिरता आवश्यक है। जहाँ तक मुझे स्मरण है, मेरी यह कामना रही कि मैं ईश्वर को पाऊँ, विश्वव्यापी सौन्दर्य का, धान के खेत की, गंदे देहात की अपूर्व सुन्दरता का रहस्य समझूँ। मेरी जीवन-यात्रा उत्तम प्रकार चलती थी, मैं विदेश भी हो आया था। आगे चलकर संसार का यश मेरे लिए सुलभ था, लेकिन एक प्रातःकाल में मैं सीधा इस स्थिर शांति की खोज में निकल पड़ा। उस दिन आप इस विषय में जो कह रहे थे मैंने सुना और इसलिए आज आपके पास आया हूँ"

ईश्वर को पाने के लिए आप मन को वश में करने का प्रयास करते हैं। परन्तु मनःशान्ति का क्या ईश्वर की ओर से जानेवाला पथ है ? क्या निस्तब्ध मन के सिक्के से स्वर्गद्वार खुलेंगे ? ईश्वर, सत्य या जो भी आप कहें—उसकी ओर ले जानेवाला मार्ग आप खरीदना चाहते हैं। शाश्वत को क्या आप सद्गुणों के, संन्यास के या आत्मदमन के मोल से खरीद सकेंगे ? हमें लगता है हम कुछ क्रिया-कर्म करेंगे, सदाचारी होंगे, ब्रह्मचर्य पालन का प्रयास करेंगे, संसार से निवृत्त होंगे और तब हम अमेय को भाप सकेंगे। लेकिन यह तो मात्र सौदा हुआ, समझौता हुआ, हुआ न ? आपका 'सद्गुण' तो साध्य का केवल साधन है।

"लेकिन आत्मानुशासन मन को संयमित करने के लिए अत्यावश्यक है, अन्यथा शान्ति संभव नहीं है। अपने मन को मैंने पूरी तरह से अनुशासित नहीं किया, यह मेरा दोष है, अनुशासन का नहीं।"

आत्मानुशासन किसी साध्य का साधन है। किन्तु यह साध्य तो अज्ञात है। सत्य है अज्ञात, वह तो जाना नहीं जा सकता, यदि वह ज्ञात हो तो वह सत्य ही नहीं। यदि आपने अपरिमेय को परिमिति में बाँध लिया तो फिर वह है ही नहीं। अपना परिमाण है शब्द और शब्दसत्य नहीं है। अनुशासन है साधन; किन्तु साधन और साध्य दो असमान वस्तुएँ नहीं हैं; क्या वे कभी असमान या विषम हो सकती हैं? निश्चित ही साध्य तथा साधन दोनों एक ही हैं। साधन ही साध्य है, एकमात्र लक्ष्य है। साधन से अलग, अन्य कोई ध्येय, लक्ष्य नहीं होता। शान्ति के उद्देश्य से साधनरूप में हिंसा को स्वीकारना याने हिंसा का ही सातत्य कायम रखना। मुख्य वस्तु है साधन, साध्य महत्त्वपूर्ण नहीं है। साधन से ही साध्य का स्वरूप निश्चित होता है। साध्य साधन से दूर, भिन्न रूप में नहीं रहता।

'मैं सुनूंगा और आपका प्रश्न समझने का प्रयत्न करूँगा। जब समझ में नहीं आयेगा, मैं पूछ लूंगा।''

आप आत्मानुशासन, नियमन—इनका उपयोग करके मन:शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, चाहते हैं न? अनुशासन में किसी निश्चित पद्धति के अनुरूप चलना अभिप्रेत है; किसी लक्ष्य के समान बनने के लिए आप संयमन करते हैं। तब क्या अनुशासन, स्वरूपत: ही, हिंसा नहीं है? अपने-आप को संयमित करने में आपको सुख संवेदन, खुशी होती होगी, लेकिन क्या यह सुखाभास ही संघर्ष को वृद्धिगत करनेवाला, एक तरह का प्रतिरोध नहीं है? आत्मसंयम का अभ्यास क्या सुरक्षा का परिपोष नहीं है? और जिसे सुरक्षित करते हैं, उस पर सदा आक्रमण होता है। क्या इष्ट-प्राप्ति के लिए स्वीकृत अनुशासन में यथार्थ वास्तविकता का, जो है उसका दमन अभिप्रेत नहीं है? दमन, पर्याय और उदात्तीकरण केवल प्रयास वृद्धिगत करते हैं और संघर्ष को अधिक उत्तेजना देते हैं। किसी रोग का दमन करने में आप यशस्वी हो जायेंगे, लेकिन वह जब तक निर्मूल नहीं होगा, तब तक अनेक रूपों में वह अभिव्यक्त होता रहेगा। अनुशासन वस्तुस्थिति का दमन है, पराभव है। वह एक प्रकार की हिंसा है; इसलिए अयोग्य या विषम साधन से हम सही या योग्य साध्यप्राप्ति की आशा रखते हैं। मुक्तता या सत्य प्रतिरोध के माध्यम से कैसे आविष्कृत होगा? आरंभ में मुक्ति है, अन्त में नहीं। प्रथम चरण ही ध्येय है, साधन ही साध्य है। प्रथम चरण ही निर्मुक्त होना आवश्यक है, अन्तिम नहीं। अनुशासन सूक्ष्म या स्थूल, बाह्य अथवा आंतरिक दबाव अभिप्रेत है और जहाँ बलप्रयोग होता है, वहाँ भय है। भय या दबाव एक ऐसे साध्य के लिए साधन रूप में उपयुक्त माना जाता है—जिसका स्वरूप है प्रेम। क्या भीति में से प्रीति उत्पन्न हो सकती है? जब किसी भी स्तर पर कोई भय नहीं होता, तभी प्रेम प्रकट होता है।

"लेकिन कुछ दबाव के बिना या किसी एक प्रकार के अनुवर्तन के बिना मनोव्यापार चल ही कैसे सकेगा ?"

मन की क्रियाशीलता ही उसके स्वयं के आकलन में अवरोध है। जब मन विचाररूप में क्रियारत नहीं होता, तभी आकलन होता है, यह बात क्या आपके ध्यान में कभी आयी नहीं ? विचार-प्रक्रिया की समाप्ति होते ही समझ आविर्भूत होती है, दो विचारों के मध्य-अन्तराल में वह अनावृत होती है। आप कहते हैं कि मन निस्तब्ध होना आवश्यक है, और फिर भी उसकी क्रियाशीलता चाहते हैं। हम सरलता से अवधानपूर्वक निरीक्षण कर पायेंगे तो समझेंगे। लेकिन हमारा रुख इतना जटिल होता है कि उसी से आकलन-शक्ति अवरुद्ध हो जाती है। हमारे लिए अनुशासन, संयमन, दमन, प्रतिरोध—इनका निश्चित ही कोई महत्त्व नहीं है, हमारी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण है विचार की प्रक्रिया तथा उसका विलय। जब हम कहते हैं कि मन स्वैर विचरण करता है, तब हमारा क्या अर्थ होता है ? इतना ही कि विचार केन्द्र सतत एक आकर्षण से दूसरे की ओर, एक सहचारी कल्पना से दूसरी के पास सम्मोहित होकर घूमता है और नित्य उत्तेजित रहता है। क्या विचार के लिए पूर्ण विराम पाना संभव है ?

"यही तो मेरी समस्या है। मैं विचार को समाप्त करना चाहता हूँ। अब मैं अनुशासन की व्यर्थता समझ रहा हूँ। उसका मिथ्यात्व, मूर्खता मैं सचमुच देख रहा हूँ और अब मैं कभी उस दिशा में नही बढ़ूँगा। लेकिन मैं विचार का अन्त कैसे कर सकूँगा ?"

फिर से ध्यान दीजिये, आप पूर्वाग्रहशून्य होकर, अपने या दूसरों के निर्णय बीच में ही स्वीकृत किये बिना सुन लीजिये। समझने के लिए सुनिये, स्वीकार या तिरस्कार के लिए नहीं। आप पूछ रहे हैं कि विचार को आप कैसे समाप्त कर सकेंगे। देखिये, क्या चिंतक के रूप में आप अपने विचारों से पूर्णतया पृथक् हस्ती हैं ? क्या आप अपने विचारों से सम्यक् रूप से असमान हैं ? आप क्या अपने विचार-रूप ही नहीं हैं ? विचार विचारक को एक उच्चस्तर पर भले चढ़ा दे और उसका नामकरण करके अपने से अलग माने; लेकिन फिर भी विचार-कक्षा के अन्तर्गत ही विचारक है, है न ? वस्तुतः होता है केवल विचार ही और विचार विचारक को जन्म देता है। विचार विचारक को एक पृथक् शाश्वत हस्ती के रूप में आकार देता है। विचार देखता है कि वह स्वयं अनित्य, निरंतर गतिशील है, इसलिए वह अपने से विभिन्न, अलग शाश्वत सत्वरूप विचारक उत्पन्न करता है। तब विचारक विचार को परिचालित करता है; विचारक कहता है, "मुझे विचार का अन्त करना है।" लेकिन वस्तुतः केवल विचार, प्रक्रिया ही अस्तित्व में है, विचार से भिन्न कोई

विचारक है ही नहीं। इस सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव होना अनिवार्य है, केवल कुछ शब्द प्रयोगों का पुनरावर्तन नहीं है यह। होते हैं केवल विचार, जो विचारों का संचालन करता हो ऐसा कोई विचारक है नहीं।

"लेकिन प्रारंभ में विचार अंकुरित कैसे हुआ ?"

अवलोकन, संबंधन, संवेदन, इच्छा तथा तादात्म्य से, "मुझे चाहिए, मुझे नहीं चाहिए" इत्यादि में से। यह तो बहुत सरल है, है न? हमारी समस्या है, विचार का विलय कैसे हो? किसी भी तरह का भान या अभावपूर्वक डाला हुआ दबाव पूर्णतया व्यर्थ है, क्योंकि बल प्रयोग की प्रक्रिया में नियंत्रक अनुशासक गृहीत है, और ऐसा कोई तत्व अस्तित्व में नहीं है, यह हमने देखा है। अनुशासन या आत्मसंयमन में दोषारोपण, तुलना या समर्थन की प्रक्रिया चलती है और जब यह स्पष्ट साक्षात्कार होता है कि विचारक के रूप में जो अनुशासन लायेगा ऐसा कोई स्वतंत्र सत्व नहीं है, तब केवल विचार ही है, विचार प्रक्रिया ही है। स्मृति, अनुभूति और अतीत का प्रतिसाद ही है विचार। इस तथ्य का प्रत्यक्ष दर्शन होना आवश्यक है, शाब्दिक स्तर पर नहीं, अपितु अनुभवन के रूप में। तभी तटस्थ सजग निरीक्षण होता है, वहाँ विचारक नहीं होता' जिसमें विचार का पूर्णतया लोप होता है, ऐसी केवल समानता रहती है। अनुभव की समग्र संकलित ग्रंथि या जो सदा अतीत में ही होती है, ऐसी अहंचेतना याने चित्त—तभी शांत होता है, जब वह अपने को प्रक्षेपित नहीं करता और यह प्रक्षेपण बनते रहने की इच्छा या तृष्णा है।

जब विचार का लोप होता है, तब मन रिक्त रहता है। प्रत्येक विचार का तटस्थ अवलोकन किये बिना विचार का अन्त हो नहीं सकता। इस सचेत अवलोकन में कोई दर्शक तथा आलोचक नहीं है, निरीक्षक के बिना केवल अनुभवन रहता है। अनुभवन में न अनुभविता होता है, न अनुभूता। अनुभूत है विचार, जो विचारक को जन्म देता है। जब मन अनुभव में से गुजरता है, तब शान्ति होती है। यह शान्ति किसी तरह से जुटायी हुई स्तब्धता नहीं है। इस प्रशान्ति में ही केवल सत्य का आविष्कार होता है। सत्य कालान्तर्गत नहीं होता, न उसकी परिमिति ही हो सकती है।

८. संघर्ष-स्वतन्त्रता-आत्मीयता

"प्रमेय तथा विरोधी प्रमेय के बीच संघर्ष अटल और आवश्यक है, उसी से संश्लेषण सम्भव होता है। पुनश्च इसमें से नया प्रमेय और उसका विरोधी प्रमेय विकसित होते हैं और आगे इसी तरह क्रम चलता है। संघर्ष का अन्त नहीं आता और संघर्ष के माध्यम से ही कोई विकास, कोई प्रगति सम्भव है।"

अपनी समस्याओं का आकलन क्या संघर्ष में से विकसित होता है ? क्या उससे वृद्धि, प्रगति होती है ? उससे अवान्तर सुधार होते होंगे, किन्तु क्या संघर्ष अपने-आप में ही विघटनकारी तत्व नहीं है ? आप ऐसा आग्रह क्यों रखते हैं कि संघर्ष अनिवार्य है।

"हम सब जानते हैं कि हमारे अस्तित्व के प्रत्येक स्तर पर संघर्ष है तो उसे अमान्य या अनदेखा क्यों करें ?"

आंतर्बाह्य सतत चलनेवाले संघर्ष की ओर कोई आँख बन्द नहीं करता, किन्तु मैं यदि पूछ सकता हूँ तो, कहिये, आप उसे इतना आवश्यक क्यों समझते हैं ?"

"संघर्ष का इन्कार नहीं कर सकते, मानवी संरचना का वह एक अंग है और व्यक्ति के लिए योग्य वातावरण निर्माण करने के उद्देश्य से साधनरूप में हम उसका उपयोग करते हैं। उसी लक्ष्य की दिशा में हम कार्य करते हैं और उसे व्यवहार में लाने के लिए सभी साधनों को हम उपयोग में लाते हैं। मनुष्य-जीवन में महत्वाकांक्षा और संघर्ष प्रचलित है, और इनसे उनको लाभ या हानि पहुँचायी जा सकती है। संघर्ष द्वारा हम महान् उद्देश्य सिद्ध करते हैं।

संघर्ष से क्या आशय है आपका ? किनके बीच संघर्ष ?

"जो अब तक होता आया है और जो आगे होगा।"

"जो होगा" वह तो जो होता आया तथा जो है, उसका क्रमिक प्रतिचार है। संघर्ष से हमारा मतलब है दो परस्पर विरोधी कल्पनाओं के बीच कलह। लेकिन किसी भी रूप में विरोध क्या कभी आकलन के लिए सहायक सिद्ध होता है ? यह बताइये कि किसी भी समस्या का आकलन कब होता है ?

संघर्ष के वर्ग संघर्ष, राष्ट्रीय संघर्ष और सैद्धान्तिक विचार-संघर्ष ऐसे प्रकार होते हैं। मूलभूत ऐतिहासिक तथ्यों के अज्ञान के कारण जो प्रतिरोध या विरोध होता है, उसी का नाम है संघर्ष। विरोध के माध्यम से वृद्धि, प्रगति होती है—और यह सारी प्रक्रिया ही जीवन है।"

हम जानते हैं कि जीवन भिन्न-भिन्न स्तरों पर संघर्ष है, और उसे अमान्य करना मूर्खता है। लेकिन क्या यह संघर्ष अनिवार्य है ? अब तक हमने इसी को गृहीत माना है, अथवा निपुण तर्क-बुद्धि से इसका समर्थन भी किया है। निसर्ग में संघर्ष का स्थान, उसकी अर्थवत्ता सर्वथा भिन्न हो सकती है। लेकिन हमारे लिए संघर्ष आत्यंतिक महत्त्व का तत्त्व बन गया है। हमारे जीवन में वह इतना महत्त्वपूर्ण क्यों बना है ? स्पर्धा, महत्त्वाकांक्षा, कुछ बनने या न बनने का प्रयास, प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा इत्यादि सब संघर्ष के अंग हैं। जीवन जीने के लिए हम संघर्ष को अनिवार्य-रूप में क्यों स्वीकारते हैं ? यह पूछने का आशय ऐसा नहीं कि हम अकर्मण्यता का स्वीकार करें। किन्तु हम अपने आन्तरबाह्य जीवन में संघर्ष को क्यों सहन कर लेते हैं ? क्या समस्या के आकलन के लिए, सुलझाव के लिए, संघर्ष आवश्यक है ? खण्डन या मण्डन करने के स्थान पर क्या हमें अन्वेषण नहीं करना चाहिए ? इसके विषय में अपने निर्णय और मतों का आग्रह रखना छोड़कर क्या सत्य के शोध का प्रयास हमें नहीं करना चाहिए ?

"समाज के एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप तक की प्रगति संघर्ष के बिना कैसे हो सकेगी ? जो "साधन सम्पन्न" हैं वे कभी स्वेच्छा से अपनी संपत्ति छोड़ेंगे नहीं, उन पर जबरदस्ती ही करनी पड़ेगी। यही संघर्ष नयी समाज व्यवस्था को जन्म देगा, नयी जीवन पद्धति विकसित करेगा। शान्तिमय रहकर यह लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकेगा। हम हिंसाचारी बनना नहीं भी चाहेंगे, लेकिन वास्तविकता का सामना तो हमें करना ही होगा।"

आपने गृहीत माना है कि नया समाज कैसा होना चाहिए, यह आप ही जानते हैं, और वह दूसरा व्यक्ति नहीं जानता, केवल आपको ही यह असामान्य ज्ञान है और आपकी राह में जो बाधा डालें उन्हें निकाल फेंकने को आप तैयार हैं। यह जो आपकी पद्धति है, जि २ आप आवश्यक समझते हैं, इससे आप केवल विरोध और घृणा ही निर्माण करते हैं। आप जो जानते हैं, वह केवल एक भिन्न प्रकार का पूर्व-ग्रह है, मात्र एक भिन्न प्रकार का संस्कार है। आपके या आपके नेताओं के ऐतिहासिक अध्ययन का विवेचन विशिष्ट पार्श्वभूमि के आधार से किया जाता है और वही आपके प्रतिचार को निश्चित करती है। इस प्रतिक्रिया को आप कहते हैं नयी दृष्टि, नयी विचारधारा। विचार का प्रत्येक प्रतिचार संस्कार-जन्य होता है और विचारा-धारित या संकल्पनापेक्षी क्रान्ति करने का अर्थ है भूतकाल का रूपान्तरित सातत्य जारी रखना। आप मुख्यरूप से सुधारक हैं, सच्चे क्रान्तिकारी नहीं हैं। संकल्पना-धारित सुधार और क्रान्ति समाज में अवनतिकारक घटक होते हैं।

आप कह रहे थे, कह रहे थे न ? कि प्रमेय तथा प्रतिप्रमेय के बीच संघर्ष अनिवार्य है और विरोधी विचारों का संघर्ष संश्लेषण लाता है ?

"आज का समाज और उसका प्रतिरोधी समाज—इनके बीच का संघर्ष, ऐतिहासिक घटनाओं के दबाव इत्यादि के माध्यम से, अन्ततोगत्वा नयी समाज व्यवस्था लायेगा।"

जो विद्यमान है उससे क्या विरोधी भिन्न या असमान है? विरोधी उत्पन्न कैसे हुआ? जो है उसी का क्या वह एक रूपान्तरित प्रक्षेपण नहीं है? क्या प्रतिरोधी प्रमेय में अपने ही मूल प्रमेय के घटकद्रव्य नहीं है? पहला दूसरे से पूर्णतः विषम या असमान नहीं है, और संश्लेषण तो रूपान्तरित मूल प्रमेय ही है। कभी भिन्न रंग से मुलम्मा दिया, रूपान्तरित किया अथवा परिस्थितिवश दबाव से नवीन आकार दिया तो भी प्रमेय नित्य प्रमेय ही रहेगा। विरोधों के बीच का संघर्ष सरासर व्यर्थ तथा मूर्खतापूर्ण है। तर्कदृष्टि से या शाब्दिक स्तर पर आप कुछ भी सिद्ध या असिद्ध कर सकते हैं, लेकिन उससे कुछ सुस्पष्ट तथ्यों को बदल नहीं सकते। आज का समाज वैयक्तिक संग्रहवृत्ति पर आधारित है और इसका विरोधी अपने परिणामी संश्लेषित स्वरूप से जो बनेगा उसी को आप नया समाज कहेंगे। आपके नये समाज में वैयक्तिक लोभ वृत्ति की विरोधी राज्य की लोभवृत्ति होगी। और राज्य का अर्थ हुआ राज्यकर्त्ता। अब राज्य ही सर्वतोपरि महत्त्व का है। व्यक्ति नहीं। इस विरोधी प्रमेय में सूचित समाज से आप कहते हैं, आगे चलकर संश्लेषित रूप में जो समाज बनेगा, उसमें सारे व्यक्ति महत्त्वपूर्ण होंगे। यह भावी समाज काल्पनिक, आदर्शात्मक है। यह विचार का प्रक्षेपण है और विचार सदैव स्मृति का, संस्कारों का प्रतिचार होता है। वस्तुतः यह है एक दुष्ट-चक्र, जिससे निकलने का कोई मार्ग नहीं होता। यह संघर्ष, यह विचार के पिंजड़े में जो संग्राम है, उसे आप मानते हैं प्रगति।

"तो क्या आपका यह कहना है कि आज के समाज में जो शोषण तथा भ्रष्टाचार है, उसे सहन करते हुए हम जैसे हैं वैसे ही रहें?"

बिलकुल नहीं। लेकिन आपकी क्रान्ति तो क्रान्ति है ही नहीं, यह तो केवल राज्यसत्ता का एक समूह से दूसरे समूह में फेर-बदल है, एक वर्ग के बदले दूसरे वर्ग की सत्ता में स्थापना है। आपकी क्रान्ति तो है केवल उसी अन्तस्थ साँचे में, पुराने मसाले को ढालकर बनायी हुई भिन्न संरचना है। अवश्य ही एक आमूल क्रान्ति होती है, जो संघर्ष का रूप नहीं लेती, जो संकल्पना पर आधारित नहीं होती, क्योंकि संकल्पना में सभी अहं-केन्द्रित प्रक्षेपण, आदर्श, सिद्धान्त तथा स्वप्नरंजनात्मक दर्शन शामिल है। किन्तु जब तक हमारी विचार प्रणाली के अन्तर्गत किसी विशिष्ट परिस्थिति की अन्य परिस्थिति में परिवर्तन की, कुछ अधिक या न्यून बनने की या किसी लक्ष्य प्राप्ति की बात आ जाती है, तब तक यह मूलभूत क्रान्ति हो नहीं सकती।

"इस तरह की क्रान्ति एक असंभव बात है। क्या आप गंभीरतापूर्वक इसे प्रस्तुत करते हैं?"

यही एकमात्र क्रान्ति है, केवल मूलभूत सम्यक् परिवर्तन।

"इसे आप प्रत्यक्ष व्यवहार में किस तरह लायेंगे?"

मिथ्या का मिथ्यारूप में दर्शन करके, मिथ्या में सत्य का साक्षात्कार करके। निस्संशय, मनुष्य-मनुष्य के सम्बन्ध में मूलभूत क्रान्ति होना अत्यावश्यक है। हम सब जानते हैं कि यदि आज की परिस्थिति को हम भविष्य में ऐसे ही चलाते रहेंगे तो दुःख और संकट की भयानकता बढ़ाते जायेंगे। लेकिन तथाकथित क्रान्तिकारियों के समान सारे सुधारक भी अपने सामने कोई लक्ष्य, कोई प्राप्तव्य रखते हैं और दोनों भी अपने उद्देश्य के लिए मनुष्य का साधनरूप में उपयोग करते हैं। किसी हेतु के लिए मनुष्य का उपयोग करना यही महत्त्व का मुद्दा है, किसी लक्ष्य की प्राप्ति महत्त्व की बात नहीं है। साध्य को साधन से कोई पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि वे दोनों मिलकर एकात्म, अभिन्न प्रक्रिया है। साधन ही साध्य है; वर्ग संघर्ष के माध्यम से वर्गविहीन समाज निर्माण हो ही नहीं सकता। सदोष साधन से तथाकथित उचित लक्ष्य प्राप्त करने के परिणाम बहुत स्पष्ट हैं। युद्ध के द्वारा या युद्ध के लिए तैयार रहने से शान्ति स्थापना नहीं हो सकती। सभी विरोध स्वयं-प्रक्षेपित होते हैं। आदर्श है वास्तविकता की एक प्रतिक्रिया और आदर्श प्राप्ति के लिए किया गया संघर्ष विचार के पिंजड़े में चलनेवाला एक व्यर्थ तथा भ्रामक परिश्रम है। इस संघर्ष के द्वारा मानव की मुक्ति या स्वतंत्रता नहीं पायी जाती। स्वतंत्रता के बिना सुख नहीं, और स्वातंत्र्य कोई आदर्श नहीं है। स्वतंत्रता के लिए स्वतंत्रता ही साधन है।

जब तक मनुष्य का मानसिक या शारीरिक उपयोग किया जाता है, फिर वह भगवान के नाम से हो या राज्य के, तब तक समाज हिंसा पर ही आधृत रहेगा। किसी उद्दिष्ट के लिए मनुष्य को उपयोग करने की चाल राजनीतिज्ञ तथा धर्मगुरु चलाते आये हैं और इससे पारस्परिक सम्बन्धों का इन्कार हुआ है।

"इससे आपका क्या अर्थ है?"

जब हम पारस्परिक तुष्टि के लिए एक-दूसरे का उपयोग करते हैं, तब क्या हमारे बीच कोई सम्बन्ध निर्माण हो सकता है? अपने सुख-चैन के लिए आपने किसी का उपयोग किया—जैसा किसी मेज-कुर्सी का करते हैं—तो क्या उस व्यक्ति के साथ आप मनुष्य के नाते संबंधित होते हैं? आप कभी फर्नीचर के साथ सम्बन्ध में जुड़ते हैं? वह आपका है, ऐसा आप कह सकते हैं, बस! इतना ही। किन्तु उससे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। वैसे ही, आप अपने मानसिक या शारीरिक, स्वार्थ

या आवश्यकता के लिए किसी का उपयोग करेंगे तो सामान्यत: आप उसे 'अपना' कहेंगे, उस स्त्री या पुरुष पर अपनी मालकियत जमायेंगे और मालकियत कभी सम्बन्ध जोड़ सकती है ? राज्य व्यक्ति का उपयोग करता है और उसे नागरिक कहता है; लेकिन उसका व्यक्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वह केवल एक उपकरण के रूप में व्यक्ति का उपयोग करता है। उपकरण मृत वस्तु है, और मृत वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। हमारा उद्देश्य चाहे जितना उदात्त, महान् होगा, किन्तु किसी उद्देश्य के लिए जब हम मनुष्य का उपयोग करते हैं, तो हम चाहते हैं कि वह केवल एक साधन, एक मृतवस्तु रहे। हम किसी जीवन्त वस्तु का उपयोग नहीं कर सकते, इसलिए हमारी माँग मृत वस्तु की होती है। हमारा समाज मृत वस्तुओं के उपयोग पर आधृत है। किसी का उपयोग करने से वह व्यक्ति अपनी भोगतृप्ति का साधन बन जाता है। सम्बन्ध केवल जीवन्त व्यक्तियों के बीच हो सकता है। उपयोगिता पृथकता की प्रक्रिया है। यह अलगाव की प्रक्रिया ही मनुष्य और मनुष्य के बीच संघर्ष को, शत्रुत्व को जन्म देती है।

"आप परस्पर सम्बद्धता पर इतना बल क्यों देते हैं ?"

अस्तित्व का अर्थ ही है सम्बद्धता; होना ही सम्बन्धन है। सम्बद्धता ही समाज है। आज के अपने समाज की रचना परस्पर उपयोग पर आधृत होने से वह हिंसा, विनाश तथा दुःख का निर्माण करती है और तथाकथित क्रान्तिकारी राज्य यदि इस उपयोग-प्रधान व्यवहार को मूलत: परिवर्तित नहीं करता तो वह केवल, शायद भिन्न स्तर पर, लेकिन, अधिक संघर्ष, संभ्रम और शत्रुत्व निर्माण किये बिना रहेगा नहीं। जब तक हमें मानसिक दृष्टि से एक-दूसरे की आवश्यकता तथा उपयुक्तता महसूस होगी, तब तक सम्बद्धता आ नहीं सकती। सम्बन्धन है संवादिता, लेकिन जहाँ शोषण है वहाँ संवादिता कैसे हो सकती है ? शोषण में भीति अन्तर्निहित है, और भीति अनिवार्य रूप से सब तरह की भ्रान्ति तथा दुःख में परिणत होती है। शोषण में ही केवल संघर्ष रहता है, सम्बन्धित होने में नहीं। अपने में संघर्ष, विरोध, शत्रुत्व तब होता है, जब अपने इन्द्रियसुख के लिए, लाभ के लिए दूसरे का उपयोग साधनरूप में हम करते हैं। यदि स्वयं-प्रक्षेपित आदर्श के लिए संघर्ष का उपयोग हम करते रहेंगे तो वह कभी सुलझ नहीं सकता। सारे स्वप्निल लक्ष्य, सभी आदर्श स्वयं-प्रक्षेपित होते हैं। इसका स्पष्ट दर्शन करना आवश्यक है, क्योंकि तभी इस सत्य का हम अनुभव करेंगे कि किसी भी प्रकार का संघर्ष हो, वह सम्बन्ध का, समझ का विनाश करता है। जब मन शान्त होता है, तभी समझ संभव है। जब मन किसी आदर्शवादी विचार पद्धति में, सिद्धान्त में या विश्वास में उलझता है, तब वह शान्त नहीं होता। यदि वह अपने ही अनुभव के, स्मृति के ताने-बाने में बद्ध होता है, तो भी निस्पंद नहीं होता। मन कभी स्वस्थ, शान्त हो नहीं सकता, यदि वह

कुछ पाने में या कोई बन जाने में व्यग्र रहता है। सब तरह का लोभ संघर्ष है, बनते रहने की सारी प्रेरणा अलगाव की प्रक्रिया है। जब मन अनुशासित, नियंत्रित या कुण्ठित किया जाता है, तब वह शान्त नहीं रहता। ऐसा मन मृत यन्त्र है, वह भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रतिरोध के द्वारा अपने को पृथक् रखता है, और तब अनिवार्यरूप से अपने लिए तथा अन्य लोगों के लिए दुःख-संताप निर्माण करता है।

जब अपनी ही क्रियात्मकता के जाल में याने विचारचक्र में मन बन्दी नहीं बनता, तभी वह शान्त होता है। जब कृत्रिमरूप से नहीं, किन्तु सहजता से, मन निस्तब्ध होता है, तब एक विशुद्ध तत्व आविर्भूत होता है—वह है प्रेम।

९. प्रयास

वर्षा का आगमन सौम्यरूप में हुआ, किन्तु देखते-देखते मानो स्वर्ग के द्वार पूर्णरूप से खुल गये और सर्वत्र धरती जलमय हो गयी। रास्ते पर पानी घुटने तक चढ़ आया और पादचारी-पटरी पर भी बढ़ता गया। वृक्षों के पल्लवों में हलचल नहीं थी, वे भी आश्चर्य से स्तब्ध से थे। एक मोटरकार नजदीक से आगे निकली और तुरन्त रुक गयी, उसके मर्मस्थानों में पानी भर गया था। लोग पानी में मुश्किल से चलकर रास्ता पार कर रहे थे, पूरी तरह से वे भीग चुके थे, लेकिन इस मूसलाधार वर्षा से वे खुश हो रहे थे। बगीचे की क्यारियाँ धुल गयी थीं और हरियाली कई इंच कीचड़ के पानी में डूबी थी। एक गहरा-नीला पंछी अपने बादामी पंखों को ले घने पल्लवों के बीच आश्रय खोज रहा था, किन्तु वह भीगता ही गया और अपने को बार-बार झंझोड़ता रहा। कुछ समय तक यह घनघोर वर्षा होती रही और फिर जितनी अकस्मात् वह शुरू हुई थी उतनी ही एकायक वह थम गयी। सृष्टि के अंग-अंग सुस्नात, स्वच्छ हो गये।

निर्दोष होना कितना सरल है। निर्दोषता के बिना सुखी होना असंभव है। संवेदनों की सुखानुभूति निर्दोषता के आनन्द जैसी हो नहीं सकती। अनुभूति के बोझ से विमुक्त रहना निर्दोषता है। अनुभूति की स्मृति ही भ्रष्ट करती है, स्वयं अनुभवन नहीं। ज्ञान का याने अतीत का बोझ ही भ्रष्टता है। संग्रह करने की शक्ति; कुछ बनने की चेष्टा, निर्दोषता को नष्ट करते हैं, और निर्दोषता के बिना प्रज्ञा कैसे आ सकती है? जो केवल कुतूहल से भरे हैं, उन्हें प्रज्ञा का परिचय कैसे होगा? उन्हें मिलेगा अवश्य, किन्तु जिसे वे पायेंगे वह सत्य नहीं होगा। संशयात्माओं के लिए

कभी सच्चे सुख का परिचय पाना संभव नहीं है, क्योंकि उनकी संशयग्रस्तता अपनी स्वयं की चिन्ताक्रान्त अवस्था ही है और भय से जन्म लेती है भ्रष्टता। निर्भयता का अर्थ साहस नहीं है, अपितु वह है संग्रह वृत्ति से मुक्ति।

"संसार में निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मैंने प्रयत्न की पराकाष्ठा की है; और धनार्जन में बहुत यशस्वी हो चुका हूँ। उस दिशा में किये प्रयत्नों के कारण, मैं जो चाहता था वह मुझे प्राप्त हुआ है। अपने पारिवारिक जीवन को भी सुखी बनाने का मैंने भरसक प्रयास किया है, किन्तु, आप जानते ही हैं कि इस सन्दर्भ में मनुष्य की क्या स्थिति होती है। कौटुम्बिक जीवन में धन कमाने या फैक्ट्री चलाने जैसी बात नहीं होती। व्यापार आदि में मनुष्यों से वास्ता अवश्य पड़ता है, किन्तु वह तो एक भिन्न स्तर की कथा है। घर में छोटी-छोटी बातों को लेकर भी कितनी बकझक होती है, और इस विषय में कुछ प्रयत्न करें तो बात अधिक ही बिगड़ती है। मैं शिकायत नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि वैसा मेरा स्वभाव नहीं है। किन्तु विवाह पद्धति ही सर्वथा दोषपूर्ण है। परस्पर के विषय में कुछ भी जाने बिना हम अपनी कामवासना का समाधान करने के लिए विवाह कर बैठते हैं और हम भले ही एक घर में रहते हों और प्रसंगवश विचारपूर्वक सन्तान को जन्म देते हों, किन्तु एक-दूसरे के लिए हम पराये ही बने रहते हैं, और फिर केवल विवाहित लोग ही जानते हैं, ऐसा एक तनाव नित्य रहता है। अपना जो कर्तव्य मैं मानता था उसे मैंने पूरा किया है, किन्तु सौम्य शब्दों में कहना हो तो, उसका अच्छा परिणाम नहीं निकला है। हम दोनों भी अधिकार चलानेवाले और आक्रामक वृत्ति के व्यक्ति हैं, और इसलिए साथ चलना आसान नहीं है। सहयोग के लिए हमने जो प्रयास किये, उनके कारण हमारे बीच गहरा साथीपन का भाव विकसित नहीं हुआ। मैं मानसशास्त्रीय विषयों में पर्याप्त रुचि रखता हूँ, किन्तु इससे कोई लाभ नहीं हुआ। और इस समस्या में मैं बहुत गहराई में उतरना चाहता हूँ।"

सूर्य अब निकल आया था, पक्षी बोल रहे थे और तूफान के बाद आसमान साफ नीला नजर आ रहा था।

प्रयास से आपका क्या तात्पर्य है?

"किसी चीज के लिए प्रयत्नशील रहना। धन और प्रतिष्ठा के लिए मैंने प्रयत्न किया है और उन दोनों क्षेत्रों में मैंने विजय पायी है। सुखी पारिवारिक जीवन के लिए भी मैंने प्रयत्न किया किन्तु इसमें मुझे अधिक सफलता नहीं मिली। तभी मैं अधिक गहरे उतरना चाहता हूँ।"

दृष्टि के सम्मुख कुछ ध्येय रखकर हम प्रयत्न करते हैं, किसी प्राप्तव्य के पीछे लगे रहते हैं। हम कुछ बनने या न बनने के लिए सतत प्रयत्नशील होते हैं। किसी

तरह से सुरक्षित होने के लिए सतत हमारा उद्यम चलता रहता है, किसी लक्ष्य की दिशा में या उससे विपरीत हम चरण बढ़ाते हैं। वस्तुतः प्रयत्न का अर्थ है प्राप्तव्य के लिए एक अन्तहीन युद्ध। है न?

"प्राप्त करने में क्या गलत है?"

अभी हम उस विषय में सोचेंगे। लेकिन जिसे हम प्रयत्न कहते हैं, वह है अलग-अलग दिशाओं में पहुँचने के लिए, प्राप्तव्य के लिए चलायी नित्य प्रवास की प्रक्रिया। एक प्रकार की प्राप्ति से थककर हम दूसरी की ओर मुड़ते हैं, और जब हम उसे पा लेते हैं तब पुनश्च अन्य किसी वस्तु की ओर बढ़ते हैं। प्रयत्न एक संचय की प्रक्रिया है, जिसका आश्रय लेकर ज्ञान, अनुभव, कार्यक्षमता, सद्गुण, स्वामित्व, सत्ता इत्यादि का अर्जन किया जाता है। प्रयत्न का अर्थ है निरन्तर बनते रहना, विस्तार पाना, वृद्धिगत होना। किसी उचित या अनुचित लक्ष्य की ओर की हुई यात्रा निश्चित रूप से संघर्ष को निमंत्रित करती है; संघर्ष है शत्रुत्व, विरोध, प्रतिरोध। क्या वह आवश्यक है?"

"किसके लिए आवश्यक?"

उसी की हम खोज करेंगे। शारीरिक स्तर पर प्रयत्न आवश्यक हो भी सकता है; पुल बाँधने के लिए पेट्रोलियम, कोयला इत्यादि निकालने के लिए प्रयत्न उपकारक होगा, या हो भी सकेगा; लेकिन काम कैसे होता है, चीजों का उत्पादन किस तरह होता है या उनका वितरण कैसे किया जाता है, मुनाफा बाँटने का आधार तत्व कौन-सा है—यह बिलकुल भिन्न मुद्दा है। यदि शारीरिक स्तर पर मनुष्य का किसी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उपयोग किया जाता है, निजी स्वार्थ के लिए या राज्य की ओर से; तब इसमें निहित प्रयत्न के द्वारा उलझन और दुःख का निर्माण होता है। व्यक्ति के लिए, राज्य या किसी धार्मिक संघटन के लिए कुछ प्राप्त करने का प्रयास जब होता है, तब वह निश्चित ही विरोध उपजाता है। इस तरह स्वार्थसाधन के लिए किये प्रयास को समझेंगे नहीं तो शारीरिक स्तर के सभी प्रयत्न अनिवार्य रूप से समाज के लिए अनर्थकारी सिद्ध होते हैं।

मानसिक भूमिका पर—याने कुछ बनने, प्राप्त करने या यशस्वी होने के लिए किये प्रयास क्या आवश्यक अथवा उपकारक होते हैं?

"यदि इस तरह का प्रयत्न नहीं करेंगे तो क्या हम एकदम विगलित, क्षीणप्राय नहीं हो जायेंगे? विच्छिन्न होकर नष्ट नहीं होंगे?"

क्या सचमुच ऐसा होगा? अब तक मानसिक स्तर के प्रयत्न के द्वारा हमने क्या निर्मित किया है?

"बहुत कुछ नहीं, यह मुझे मान्य है। मुझे लगता है कि अब तक का प्रयत्न गलत दिशा में होता रहा है। दिशा का महत्त्व है, और सही दिशा में चला प्रयत्न

सर्वाधिक महत्त्व का है। सुयोग्य प्रयास न होने के कारण हम इस दुरवस्था में फँसे हैं।"

तो आप कहते हैं कि प्रयत्न योग्य और अयोग्य भी होते हैं, ऐसा ही न? हमें शब्दच्छल नहीं करना चाहिए, लेकिन यह बताइये कि आप योग्य और अयोग्य प्रयत्नों में अन्तर कैसा करते हैं? किस निष्कर्ष के आधार पर आप निर्णय करते हैं? आपका मापदण्ड कौन-सा है? क्या आप परंपरा को प्रमाण मानते हैं अथवा कोई भावी आदर्श है जिसे व्यवहार में प्रत्यक्ष उतारना है?

"प्रत्यक्ष परिणाम ही मेरा निकष निश्चित करता है। साक्षात् परिणाम महत्त्व का है, लक्ष्य के आकर्षण के बिना हम प्रयत्न में प्रवृत्त ही नहीं होंगे।"

यदि परिणाम को आप मापदण्ड मानते हैं, तो आप साधन का निश्चितरूप से कोई विचार नहीं करते होंगे, या करते हैं?

"लक्ष्य के स्वरूप के अनुकूल साधन मैं उपयुक्त समझूंगा। यदि सुख हमारा लक्ष्य है, तो सुखस्वरूप साधन खोजना होगा।"

जो साधन सुखस्वरूप होगा, क्या वही सुखदायी साध्य नहीं होगा? लक्ष्य साधन में अन्तर्निहित है, है न? तब रहा केवल साधन ही। साधन ही साध्य है, परिणाम है।

"मैंने अब तक इस दृष्टि से इस विषय की ओर देखा ही नहीं, लेकिन अब मुझे दीखता है कि ऐसा ही है।"

हम सुखदायक साधन के विषय में खोजबीन कर रहे थे। यदि प्रयत्न के कारण संघर्ष, आंतर्बाह्य विरोध पनपता हो तो क्या वह सुख की तरफ ले जा सकेगा? यदि साध्य साधन में निहित है, तो संघर्ष तथा शत्रुत्व के द्वारा सुख-प्राप्ति कैसे होगी? यदि प्रयास से समस्याएँ और संघर्ष अधिक ही बढ़ेंगे तो निश्चितरूप से वह विनाशकारी है, उससे विच्छिन्नता ही आयेगी। और हम प्रयास क्यों करते हैं? क्या अधिक प्राप्त करने, प्रगति करने या अधिक कुछ बनने के लिए ही हम प्रयत्नशील नहीं होते हैं? अधिक प्राप्त करने के लिए हम एक दिशा में चलते और कम करने की प्रेरणा से दूसरी दिशा में प्रयास करते हैं। प्रयत्न का अर्थ है अपने लिए या समूह के लिए कुछ प्राप्त करना, ऐसा ही है न?

"जी हाँ, ऐसा ही है। अपने लिए प्राप्त करने का यही अर्थ है कि दूसरे स्तर पर राज्य या धर्म संस्था के लिए संग्रह का लोभ रखना।"

प्रयत्न ही लोभ है, फिर वह भावात्मक या अभावात्मक। तब हम किस वस्तु को प्राप्त कर रहे हैं? एक स्तर पर हम शारीरिक आवश्यकताओं का अर्जन कर रहे हैं; और दूसरे स्तर पर इन्हीं का साधनरूप में उपयोग करके अहंप्रतिष्ठा बढ़ाते रहते हैं। अथवा कम से कम आवश्यकताओं में संतुष्ट रहकर हम सत्ता, पद तथा कीर्ति अर्जित करते हैं। राज्यकर्त्ता, राज्य के प्रतिनिधि बाह्यतः सादा

जीवन व्यतीत कर लें, कम चीजों का स्वामित्व रखें, किन्तु उन्होंने ही सत्ता प्राप्त कर ली है, और इस प्रकार वे प्रतिकार करते हैं, अधिकार जमा लेते हैं।

"क्या सभी प्रकार का अर्जन हानिकारक है, ऐसा आप सोचते हैं!"

देख लेते हैं। मूलभूत शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से सुरक्षा व्यवस्था करना एक बात है, और संग्रह-वृत्ति रखना दूसरी बात है। वंश, देश या भगवान के नाम से अथवा व्यक्ति के नाम से जो संग्रह-वृत्ति समाज में प्रचलित है, वही मनुष्य के सुख-स्वास्थ्य के लिए जो शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का समीचीन तथा कार्यक्षम संघटन बनना आवश्यक है, उसका विनाश करता है।

यह बात एकदम सरल और स्पष्ट है कि हम सबके लिए पर्याप्त अन्न-वस्त्र और गृह व्यवस्था होनी चाहिए। तब इन वस्तुओं के अतिरिक्त ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं?

सत्ता प्राप्ति के लिए कुछ सामाजिक और मानसिक कामना-तृप्ति की दृष्टि रखकर अथवा स्वतन्त्रतापूर्वक मनोनुकुल काम करने के लिए मनुष्य साधनभूत सम्पत्ति का उपार्जन करता है। कोई प्रयत्नपूर्वक अनेक क्षेत्रों में अधिकार प्राप्ति के लिए सम्पत्ति और प्रतिष्ठा का अर्जन करता है; और इस तरह बाह्य जीवन में सफलता प्राप्त होने पर अब वह मनुष्य आन्तरिक जीवन में सफलता प्राप्त करना चाहता है, जैसा कि आप कह रहे हैं।

अब यह बताइये, सत्ता का हम क्या अर्थ करते हैं। सत्ता सम्पन्न होने का अर्थ है—अधिकार जमाना, पराभूत करना, दमन करना, श्रेष्ठत्व महसूस करना, कार्यक्षम होना—इत्यादि। जाने या अनजाने सांसारिक मनुष्य के साथ तपस्वी व्यक्ति भी इस तरह की अधिसत्ता की वासना रखता है और उसके लिए आयास करता है। अहंता की सम्यक् अभिव्यक्तियों में से एक यह बलसम्पन्न होने का भाव है; फिर यह बल ज्ञान का हो या आत्म नियंत्रण का हो, ऐहिक सत्ता का हो या तपस्या का हो। यह शक्ति का, अधिसत्ता का भान विलक्षण संतोषदायक होता है। आप सत्ता के द्वारा आत्म-तृप्ति चाहते हैं फिर कोई शराब, कोई पूजा, कोई ज्ञान या अन्य कोई सदाचारी बनने की चेष्टा करते हैं। इनमें से प्रत्येक का स्वतन्त्र समाजशास्त्रीय और मानसशास्त्रीय प्रभाव हो सकता है, लेकिन सभी स्वार्थार्जन आखिर अहं तुष्टि ही है। तुष्टि, किसी भी स्तर की तृप्ति, संवेदन ही है, है न। अधिकाधिक या सूक्ष्म प्रकार के संवेदन अर्जित करने के लिए हम प्रयास करते रहते हैं। इस संवेदन को कभी हम कहते हैं अनुभव, कभी कहते हैं प्रेम, कभी मानते हैं ज्ञान, तो कभी उसे ईश्वर या सत्य की खोज का नाम देते हैं; इनके सिवा सद्गुणी होने का एक संवेदन होता है या फिर किसी आदर्शवादी विचारप्रणाली के प्रतिनिधि होने

का। प्रयत्न का अर्थ है कामनातुष्टि पाना, जो संवेदन ही है। आपने एक स्तर पर यह तुष्टि प्राप्त की और अब दूसरे स्तर पर उसे प्राप्त करना चाहते हैं। आपको वह प्राप्त होने पर उससे अन्य स्तर की ओर आप मुड़ेंगे और ऐसे ही चलते रहेंगे। यह तुष्टि की सतत कामना, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर संवेदन के प्रकारों की वासना करते रहना—यही प्रगति कहलाती है। लेकिन यह तो हुआ निरन्तर संघर्ष ही। नित्य वर्धिष्णु कामना तुष्टि की खोज अन्तहीन है। इसलिए संघर्ष तथा शत्रुत्व का भी कोई अन्त नहीं है, और इसी से सुख नहीं मिलता है।

"आपका मुद्दा मैं समझ रहा हूँ। आप कह रहे हैं कि किसी भी रूप में तुष्टि की खोज वस्तुतः दुःख की ही खोज है। आत्मतुष्टि का प्रयत्न याने अन्तहीन वेदना। किन्तु फिर मनुष्य करे भी तो क्या करे? क्या तुष्टि के पीछे भागना छोड़कर केवल जड़वत् निष्क्रिय होकर बैठे।"

यदि कामनातुष्टि की चाह न हो तो क्या निष्क्रिय जड़ता अनिवार्य है? क्या अक्रोध की स्थिति निश्चितरूप से मृतप्राय स्थिति होगी? अवश्य ही किसी भी स्तर की कामनातृप्ति केवल संवेदन है। संवेदन अधिक परिष्कृत बनाने का अर्थ हुआ शब्द को परिष्कृत करना। शब्द, पद, प्रतीक या प्रतिमा हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं, करते हैं न? हम प्रत्यक्ष स्पर्श या शरीर निकटता के समाधान की आकांक्षा भले न रखते हों किन्तु हमारे लिए शब्द, प्रतिमा बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। एक स्तर पर हम स्थूल साधन के द्वारा तुष्टि पाते हैं, और अन्य स्तर पर अधिक सूक्ष्म तथा परिष्कृत साधनों का सहारा लेते हैं; लेकिन जिस उद्देश्य के लिए हम वस्तुओं को संग्रहीत करते हैं, उसी हेतु की सिद्धि के खातिर हम शब्द संग्रह भी करते हैं, करते हैं न? हम किसलिए संग्रह करते हैं?

"ओह! मुझे लगता है कि हममें इतना असमाधान होता है, हम अपने से ही इतने ऊबे हुए रहते हैं कि अपने स्वयं के छिछलेपन से दूर भागने के लिए हम कुछ भी कर सकते हैं, यह सचमुच ऐसा ही है। और अभी मेरे मन में यह बात एकदम स्पष्ट रूप से आ रही है कि मैं ठीक इसी आस्था में हूँ। यह कुछ विलक्षण बात है।

हमारे अपने खालीपन पर आवरण डालने के लिए साधन रूप में हमारे संग्रह काम आते हैं। हमारे मन खोखले ढोलक जैसे हैं, जो सहज आने-जानेवालों के हाथों से आघात पाकर नित्य बजते ही रहते हैं। कभी भी समाधान न देनेवाले बचावों के संघर्ष और नित्य बढ़ते दुःख—यही तो है हमारा जीवन। कितनी विचित्र बात है यह कि हम कभी अकेले होते ही नहीं, कभी भी निपट अकेले नहीं होते। हम सदा किसी न किसी के साथ होते हैं—कोई समस्या, कोई किताब, कोई व्यक्ति हमें साथ चाहिए; और जब हम अकेले होते भी हैं, हमारे विचार तब हमारे साथ रहते हैं। पूर्णरूप से

अकेले, अनावृत्त होना अत्यन्त आवश्यक है। सारे पलायन, सभी संग्रह, कुछ बनने या न बनने के सभी प्रयास एकदम समाप्त हो जाने चाहिए, और तभी केवल वह अकेलापन आविर्भूत हो सकता है, जो उस अपरिमित को, अद्वितीय को धारण कर सकता है।

"पलायन से कोई किस तरह निवृत्त हो सकता है?"

सारे पलायन केवल दुःख और भ्रान्ति की ओर ही ले चलते हैं—इस सत्य का दर्शन करके। सत्य मुक्ति लाता है, उसके लिए आप स्वयं कुछ नहीं कर सकते। पलायन को रोकने के लिए आप जो कुछ भी करेंगे, उस प्रत्येक कर्म से अन्य पलायन का मार्ग खुल जाता है। अकर्मण्यावस्था की सर्वोच्चता ही सत्य की कर्मावस्था है।

१०. भक्ति और पूजा

एक माता अपने बच्चे को पीट रही थी और उसका दुःखपूर्ण आक्रोश चल रहा था। माँ बहुत क्रुद्ध थी और मारते समय कठोर शब्दों में बोल भी रही थी। कुछ समय बाद जब हम लौटे तब वह बच्चे को बड़े प्यार से दुलार रही थी। मानो बच्चे के प्राण निकल जायेंगे, इतनी उत्कटता से उसका आलिंगन कर रही थी। उसके आँखों में आँसू थे। बालक कुध बौखलाया हुआ चकित-सा था, लेकिन वह माँ की ओर देखकर मुस्कुरा रहा था।

प्रेम एक विलक्षण वस्तु है, और कितनी आसानी से उष्माभरी उसकी लौ हम खो देते हैं। ज्योति विलीन हो जाती है और धुआँ रह जाता है। धुआँ हमारे हृदय और मन को व्याप्त कर देता है। फिर अश्रु और कटुता में हमारे दिन बीतते हैं। गीत भुलाया जाता है, और शब्दों के अर्थ गँवाये जाते हैं, सुगन्ध उड़ जाती है और हमारे हाथ खाली रह जाते हैं। धुएँ से मुक्त ज्योति को सुरक्षित कैसे रखें, यह हम कभी जानते नहीं, और धुआँ हमेशा ज्योति का गला घोंट देता है। किन्तु प्रेम कभी मन का होता नहीं, विचार के जाल में वह अटकता नहीं। उसका पीछा नहीं किया जा सकता, उसे कृत्रिम रूप से पुष्ट नहीं कर सकते, उसको सँजोकर रखा नहीं जा सकता। जब मन, शान्त होता है और मन के अन्तर्गत सभी कल्पनाओं से चित्त रिक्त होता है, तब प्रेम प्रकट होता है।

हम जिस कमरे में बैठे थे उस कमरे से नदी ठीक सामने दीखती थी और जल पर सूरज चमक रहा था।

वह व्यक्ति मूर्ख तो कतई नहीं था, लेकिन भावना से भरपूर था। एक उमड़ती भावुकता उसमें दीखी। उसमें वे आनन्द लेते रहे होंगे, क्योंकि उस भावुकता में उन्हें बहुत खुशी होती हुई दीख रही थी। वह बोलने के लिए आतुर थे; और जब एक हरा-सुनहरा पंछी उन्हें दिखाया गया तब अपने भावावेग को घुमाकर उन्होंने उस पंछी पर उसे उड़ेल दिया। फिर उन्होंने नदी की सुन्दरता की बात की और उसके सम्बन्ध में एक गीत गाया। उसकी आवाज मधुर थी, किन्तु कमरा बहुत छोटा था। हरे सुनहरे पंछी का साथी उसके पास आ गया और अपने को सँवारते हुए वे दोनों परस्पर के बहुत निकट बैठ गये।

"क्या ईश्वर के पास ले जानेवाला भक्ति का एक मार्ग नहीं होता? भक्ति-यज्ञ से क्या हृदय को पवित्र नहीं बनाया जा सकता। हमारे जीवन का एक महत्त्व का अंग क्या भक्ति ही नहीं है?"

भक्ति का आप क्या अर्थ करते हैं?

"सर्वोच्च का प्रेम, ईश्वर के प्रतीक के प्रति, प्रतिमा पर, एक पुष्प समर्पित करना। भक्ति है सम्पूर्ण ध्यानमग्नता, वैषयिक प्रीति से ईश्वर-प्रेम कहीं अधिक श्रेष्ठ है। ईश्वर-प्रेम में पूर्णतः आत्मविस्मृत होकर मैं कई-कई घण्टों तक एक आसन पर बैठा हूँ। उस अवस्था में मैं कोई होता ही नहीं हूँ। तब मैं कुछ भी जानता हूँ नहीं। उस शून्यवत् अवस्था में सम्पूर्ण जीवन एकात्म होता है। भंगी और राजा का भेद मिट जाता है। वह एक अद्भुत अवस्था है। निश्चित ही आप इस स्थिति को जानते होंगे।"

भक्ति क्या प्रेम है? क्या वह हमारे दैनन्दिन जीवन से कुछ पृथक् है? क्या वह कोई बलिदान की क्रिया है जो किसी एक वस्तु के प्रति समर्पित हो, ज्ञान के, सेवा के या कर्म के प्रति न्योछावर हो? जब आप स्वयं का अपनी भक्ति में आत्मोत्सर्ग कर देते हैं, तब क्या वह आत्मसमर्पण है? जब आप अपनी भक्ति के विषय में पूर्णतः तादात्म्य पाते हैं, तब क्या वह आत्मत्याग है? क्या वह अहंशून्यता है, जब आप किसी पुस्तक में, किसी मंत्र-जप में या किसी कल्पना में स्वयं को भुला देते हैं? भक्ति क्या किसी प्रतिमा की, किसी व्यक्ति की या किसी प्रतीक की पूजा है? क्या वास्तविकता का कोई प्रतीक होता है? क्या सत्य का प्रतिनिधित्व करनेवाला प्रतीक कभी हो सकता है? क्या प्रतीक स्थाणुवत् अचल नहीं होता? और एक स्थिर वस्तु क्या कभी जीवन्तता का प्रतिनिधित्व कर सकती है? आपका चित्र क्या आप स्वयं हैं?

आइये, हम देख लेते हैं कि भक्ति का हम क्या अर्थ करते हैं। प्रतिदिन आप बहुत से घंटे, जिसे आप प्रेम या ईश्वर का ध्यान कहते हैं, उसमें व्यतीत करते हैं!

क्या यह भक्ति है ? जिसने अपना जीवन समाज कल्याण में लगाया है, वह मनुष्य अपने कार्य के प्रति समर्पित है ? कोई है सेनापति जिसका काम ही है बिनाश की योजना बनाना। लेकिन उसमें भी अपने काम के लिए समर्पण का भाव रहता है। क्या वह भक्ति है ? मैं यदि कह सकता हूँ तो कहना चाहूँगा कि आप अपना समय प्रतिमा की या ईश्वर की कल्पना की धुन में, मस्ती में बिताते हैं, और अन्य लोग दूसरे तरीके से वही करते हैं। क्या इन दोनों प्रकारों में कोई मूलभूत अंतर है ? क्या वह भक्ति है, जिसमें कोई विषय अभिप्रेत हो ?

"लेकिन, मेरे सम्पूर्ण जीवन को मेरी ईश्वर भक्ति ने परिव्याप्त कर दिया है। भगवान के सिवा अन्य किसी का मुझे कोई भान भी नहीं है। उसने मेरे हृदय को लबालब भर दिया है।"

और जो मनुष्य अपने काम की, अपने नेता की या अपनी विचार-प्रणाली की पूजा करता है, उसका जीवन भी अपने काम से परिव्याप्त रहता है। आप अपने चित्त को 'ईश्वर' शब्द से भर देते हैं, दूसरा कोई व्यक्ति अपने कार्य से; तब क्या वह भक्ति हुई ? आप अपनी प्रतिमा को, अपने प्रतीक को लेकर सुखी हैं, और दूसरा कोई अपनी पुस्तकों या संगीत को लेकर प्रसन्न है, तब क्या वह भक्ति है ? क्या भक्ति का यह अर्थ है कि स्वयं को किसी वस्तु में खो देना ? कोई मनुष्य अनेक तृप्तिदायक कारणों से अपनी पत्नी के साथ एकनिष्ठ होता है, तब क्या इसे भक्ति कहेंगे ? अपने देश के साथ स्वयं तादात्म्यपूर्वक एकरूप हो जाना बहुत उन्मादक होता है, तो क्या इस तादात्म्य को भक्ति कहेंगे ?

"लेकिन ईश्वर के प्रति स्वयं को समर्पित करने से किसी का कोई अहित नहीं होता। इसके विपरीत मैं स्वयं हानिकारक मार्ग से दूर रहता हूँ और अन्य किसी को भी कोई हानि नहीं पहुँचाता।"

कम से कम इतना तो अच्छा है; लेकिन आप बाह्यत: कोई हानि नहीं करते होंगे, फिर भी बहुत गहरे स्तर पर आपकी भ्रान्ति क्या स्वयं के लिए और समाज के लिए हानिकारक नहीं है ?

"मुझे समाज में कोई अभिरुचि नहीं है। मेरी आवश्यकताएँ बहुत कम हैं। मैंने अपने विकारों पर नियंत्रण पाया है, और मैं अपने दिन प्रभु की छत्रछाया में व्यतीत करता हूँ।"

यह देख लेना क्या महत्त्व का नहीं है कि उस छाया की पार्श्वभूमि में कोई सत्व है या नहीं ? भ्रान्ति की पूजा करने का अर्थ है अपनी ही तुष्टि से आसक्त हो कर रहना। अपनी रुचि किसी भी स्तर की क्यों न हो, उसे समर्पित हो जाना वैयक्तिकता ही है।

"आप वहुत विक्षुब्ध कर देते हैं। इससे मेरा बिलकुल निश्चय नहीं हो पा रहा है कि इस चर्चा में मुझे आगे वढ़ना चाहिए या नहीं। देखिये, आपके समान एक ही वेदी पर पूजा करने के लिए आया था; लेकिन मैं समझ रहा हूँ कि आपकी पूजा एकदम भिन्न है, और आप जो कर रहे हैं वह मेरे आकलन से परे है। लेकिन आपकी पूजा का सौन्दर्य निहारने, समझने से मुझे अच्छा लगेगा। आपके पास कोई चित्र, कोई प्रतिमा और कोई कर्मकाण्ड नहीं है, किन्तु आप पूजा अवश्य करते होंगे। आपके पूजन का क्या स्वरूप है ?

पूजक स्वयं ही पूजित होता है। किसी अन्य की पूजा वस्तुत: स्वयं अपनी ही पूजा है; प्रतिमा या प्रतीक स्वयं का ही प्रक्षेपण है। कुछ भी कहें, आपकी मूर्ति, आपका ग्रंथ, आपकी प्रार्थना—ये सब आपकी पार्श्वभूमि के प्रतिविम्ब हैं; भले इन्हें और किसी ने बनाया, लेकिन हैं तो ये आप ही की निर्मिति। अहं तृप्ति की दृष्टि से आप चुनाव करते हैं; और आपकी पसंदगी आपका पूर्वग्रह है। आपकी पूज्य प्रतिमा आपके लिए उन्मादक है और वह आपकी स्वयं की स्मृति से खुदी हुई है। आपके अपने ही विचार द्वारा निर्मित प्रतिमा के द्वारा आप अपनी ही पूजा कर रहे हैं। आपकी भक्ति का समर्पण आप स्वयं का ही प्रेम है, और उसे आवृत किया है आपके मन के गान ने ही। वह चित्र आप स्वयं ही हैं। आपके मन का प्रतिविम्ब है वह। इस प्रकार की भक्ति आत्मवंचना का ही प्रकार है। वह ले आता है केवल दु:ख तथा एकाकीपन जो मृत्यु ही है।

क्या अन्वेषण भक्ति है ? किसी का शोध करना याने न शोधना ही है; सत्य की खोज करने का अर्थ हुआ सत्य को न पाना। शोध के द्वारा हम स्वयं से भाग जाते हैं, और यह तो भ्रान्ति है। हमारी वास्तविकता से भाग निकलने की कोशिश हम सभी तरह से करते हैं। हम स्वयं में इतने क्षुद्र, इतने मूलत: नगण्य होते हैं कि अपनी तुलना में किसी महान् की की हुई पूजा भी उतनी ही क्षुद्र और मूर्खतापूर्ण होती है जितनी कि हम स्वयं। महान् की खोज में कोई छोटा निकले तो जितना पाने की शक्ति उसमें होगी, उतना ही वह पायेगा। कम का विस्तार ही अधिक होता है। वचाव के स्वरूप विविध और अनेक हैं, लेकिन भाग कर वचाव करने में लगा मन फिर भी भयग्रस्त, संकीर्ण और अज्ञ होता है।

इस वचाव की प्रक्रिया का आकलन होने से, 'जो है'—उससे मुक्ति पायी जाती है। जव अपनी समस्या के समाधान की खोज में मन नहीं लगा रहता है, तभी वास्तविक का आकलन हो सकता है। समाधान की शोध वास्तविकता से, 'जो है' उससे पलायन है। इस शोध को विविध नामों से पहचाना जाता है, उनमें से एक है भक्ति; लेकिन 'जो है' उसका आकलन होना हो तो मन शान्त रहना चाहिए।

"आप किसे 'जो है' कहते हैं, उससे आपका क्या आशय है ?"

जो है, वह तो क्षण से क्षण तक है। आपके पूजन की समग्र प्रक्रिया, जिसे आप ईश्वर कहते हैं, उसके लिए आपका समर्पण-भाव—इन सबका आकलन ही, 'जो है' उसका सम्यक् अवधान है। लेकिन इस वास्तविकता को समझने की आपकी इच्छा ही नहीं है, क्योंकि वस्तु स्थिति से आपका पलायन जिसे आप भक्ति कहते हैं, आपके लिए अधिक आनन्द का आधार है, और इसलिए आपकी दृष्टि से सत्य से भ्रान्ति अधिक महत्त्व का है। वास्तविकता को समझना विचार पर निर्भर नहीं करता, कारण विचार स्वयं ही एक पलायन है, एक बनाव है। किसी समस्या के विषय में विचार करना, उसे न समझने के समान है। जब मन शान्त हो जाता है, तब विद्यमान का सत्य उद्घाटित होता है।

"मेरे पास जो है, उसी में मुझे समाधान है। अपने भगवान के साथ, अपने मंत्र के साथ और अपनी भक्ति के साथ मैं सुखी हूँ। भगवान की भक्ति मेरे हृदय का संगीत है। और मेरे हृदय का सुख उस संगीत में समाया है। आपका गीत अधिक स्पष्ट और खुला होगा, किन्तु जब मैं गाता हूँ, मेरा हृदय भरापुरा हो जाता है। परितृप्त हृदय पाने के बाद उससे अधिक की चाह मनुष्य को क्यों होगी ? गीत में हम दोनों बन्धु हैं और आपके गीत के कारण मैं विचलित नहीं होता हूँ।"

जब गीत अकृत्रिम, यथार्थ होता है, तब वहाँ न आप रहते हैं, न मैं। वहाँ होती है केवल शाश्वत की प्रशान्ति। नाद कभी गीत नहीं होता। शान्ति ही गीत है। आप अपने गीत के शब्द-नाद से अपने हृदय को मत भरिये।

११. रुचि

एक विद्यालय के वे प्राचार्य थे और विश्वविद्यालय की कई उपाधियाँ उन्हें मिली थीं। शिक्षण में उन्हें बहुत गहरी रुचि थी और समाज-सुधार के विविध कार्यों में उन्होंने हृदयपूर्वक परिश्रम किया था। लेकिन अब, काफी तरुण होते हुए भी उनका जीवन-रस का स्रोत सूख गया था, ऐसा वे कह रहे थे। अपने नित्य-कर्त्तव्य वे करीब यन्त्रवत् निभा रहे थे, थकानभरी ऊब के साथ अपने दिन-क्रम को कैसे-वैसे चला रहे थे, वे जो कुछ करते थे, उसमें उन्हें पहले जैसा उत्साह नहीं था; और जो प्रेरणा उन्हें पहले महसूस होती थी, वह पूर्णतः विलुप्त हो चुकी थी। पहले उनमें धार्मिक वृत्ति थी, और अपने धर्म में कुछ सुधार लाने की उन्होंने चेष्टा की थी। किन्तु अब

इस कार्य में भी उन्हें कोई रस नहीं था। किसी भी विशिष्ट कार्य में उन्हें अब कोई मूल्य प्रतीत नहीं होता था।

ऐसा क्यों है।

"मैंने देखा कि सारे कर्म अन्त में संभ्रम परिणत होते हैं, और उसमें से अधिक ही समस्याएँ और अनर्थ खड़े हो जाते हैं। अपनी ओर से मैंने बहुत विचार-पूर्वक और बुद्धिपूर्वक कार्य करने का प्रयास किया है, किन्तु अनिवार्यरूप से उसमें से किसी न किसी तरह का झमेला ही उत्पन्न होता रहा। जिन विविध कार्यों में मैं व्यस्त रहता आया, उन सबने मुझे हतोत्साह, चिन्तित और शान्त बना दिया, न उनका कोई अपेक्षित परिणाम ही निकला। अब तो मुझे कार्य करने के नाम से ही भय लगने लगता है और अच्छाई से अधिक हानि ही कर बैठने के भय से, आवश्यक अल्प काम को छोड़कर बाकी सभी कार्यों से मैं परावृत ही हो गया हूँ।"

इस भय का क्या कारण होगा? हानि करने का भय है यह? अधिक ही संभ्रम निर्माण करने के भय से क्या आप जीवन से परावृत हो रहे हैं? आपका यह भय, संभ्रम उत्पन्न करने की कल्पना से खड़ा हुआ है या स्वयं आपमें उमड़नेवाले संभ्रम से आप भयभीत हैं? यदि आप अपने तईं स्पष्ट होते और उस स्पष्टता में से आपका कर्म साकार होता, तो क्या उस कर्म से बाह्यतः निर्माण होनेवाले संभ्रम से आप भयग्रस्त होते? आपको आन्तरिक संभ्रम के कारण भय लगता है या बाह्य संभ्रम के कारण?

"अब तक मैंने इस विषय की ओर इस दृष्टि से देखा ही नहीं, अब मुझे आपके कहने पर सोचना ही होगा।"

यदि आप अपने में स्पष्ट हैं तो अधिक समस्याएँ खड़ी करने में आपको कोई आपत्ति होगी? हमारी समस्याओं से, किसी भी तरह से, दूर भागने की हमारी वृत्ति रहती है और इस तरह हम उन्हें फुलाते जाते हैं। अपनी समस्याओं को खोल-कर सामने से संभ्रम पैदा हो सकता है, लेकिन उनका समाधान करने की शक्ति हमारी दृष्टि की स्पष्टता पर निर्भर रहती है। आप यदि अपने में स्पष्ट होते, तो क्या आपके कार्य संभ्रामक होते?

"अपने विचारों में मैं स्पष्ट नहीं हूँ। यह भी मैं नहीं जानता कि, मैं क्या करना चाहता हूँ। किसी वाम या दक्षिण पन्थ को मैं स्वीकार सकता हूँ, लेकिन उससे कार्य में स्पष्टता नहीं आयेगी। किसी विशिष्ट विचारपन्थ की असंगतियाँ, आँखें बन्द करके, कोई न भी देखे, और उसके लिए कार्य भी करे, यह सम्भव है, लेकिन सभी पान्थिक विचारों की ओर से किये कार्य कल्याण के बदले निश्चितरूप से हानि ही अधिक करते हैं, यह वास्तविकता बनी ही रहेगी। यदि अपने विचारों

में मैं एकदम स्पष्ट होता, तो मैं समस्याओं का सामना करके उन्हें स्पष्ट करने की कोशिश करता। किन्तु मैं स्पष्ट हूँ नहीं। कार्य की सभी प्रेरणाएँ मेरे लिए विलुप्त हो चुकी हैं।"

किस कारण से आपने प्रेरणा को लुप्त होने दिया है? क्या अपनी मर्यादित शक्ति का अति-व्यय करके आपने उसे खो दिया है? जिनमें आपकी सच्ची अभिरुचि नहीं थी, ऐसे कार्यों में क्या अपनी सारी शक्ति लगाकर आपने अपने को थका दिया है? अथवा शायद अपनी असली अभिरुचि को आप अब तक खोज ही नहीं सके हैं?

"देखिये, कालेज शिक्षा के बाद, सामाजिक सुधार के लिए मैं बहुत उत्सुक था, और उसके लिए मैंने उत्कटता से कुछ वर्षों तक कार्य भी किया, किन्तु धीरे-धीरे उसकी क्षुद्रता मेरी समझ में आ गयी, तब उसे छोड़कर मैंने शिक्षण कार्य हाथ में लिया। कई वर्षों तक शिक्षा के क्षेत्र में, मन लगाकर, मैंने काफी परिश्रम किया, अन्य किसी भी विषय की ओर ध्यान नहीं दिया। किन्तु उसे भी मैंने आखिर छोड़ दिया, क्योंकि मेरा संभ्रम अधिकाधिक बढ़ता ही गया। अपने लिए नहीं, लेकिन कार्य की सफलता के लिए मैं महत्वाकांक्षी था। किन्तु जिन लोगों के साथ मैं कार्य करता था, वे सदैव झगड़ते रहते थे, ईर्ष्यालु और व्यक्तिगत जीवन में महत्त्वाकांक्षी भी थे।"

महत्त्वाकांक्षा एक विचित्र वस्तु है। आप कह रहे हैं कि आप अपने लिए नहीं लेकिन केवल आपके कार्य की सफलता के लिए महत्त्वाकांक्षी थे। क्या वैयक्तिक और तथाकथित अवैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा में कोई अन्तर है? किसी विचारपंथ से तादात्म्य पाकर उसके लिए महत्त्वाकांक्षापूर्वक कार्य करने को आप वैयक्तिक या क्षुद्र नहीं मानेंगे। आप उसे प्रशंसनीय मानेंगे, मानेंगे न? किन्तु क्या यह सही है? अवश्य ही आपने एक शब्द प्रयोग के स्थान पर केवल दूसरा शब्द प्रयोग किया है: "व्यक्तिगत" के बदले "अव्यक्तिगत"; लेकिन मूल प्रेरणा या हेतु एक ही तो है। आप कार्यसिद्धि चाहते हैं और उसके साथ आपने तादात्म्य साधा है। "मैं" के स्थान पर आपने "कार्य, पद्धति, देश, ईश्वर" इन शब्द प्रयोगों का उपयोग किया है; लेकिन फिर भी महत्त्वपूर्ण हैं स्वयं आप। निष्ठुर ईर्ष्यायुक्त और भयानक महत्त्वकांक्षा अभी भी आप में विद्यमान है। कार्य में असफल होने से क्या आपने उसे छोड़ दिया? यदि वह सफल होता तो क्या आप उसे आगे चलाते रहते?

"बात यही थी, ऐसा मुझे नहीं लगता। कार्य काफी हद तक सफल हो रहा —जैसा कोई भी कार्य समय, शक्ति और बुद्धि लगाने पर रहता ही है। मैंने इसीलिए उसे छोड़ दिया, उसका कोई अपेक्षित परिणाम निकला नहीं। उसके कारण अल्पकालीन राहत अवश्य मिली, लेकिन मूलभूत तथा स्थायी परिवर्तन नहीं आया।"

जब आप कार्य में व्यस्त थे, तब उत्कट प्रेरणा थी; फिर बाद में उसका क्या हो गया ? उस आंतर्प्रेरणा को, उस ज्योति को क्या हो गया ? यही समस्या है न ?

"जी हाँ, यही समस्या है। उस समय मुझमें यह लौ थी, लेकिन अब चली गयी है।"

क्या वह प्रसुप्त अवस्था में है, या गलत उपयोग के कारण पूर्णत: जल चुकी और अब केवल भस्म ही अवशेष रहा है ? शायद आपने अपनी सच्ची अभिरुचि को अब तक पाया ही नहीं। क्या आपको हतोत्साह या विफलता का भाव महसूस होता है ? क्या आपने विवाह किया है ?

"जी नहीं। मुझे नहीं लगता कि मुझमें विफलता का भाव है। मुझे ऐसा भी नहीं महसूस होता कि मेरे लिए परिवार की या किसी व्यक्ति विशेष के साहचर्य की आवश्यकता है। आर्थिक दृष्टि से मैं अल्प से ही सन्तुष्ट हूँ। एक गहरे अर्थ में धर्म मुझे हमेशा आकर्षित करता रहा है; किन्तु मैं समझता हूँ उस क्षेत्र में भी मुझे 'यशस्वी' होने की आकांक्षा थी।"

यदि आपके जीवन में विफलता नहीं है, तो फिर आपको केवल जीने में ही संतोष क्यों नहीं होता ?

"मैं अब कोई तरुण तो नहीं बन सकता हूँ, और न मुझे गलितगात्र होकर निष्क्रिय जीवन व्यतीत करना है।"

आइये, इस समस्या को कुछ भिन्न दृष्टि से देख लेते हैं। आपको किस विषय में रुचि है ? ऐसी बात नहीं कि किसी चीज में आपको अभिरुचि रखनी ही चाहिए, लेकिन प्रत्यक्षत: किसमें दिलचस्पी लगती है ?

"सचमुच, मुझे मालूम नहीं है।"

उसे खोजने में क्या आपको दिलचस्पी नहीं है ?

"लेकिन मैं उसे खोजूंगा किस तरह ?

क्या आपको ऐसा लगता है कि अपनी अभिरुचि खोजने के लिए कोई पथ या पद्धति मौजूद है ? वास्तव में यही महत्व का है कि आप स्वयं अपनी अभिरुचि किस दिशा में है, इसकी खोज करें। अब तक आपने कुछ कार्य क्षेत्रों में प्रयास किया, अपनी शक्ति तथा बुद्धि आपने उनमें लगायी, लेकिन उनसे आपको गहरा संतोष नहीं हुआ। या तो, जिन विषयों में आपको गहरी रुचि नहीं थी, उनमें आपने अपने को उँडेल दिया है अथवा आपकी सच्ची अभिरुचि अब तक प्रसुप्त अवस्था में रही है और अब वह प्रकट होने की राह देख रही है। बताइये, इनमें वास्तविकता कौन सी है ?

"मैं फिर यही कहूँगा कि मैं जानता नहीं। इस खोज में क्या आप मेरी सहायता करेंगे ?"

इस सन्दर्भ में वास्तविकता को स्वयं ही जानना चाहिए, ऐसा आपको नहीं लगता ? यदि आपने सम्पूर्ण आहुति दे डाली होगी, तो आपकी समस्या का सामना अन्य प्रकार से करना होगा। लेकिन प्रेरणा का आंतर-अग्नि आपके हृदय में प्रसुप्त होगा तो उसे प्रज्वलित करना आवश्यक है। कहिये, इन दोनों में से आपको कौन-सी सम्भावना वास्तविक लगती है ? उसका स्वरूप मैं आपको बताऊँ इसकी अपेक्षा क्या आपको यही उचित नहीं लगता कि आप स्वयं ही इसका सत्य उद्घाटित करें ? 'जो है' का याने वास्तव का सत्य स्वयं में ही कर्म है। यदि आपकी प्रेरणाशक्ति पूर्णतया भस्म हो चुकी है, तो क्षतिपूर्ति के लिए, स्वास्थ्य पुनश्च पाने के लिए, नवनिर्मिति की प्रतीक्षा में स्वयं को आप रिक्त रहने दें। परिष्करण और बीजारोपण के उपरान्त नवनिर्मिति के लिए यह प्रतीक्षा का खालीपन अत्यन्त महत्त्व का है। वह भावी सम्यक् कर्म के लिए सँजोयी हुई अकर्मण्यता है। अथवा यह भी सम्भव है कि आपकी वास्तविक अभिरुचि अब तक जागृत ही नहीं हुई है। कृपापूर्वक सुनिये और उसका शोध करिये। यदि शोध लेने का हेतु चित्त में तीव्र होगा तो आप अवश्य शोध करेंगे। शोध की प्रक्रिया सतत चलने से नहीं, लेकिन हेतु में स्पष्ट और उत्कट होने से है। तब आपके ध्यान में आयेगा कि जागृति के समय में जो सजग निरीक्षण रहता है, उसमें आपकी प्रसुप्ति अभिरुचि के सारे संकेत आपको मिलते रहेंगे और इस सूचन में स्वप्न भी एक भूमिका अदा करते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो, शोध करने की प्रेरणा ही शोध की प्रक्रिया का उद्घाटन करके उसे प्रचालित कर देती है।

"लेकिन कौन-सी अभिरुचि सच्ची है, यह मुझे कैसे ज्ञात होगा ? मुझे कितनी ही बातों में दिलचस्पी रही है, किन्तु हर समय वह रंगविहीन होकर क्षीण पड़ती गयी। मुझे यह कैसे मालूम होगा कि जिसे मैं अपनी असली अभिरुचि मानूंगा, वह भी इसी तरह धीरे-धीरे समाप्त नहीं होगी ?"

निश्चय ही ऐसा कोई आश्वासन नहीं हो सकता; किन्तु आपको इस क्षयीकरण का भान होने से वास्तव को खोजने के लिए सजग निरीक्षणशीलता रहेगी। यदि मैं इस तरह से बात रखूँ, तो, प्रत्यक्षतः आप अपनी वास्तविक अभिरुचि को नहीं खोज रहे हैं, लेकिन आपकी तटस्थ निरीक्षण की अवस्था में आपकी सच्ची अभिरुचि स्वयं को साक्षात् करेगी। यदि अपनी वास्तविक अभिरुचि को खोजने का प्रयास आप करेंगे तो एक के बदले दूसरी को आप चुनेंगे, फिर तौलेंगे, गिनेंगे, निर्णय करेंगे। यह प्रक्रिया केवल विरोध उत्पन्न करेगी; आपने उचित चुनाव किया या नहीं, इत्यादि विचारों से आप अपनी शक्तियों का व्यय कर डालेंगे। किन्तु जब तटस्थ अवबोध होगा और अपनी ओर से खोजने का भावरूप प्रयास नहीं रहेगा, तब उस

अवबोध में अभिरुचि स्वयं को व्यक्त करने लगेगी। इस दिशा में प्रयोग कीजिये, तब आपके ध्यान में बात आयेगी।

"यदि मैं बहुत शीघ्रता नहीं कर रहा हूँ, तो मुझे लगता है कि मेरी यथार्थ अभिरुचि का भान जागृत हो रहा है। एक मार्मिक जीवन्तता का, एक नयी ऊर्जा का प्रत्यय आ रहा है।"

१२. शिक्षण और एकरसात्मकता

वह संध्या बड़ी रमणीय थी। प्रचण्ड काले बादलों के पीछे सूर्यास्त हो रहा था, और उनके ठीक सामने गगनचुम्बी, छरहरे कितने ही तालवृक्ष खड़े थे। नदी का जल सुनहरा बन गया था और दूरस्थ पहाड़ियों को डूबते सूरज ने चमकीला कर दिया था। मेघ गर्जना हो रही थी, लेकिन पहाड़ों की ओर आकाश निरभ्र और नील वर्ण था। चरागाह से मवेशी लौट रहे थे और एक छोटा बालक उन्हें घर की ओर ले जा रहा था। उसकी उम्र दस या बारह वर्ष से अधिक नहीं होगी। उसने सारा दिन अकेले ही पशुओं के पीछे बिताया था, फिर भी वह मजे में गाता जा रहा था और इधर-उधर भटकनेवाले या धीमे चलनेवाले पशुओं को बीच-बीच में झटका देकर हाँक भी रहा था। उसने मुस्कुरा दिया और उसका साँवला चेहरा उज्ज्वल हो उठा। कुतूहल से रुककर और थोड़ा-सा उत्सुक होकर उसने कुछ पूछना शुरू किया। वह एक निरा देहाती बालक था और उसे शिक्षा मिलने की कोई सम्भावना नहीं थी। वह कभी भी सफेद पर काला करना सीख नहीं सकता था, लेकिन उसे कब से मालूम था कि अपने साथ अकेले होने का मतलब क्या होता है। वह अकेला है, इसका उसे ज्ञान ही नहीं था, और शायद अकेलेपन का उसे कभी अहसास ही नहीं हुआ था, न उसके कारण उसमें कभी विषाद निर्माण हुआ। वह मात्र अकेला रहा और संतुष्ट भी। वह किसी वस्तु को पाकर संतुष्ट हुआ ऐसा नहीं; बस, वह केवल संतोषी था। किसी बात को लेकर सन्तोष पाना याने वस्तुतः असन्तुष्ट रहना ही हुआ। सम्बन्धों के आधार से सन्तोष को चाहते रहने का अर्थ है—नित्य भयभीत रहना। जो सन्तोष सम्बन्ध पर निर्भर रहता है, वह केवल वासना-तृप्ति है। सन्तोष एक अवलम्बन-मुक्त अवस्था है। अवलम्बन सदा संघर्ष और विरोध को निमन्त्रित करता है। सन्तोष के लिए आवश्यक है निर्मुक्त चित्त। निर्मुक्तता हमेशा प्रारम्भ में ही होती है और होनी चाहिए। कोई लक्ष्य या ध्येय नहीं है, जिसे प्राप्त करना पड़े। कभी कोई भविष्य में मुक्त नहीं हो सकता। भावीमुक्तता वास्तविक नहीं है, वह केवल

एक कल्पना है। 'जो है' वही सत्य है, और इस जागरूकता का तटस्थ अवबोध ही सन्तोष है, समाधान है।

प्राध्यापक कह रहे थे कि कई वर्ष पहले उन्होंने कालेज की उपाधि प्राप्त की, तभी से वे पढ़ा रहे थे। किसी शासकीय शिक्षण संस्था में उनसे सीखनेवाले विद्यार्थियों की संख्या बहुत बड़ी थी। जो परीक्षा में उत्तीर्ण होते थे, वे विद्यार्थी निकल जाते थे और शासन तथा माता-पिता यही चाहते थे। अर्थात् कुछ अपवादरूप लड़के भी होते थे और उन्हें विशेष अवसर उपलब्ध कराये जाते थे या शिष्यवृत्तियाँ इत्यादि दी जाती थीं। लेकिन बहुसंख्य विद्यार्थी बेपरवाह, मन्दबुद्धि, आलसी और शरारती भी होते थे। कुछ विद्यार्थी ऐसे भी थे, जो किसी भी क्षेत्र में प्रविष्ट होकर कुछ करके दिखा सकते थे, किन्तु जिनमें नवसर्जन की ज्योति प्रज्वलित हो, ऐसे बहुत विरल थे। उनके शिक्षण-कार्य के इतने सालों में प्रतिभा-सम्पन्न लड़के अपवाद स्वरूप ही थे। कभी एकाध प्रतिभावान दीख भी सकता था, लेकिन चारों तरफ का वायुमण्डल शीघ्र ही उसे घेरकर कुण्ठित कर देता था। इस असामान्य युवक के प्रश्न को लेकर एक शिक्षक के नाते अध्ययन करने के लिए उन्होंने विश्व के कितने ही भागों का प्रवास किया था और सर्वत्र यही अवस्था उन्होंने पायी थी। अब शिक्षण-कार्य से वे निवृत्त हो रहे थे, क्योंकि दीर्घकालीन अनुभव ने इस विषय के सन्दर्भ में उन्हें कुछ निराश-सा कर दिया था। कितना ही अच्छा शिक्षण प्राप्त करके भी युवक लोग कुल मिलाकर जड़मति ही निकलते थे। कुछ तरुण तरल बुद्धि के या प्रभावशाली थे और उन्होंने उच्चपद प्राप्त भी किये। लेकिन उनके प्रभाव तथा प्रतिष्ठा के परदे के पीछे वे अन्य सामान्यों के समान ही क्षुद्र और चिन्तित थे।

"आधुनिक शिक्षण-पद्धति असफल रही है, क्योंकि उसके परिणामस्वरूप ही दो विनाशक युद्ध तथा भयानक दुःखमय जीवन उत्पन्न हुए हैं। लिखना-पढ़ना जानना और विविध तकनीकी विद्या हासिल करना, यह तो निस्संशय अधूरा शिक्षण है। क्योंकि इनमें केवल स्मरण शक्ति का संस्कार और विकास है। इसीसे इतना शब्दातीत दुःख पनप गया है। आपकी दृष्टि में शिक्षण का अन्तिम उद्देश्य कौन-सा है?"

समग्र एकात्म व्यक्ति का विकास—यही तो होगा न? यदि यही शिक्षा का 'उद्देश्य' है, तो हमारे मन में यह स्पष्टता अवश्य होनी चाहिए कि व्यक्ति समाज के लिए जीता है अथवा समाज व्यक्ति के खातिर अस्तित्व में है? यदि समाज अपने उद्देश्यों के लिए व्यक्ति की आवश्यकता तथा उपयुक्तता महसूस करता है, तो उसे समग्र एकरस मानव के विकास की कोई चिन्ता ही नहीं है; उसे चाहिए केवल एक कार्यक्षम यन्त्र, विशिष्ट ढाँचे में समानेवाला एक प्रतिष्ठित नागरिक, इसके लिए जरूरी है केवल ऊपरी, छिछली एकरसता। जब तक व्यक्ति आज्ञाकारी है और पूर्णतः किसी

विशिष्ट संस्कारिता में अनुबद्ध होने को तैयार है, तब तक समाज उसे उपयुक्त समझेगा और उस पर समय तथा सम्पत्ति खर्च करेगा। किन्तु यदि व्यक्ति के लिए समाज अस्तित्व में है, तो उसे सामूहिक संस्कार-निर्मिति के दबाव से मुक्त करने के लिए व्यक्ति की सहायता करनी चाहिए। एक समग्र एकरस मानव निर्माण के लिए व्यक्ति का शिक्षण उसे करना होगा।

"समग्र एकरस मानव से आपका क्या अभिप्राय है?"

इस प्रश्न का उत्तर अप्रत्यक्षत: और नकारात्मक ढंग से ही देना होगा; इसके भावात्मक अंग का विचार हम कर नहीं सकेंगे।

"आपका अभिप्राय मैं समझा नहीं।"

एकरसात्मक मानव कैसा होता है, यह भावात्मक रीति से कहने जायेंगे तो उससे केवल एक ढाँचा, एक पद्धति, एक उदाहरण देना होगा और उसकी नकल उतारने का हम प्रयास करेंगे; और किसी नमूने का अनुकरण करना यह क्या विघटन का लक्षण नहीं है? जब हम किसी उदाहरण की नकल करने की कोशिश करते हैं, तब क्या एकरसात्मकता सम्भव है? अनुकरण निश्चित ही एक विघटन-प्रक्रिया है, और संसार में क्या यही नहीं हो रहा है? हम सब बहुत अच्छे ग्रामोफोन रेकार्ड बन रहे हैं; तथाकथित धर्मों ने हमें जो सिखाया है, अथवा जो अद्यतन राजनैतिक, आर्थिक या धार्मिक नेता ने कहा है, उसे हम दुहरा रहे हैं। आदर्शवादी विचारप्रणालियों से हम चिपके रहते हैं और भारी-भारी राजनीतिक सभाओं में जाते हैं; खेल का आनन्द भी सामूहिकरूप से लेते हैं, सामूहिक पूजा और सामूहिक सम्मोहन समाज में सार्वत्रिक है। क्या यह एकरसात्मकता का लक्षण है? अनुरूपता एकरसात्मकता नहीं है, क्या होगी?

"यह बात हमें अनुशासन के अत्यन्त मूलभूत प्रश्न की ओर ले जाती है। क्या आप अनुशासन का विरोध करते हैं?"

अनुशासन से आपका क्या तात्पर्य है?

अनुशासन के अनेक स्वरूप होते हैं: विद्यालय का अनुशासन, नागरिक अनुशासन, दल का अनुशासन, सामाजिक तथा धार्मिक अनुशासन और स्वयं-स्वीकृत अनुशासन। अनुशासन आंतरिक या बाह्य अधिसत्ता की ओर से हो सकता है?

मूलत: अनुशासन में एक प्रकार की अनुरूपता अभिप्रेत है, है न? वह किसी आदर्श की या अभिसत्ता की अनुरूपता है; वह तो प्रतिरोध का संवर्धन है, और इससे निश्चितरूप से विरोध अंकुरित होता है। प्रतिरोध विरोध ही है। अनुशासन एक पृथकता की प्रक्रिया है—फिर वह किसी गुट से अलगाव हो या उसका स्वरूप व्यक्तिगत प्रतिरोध का हो। अनुकरण प्रतिरोध का ही एक स्वरूप है, है न?

"क्या आपका यह मानना है कि अनुशासन से एकरसात्मकता नष्ट होती है ? यदि विद्यालय में अनुशासन न हो तो बालक का क्या होगा ?"

एकदम निर्णय पर आने के बदले या उदाहरणों की ओर मुड़ने से क्या यही उत्तम नहीं होगा कि अनुशासन का महत्त्वपूर्ण अभिप्राय हम समझें ? हम विघटन के अंग-उपांगों का या एकात्मता में आनेवाली बाधाओं का अध्ययन करने का प्रयास कर रहे हैं। क्या अनुरूपता, प्रतिरोध, विरोध या संघर्ष के अर्थ में अनुशासन विघटनकारी तत्वों में से एक नहीं है ? हम अनुरूपता को क्यों स्वीकारते हैं ? केवल शारीरिक रक्षण के विचार से नहीं, साथ-साथ मानसिक आराम-चैन और सुरक्षा की दृष्टि से भी। जागृत या अजागृत रूप में, असुरक्षा के भय के कारण हम आंतरिक और बाह्य अनुरूपता स्वीकारते हैं। हम सबके लिए कुछएक शारीरिक सुरक्षा की व्यवस्था आवश्यक है; किन्तु मानसिक दृष्टि से असुरक्षा के भय के कारण ही, शारीरिक सुरक्षा-व्यवस्था, कुछ व्यक्तियों को अपवाद छोड़ दें तो, असंभव बनती है। अनुशासन का आधार ही है भय। सजा होने का, अग्रगामी या यशस्वी न होने का यह भय है। अनुशासन का अर्थ है अनुकरण, दमन, प्रतिरोध; और यह चेतन हो या अचेतन, है तो भय का ही परिणाम। तब कहिये, विघटनकारी तत्वों में से एक तत्व क्या यह भय ही नहीं है ?

"फिर आप अनुशासन के स्थान पर किस तत्व का स्वीकार करेंगे ? अनुशासन के बिना आज से भी अधिक अव्यवस्था निर्माण होगी। क्या जीवन के कार्य सुचारु रूप से चलने के लिए किसी न किसी प्रकार के अनुशासन की आवश्यकता नहीं है ?

मिथ्या का मिथ्या के रूप में आकलन करना, मिथ्या में सत्य का दर्शन करना और सत्य को सत्यस्वरूप में साक्षात् करना, यह प्रज्ञा का प्रारम्भ है। यह कोई अनुशासन के स्थान पर अन्य किसी तत्व को स्वीकार करने का प्रश्न नहीं है। आप भय के स्थान पर दूसरी किसी चीज को स्थापित नहीं कर सकते हैं; यदि करेंगे तो भय यथास्थान बना रहेगा। आप उस पर आवरण डालने में या उससे दूर भागने में सफल हो जायेंगे, लेकिन भय तो फिर भी रहेगा। महत्त्वपूर्ण है भय की समाप्ति, न कि उसके स्थान पर अन्य किसी चीज की प्रस्थापना। किसी भी तरह का अनुशासन भय से मुक्ति नहीं ला सकता। भय का निरीक्षण करना होगा, अध्ययन और आकलन करना होगा। भय कोई अप्रत्यक्ष, अव्यक्त वस्तु नहीं है; वह किसी व्यक्ति, वास्तव के सम्बन्ध में ही प्रकट होता है और इस सम्बन्ध का ही आकलन करना होगा। आकलन का अर्थ प्रतिरोध या विरोध नहीं है। तब विस्तृत और गहरे अर्थ में अनुशासन क्या एक विघटन का ही तत्त्व नहीं है ? क्या भय, अनुकरण तथा दमन जैसे अपने परिणामों के साथ, एक विघटनकारी शक्ति नहीं है ?

"किन्तु किस तरह कोई भय से मुक्त हो सकेंगे ? अनेक विद्यार्थियों के वर्ग में किसी तरह के अनुशासन के बिना—या जिसे आप 'भय' कहते हैं, उसके बिना—व्यवस्था कैसे रहेगी ?"

बहुत अल्प संख्या में विद्यार्थियों को लेकर और सुयोग्य शिक्षण की व्यवस्था करके। निश्चित ही यह तब तक सम्भव नहीं, जब तक राज्य नागरिकों का बहु-संख्या में सामूहिक निर्माण करना आवश्यक समझेगा। राज्य समूह-शिक्षण पसन्द करता है; राज्यकर्ता असंतोष को प्रेरित करना नहीं चाहते, क्योंकि फिर उनकी प्रतिष्ठा शीघ्र ही असह्य हो जायेगी। राज्य-व्यवस्था शिक्षण पर नियंत्रण रखती है और स्वयं के उद्देश्य-पूर्ति के लिए शिक्षण क्षेत्र में पदार्पण करके मानव इकाई को संस्कारित करती है। इसके लिए अत्यन्त सरल माध्यम है भय, अनुशासन तथा दण्ड और पुरस्कार। भय-मुक्ति का प्रश्न बिलकुल भिन्न है; उसके लिए भय का आकलन करना होगा, उसका प्रतिरोध, दमन या उदात्तीकरण नहीं।

हरएक मानवीय समस्या के समान, विघटन की समस्या बहुत जटिल है। क्या संघर्ष भी एक विघटनकारी घटक नहीं है ?

"लेकिन संघर्ष तो अत्यावश्यक है, उसके बिना हम कुण्ठित हो जायेंगे। प्रयत्नपूर्वक क्रियाशील रहे बिना प्रगति, विकास और संस्कृति सम्भव ही नहीं है। प्रयत्न या संघर्ष के बिना हम एकदम जंगली, पशुवत् असंस्कृत रह जायेंगे।"

शायद हम आज भी वैसे ही हैं। जब कोई नयी बात सुझायी जाती है, तब हम सदा निष्कर्ष पर और विरोधी रुख पर क्यों उतर आते हैं ? अपने देश के लिए या अन्य किसी कारणवश हम हजारों की कतल कर देते हैं तब हम निश्चितरूप से पाशवी ही होते हैं। किसी मानव की हत्या करना पाशविकता की परिसीमा है। लेकिन हम जिस विषय की चर्चा कर रहे थे, उसमें आगे बढ़ें। संघर्ष विघटन का लक्षण नहीं है ?

"संघर्ष से आपका क्या तात्पर्य है ?"

हर तरह का संघर्ष : पति-पत्नी के बीच का, परस्पर-विरोधी कल्पनाओं को स्वीकारनेवाले दो समूहों के बीच का, आज की वास्तविकता और परम्परा के मध्य का, जो 'है' और 'होना चाहिए' ऐसे भवितव्य के बीच का। संघर्ष है आंतर और बाह्य कलह। आज अपने अस्तित्व के सभी विविध स्तरों पर, चेतन तथा अचेतन स्तरों पर, संघर्ष मौजूद है। हमारा जीवन संघर्षों की एक शृंखला है, एक रणक्षेत्र है—और किसलिए ? क्या संघर्ष के द्वारा हम एक-दूसरे को समझ सकते हैं ? यदि आपके साथ मेरा संघर्ष चल रहा हो, तो क्या मैं आपको समझ सकूंगा ? समझ के लिए, कुछ एक परिमाण में, शान्ति आवश्यक है। सृजन के लिए शान्ति, सुखद वाता-

वरण आवश्यक है। संघर्ष कलह नहीं होगा, वहाँ नवनिर्मिति असम्भव है। हमारा सतत चलनेवाला जीवन-संघर्ष वास्तविकता और भावी आदर्श के बीच का, मतवाद तथा प्रतिमतवाद के मध्य का रणक्रंदन है। हमने इस संघर्ष की अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया है और यह अनिवार्यता ही सत्य का मापदण्ड बना है, उसी ने सत्य का स्थान लिया है, भले वह निरा भ्रम ही क्यों न हो। वस्तुस्थिति के विरोधी संकल्पना से संघर्ष करने पर क्या वास्तविकता परिवर्तित हो सकती है? मैं 'इस तरह' का हूँ, तब मेरी वास्तविक स्थिति ठीक विरोधी—'उस तरह' का—बनने की कोशिश करने से क्या मैंने अपनी वस्तुस्थिति को बदल डाला? विरोधी या प्रतिरोधी संकल्पना क्या वास्तविकता का परिवर्तित प्रक्षेपण ही नहीं है? विरोधी विचार अपने ही विरोधी विचार के तत्व क्या अपने में सदा समाता नहीं? कभी तुलना के द्वारा क्या वास्तविकता का आकलन होता है? जो 'है', उसके बारे में कोई पहले से ही निष्कर्ष पर पहुँचेंगे तो क्या 'जो है' के आकलन में बाधा नहीं पहुँचेगी? यदि आप किसी चीज को समझना चाहते हैं, तो आपको उसका निरीक्षण, अध्ययन करना होगा न? यदि उसके विषय में आप अनुकूल या प्रतिकूल पूर्वग्रह रखेंगे तो उसका स्वतंत्रतापूर्वक अध्ययन कैसे कर पायेंगे? अपने पुत्र को आप समझना चाहेंगे तो उससे तादात्म्य पाये बिना या उस पर दोषारोपण किये बिना ही उसका अध्ययन करना आवश्यक है न? यदि आपके पुत्र के साथ आपकी नहीं बनती है और आप दोनों में कलह है, तो आप उसे कभी समझ नहीं सकेंगे, यह संशयातीत बात है। तब, बताइये, क्या समझ के लिए संघर्ष अनिवार्य है?

"एक अन्य प्रकार का संघर्ष भी तो होता है न? जैसे किसी को कोई एक काम कैसा करें, किसी तकनीक को कैसे हासिल करें, यह सीखना होता है, तब एक तरह का संघर्ष उसमें निहित होता है। किसी मनुष्य की विशिष्ट कार्य के सन्दर्भ में एक आन्तर्दृष्टि होती है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति तथा कार्यान्वियन के लिए संघर्ष ही आवश्यक है। इस प्रक्रिया में बहुत कष्ट तथा वेदना निहित ही है।"

कुछ मर्यादा तक यह सत्य है; किन्तु सृजन स्वयं ही क्या अपनी अभिव्यक्ति का साधन नहीं है? साधन साध्य से अलग नहीं है; साध्य साधन के अनुरूप ही होता है। सृजन के अनुरूप उसकी अभिव्यक्ति होती है; आपको जो कहना होता है, उसके अनुरूप ही शैली आकार लेती है। परन्तु कोई केवल यांत्रिक कार्य में लगा है, तो कोई महत्त्वपूर्ण समस्या है नहीं।

किसी भी क्षेत्र में संघर्ष ने समझ उत्पन्न की है? क्या प्रयत्नशीलता में, जिजीविषा में, कुछ बनने की प्रेरणा में—फिर वह भावरूप हो या अभावरूप—संघर्ष की एक अविच्छिन्न श्रृंखला ही अनुस्यूत नहीं है? संघर्ष का कारण ही उसके

परिणाम में क्या फलीभूत नहीं होता है, जो आगे चलकर स्वयं ही कारण बन जाता है ? जो 'है' का याने वास्तव का आकलन नहीं होता, तब तक संघर्ष से मुक्ति नहीं। इस वास्तव का आकलन कल्पना की ओट से होना सुतराम् सम्भव नहीं; उसे एकदम निर्मल; नये सिरे से देखना होगा। जो 'है' वह कभी एक ही रूप में अवस्थित या बद्ध नहीं होता, इसलिए मन भी कभी ज्ञान के, विचार-प्रणाली के, मान्यता के या किसी निष्कर्ष के साथ बद्ध नहीं होना चाहिए। सभी विरोधों के समान संघर्ष भी स्वरूपत: विच्छेदक होता है; और व्यावर्तन, पृथकता विघटन का ही एक घटक होता है न ? किसी भी तरह की, वैयक्तिक या राज्य की, सत्ता, कुछ अधिक या कम बनने का कोई भी प्रयास विघटन की ही एक प्रक्रिया है। सभी कल्पना, मान्यता, विचार-प्रणाली व्यावर्तक और अलगावकारी हैं। किसी भी परिस्थिति में प्रयास, संघर्ष कभी आकलन को जन्म नहीं दे सकता, अत: व्यक्ति में तथा समाज में वह विनाशकारी तत्व है।

"तब एकरसात्मकता किसे कहेंगे ? विघटनकारी तत्वों को मैंने कम-अधिक प्रमाण में, समझ लिया है, किन्तु यह हुई केवल नकारात्मक समझ। 'नेति नेति' की प्रक्रिया में से भावरूप एकात्मता तक कोई पहुँच नहीं सकता। गलत या भ्रान्तिपूर्ण क्या है, यह मैं भले जानूँ किन्तु इससे सही या सत्य क्या है, यह मैं जानूँगा ही, ऐसा तो नहीं होता।"

जब भ्रान्ति को भ्रान्ति के रूप में समझा जायेगा, तब सत्य स्वयं ही उद्घाटित होगा—यह बात संशयातीत है। जब कोई विघटनकारी तत्वों का बोध करा लेता हैं, केवल शाब्दिकरूप में नहीं, किन्तु बहुत गहराई में, तब क्या एकरसात्मकता स्वयं ही प्रादुर्भूत नहीं होती ? क्या एकरसात्मकता कोई अचल, जिसे प्राप्त करें और बस पूर्ण विराम दे दें, ऐसी स्थाणुवत् वस्तु है ? एकरसात्मकता कभी लक्ष्य मानकर प्राप्त नहीं की जा सकती, लक्ष्य-प्राप्ति का भाव याने चोटी पर पहुँचने का समाधान मृत्यु ही है। वह कोई आदर्श या साध्य नहीं है, लेकिन वह है एक प्रत्यय की अवस्था स्वयं होने की स्थिति; वह एक जीवन्त वस्तु है, और कोई भी जीवन्त वस्तु लक्ष्य या उद्देश्य कैसे बन सकती है ? एकात्म बनने की आकांक्षा अन्य किसी आकांक्षा से भिन्न नहीं है, और आकांक्षा-मात्र संघर्ष का हेतु बनती है। जब कोई संघर्ष नहीं है, तब एकात्मता ही है। यह एकरसात्मकता सम्यक् अवधान की अवस्था है। यदि प्रयास है संघर्ष, प्रतिरोध या एकाग्रता है, तो सम्यक् अवधान सम्भव नहीं है। एकाग्रता विशिष्ट स्थानबद्धता है, वह एक अलगाव की, व्यावर्तन की प्रक्रिया है और जहाँ व्यावर्तन है वहाँ सम्यक् अवधान असम्भव है। व्यावर्तन का अर्थ है अल्पमर्यादा में सीमित हो जाना, और सीमित को, संकीर्ण को सम्यक्ता का, सम्पूर्णता का अवबोध कभी नहीं हो सकता। सम्पूर्ण समग्र अवधान सम्भव ही

नहीं जहाँ दोषारोपण, समर्थन अथवा तादात्म्य रहता है, किंवा जहाँ मन निष्कर्षों से, अनुमानों से और सिद्धान्तों से धूमिल रहता है। जब अवरोधों का आकलन हमें होता है, तभी केवल स्वतन्त्रता रहती है। कारावासी मनुष्य के लिए स्वतन्त्रता केवल एक अमूर्त कल्पना है; किन्तु क्रियाशून्य तटस्थ अवलोकन अवरोधों को अवगुंठन में से बाहर निकालता है, और इन अवरोधों से मुक्ति पाते ही एकरसात्मकता सहज आविर्भूत होती है।

१३. शील की पवित्रता

खेतों में धान पक रहा था, उसके हरेपन पर सुनहरी छटा आ गयी थी, और अस्तमान सूरज की किरणें उस पर चमक रही थीं। लम्बी, सँकरी नालियों के समान गड्ढों में पानी भरा हुआ था और उसमें गहरा सांध्य-प्रकाश प्रतिबिंबित था। धान-खेतों के किनारों पर तालवृक्ष झुके हुए थे और उन वृक्षों के मध्य दूर-दूर धुँधले मकान बिखरे थे। धान-खेतों के और तालवृक्ष-समूहों के बीच से होकर पगडंडी धीरे से मुड़ती, मुड़ती आगे चली गयी थी। वह पगडण्डी बहुत संगीतमय थी। धान के खेत के सामने बैठकर एक बालक मुरली बजा रहा था। उसका स्वस्थ शरीर निर्मल, कोमल और सुडौल था। अपनी कमर पर उसने केवल एक स्वच्छ, शुभ्र कपड़ा कस लिया था, डूबते सूरज ने उसके चेहरे का अभी-अभी स्पर्श किया था। और उसकी आँखें मुस्करा रही थीं। बाँसुरी पर वह स्वराभ्यास कर रहा था और उससे ऊब जाता था, तब एकाध गीत बजा लेता था। वह इस स्वरावली का सचमुच आनन्द लूट रहा था और उसका आनन्द संक्रामक था। उससे थोड़े ही अन्तर पर मैं बैठ गया, लेकिन उसने बजाना बन्द नहीं किया। वह सांध्य-प्रकाश, खेत का हरा-सुनहरा सागर, ताल-पत्रों पर सूरज की किरणें और यह बाँसुरी बजानेवाला बालक—सबने मिलकर उस संध्या में एक अद्भुत मोहकता उड़ेल दी थी—जो क्वचित् ही भावित होती है। इतने में उसने बजाना बन्द किया और पास आकर बैठ गया। हममें से किसीने एक भी शब्द नहीं कहा, लेकिन वह मुस्कुराया और उससे आसमान मानो व्याप्त हो गया। ताल वृक्षों के बीच छिपे हुए किसी घर से उसकी माँ ने उसे पुकारा। उसने तुरन्त जवाब नहीं दिया, किन्तु तीसरी बार पुकार सुनकर वह उठ खड़ा हुआ, मुस्कुराया और चल दिया। उस गली में, थोड़े आगे एक बालिका किसी तंतुवाद्य पर गा रही थी और उसकी आवाज पर्याप्त मधुर थी। खेत के उस ओर से किसीने उस गीत को पकड़ लिया और सहजता से, मुक्तकण्ठ से गाना शुरू किया। तब कन्या ने

गाना बन्द किया। जब तक उस मर्दानी आवाज ने समाप्त नहीं किया, तब तक वह सुनती रही। अब संध्या छाया घनी हो रही थी। शुक्रतारा खेतों के उस पार क्षितिज पर उग आया और मेढकों की पुकार प्रारम्भ हो गयी।

नारियल, स्त्री और स्वर्ग—इन सबका स्वामित्व हम कितना चाहते हैं। हमें एकाधिपत्य चाहिए और आधिपत्य के कारण हमें वस्तुओं का मूल्य बढ़ा हुआ-सा लगता है। जब हम कहते हैं—'यह मेरा है', तब चित्र अधिक सुन्दर, अधिक मूल्यवान लगने लगता है। उसे अधिक कोमलता, अधिक गहराई तथा परिपूर्णता प्राप्त हुई, ऐसा आभास होता है। स्वामित्व में हिंसा का एक विचित्र गुण-धर्म प्रविष्ट होता है। जिस क्षण कोई 'यह मेरा है' कहता है, तब वह वस्तु सँजोने लायक, रक्षणीय बन जाती है और इस तरह केवल उस क्रिया में ही एक तरह का विरोध खड़ा हो जाता है। यही हिंसा का जन्मस्थान है। हिंसा सदा सफलता का अनुसन्धान करती रहती है; हिंसा है अहम्-तृप्ति। सफलता प्राप्त करना अर्थात् सदैव असफल होना। लक्ष्य तक पहुँचना मृत्यु है और यात्रा तो अनन्त है। इस दुनिया में लक्ष्य-प्राप्ति या विजय-प्राप्ति का अर्थ है जीवन को खो बैठना। किसी लक्ष्य को हम कितने उत्साह से प्राप्त करना चाहते हैं! लेकिन लक्ष्य की पूर्ण प्राप्ति कभी होती नहीं। लक्ष्य तो असीम है और वैसा ही सीमारहित है, उसकी प्राप्ति के लिए चलनेवाला संघर्ष। संघर्ष नित्य चलनेवाली विजयाकांक्षी यात्रा है, और जिस पर विजय पाया उसे बारम्बार पराभूत करना पड़ता है। विजयी वीर सदा भयग्रस्त रहता है और स्वामित्व के कारण उसका जीवन अन्धकार से घिरा रहता है। जो पराभूत है और जिसे विजय की लालसा है, वह पूर्वप्राप्त गँवा देता है और इसलिए उसकी स्थिति भी विजयी के समान ही भय से आक्रान्त है। अपना पात्र सदा रिक्त रखने से ही अमर जीवन पाना सम्भव है।

कुछ समय पहले उस दम्पत्ति ने विवाह किया था और अभी उन्हें कोई सन्तान नहीं थी। वे इतने तरुण लग रहे थे, बाजार की चहल-पहल से कहीं दूर और इतने संकोची भी। उन्हें अपनी बातें शान्तिपूर्वक करनी थीं और वे चाहते थे कि उन्हें उतावली न करनी पड़े, न किसी और को राह भी देखनी पड़े। वैसे दम्पत्ति बहुत अच्छे दीख रहे थे, किन्तु उनकी आँखों में तनाव का प्रतिबिंब था। उनकी मुस्कराहट सहज थी, किन्तु उसके पीछे एक तरह की चिन्ता व्याप्त थी। वे साफ-सुथरे तथा चुस्त दीखते थे, किन्तु उनके आन्तर-संघर्ष की आहट का आभास मिल जाता था। प्रेम एक विलक्षण वस्तु है। कितनी जल्दी वह मुरझा जाता है, कितना शीघ्र धुँवा ज्योति को घेर लेता है। ज्योति न आपकी है न मेरी; वह केवल ज्योति है—निर्मल और परिपूरित। वह न व्यक्तिगत है न अवैयक्तिक, न वह बीते कल की है, न आनेवाले कल की। उसमें एक स्वास्थ्यकारी स्नेहमयता होती है और रहती है

एक सुगन्ध—जिसमें कभी एकरूपता नहीं होती। उसका स्वामित्व सम्भव नहीं है, न उस पर एकाधिकार हो सकता है; अथवा न वह अपने नियन्त्रण में रहती है। यदि उसे जबरदस्ती पकड़ रखें तो वह जलाती है और विनाश करती है। तब धुंवे से अपना सारा अस्तित्व व्याप्त हो जाता है, फिर ज्योति के लिए अवकाश ही नहीं रहता।

पति कह रहे थे कि उन्हें विवाह किये दो साल हुए हैं और अब शांतिपूर्वक वे एक बड़े से नगर के पास रह रहे हैं। उनकी थोड़ी खेतीबाड़ी थी—बीस या तीस एकड़ धान की खेती और फलों का बगीचा; साथ ही कुछ मवेशी थे। उन्हें पशुओं की नस्ल-सुधार में दिलचस्पी थी और पत्नी को स्थानीय अस्पताल के काम में रस था। उनके दिन काम में व्यस्त रहते थे, इसलिए जीवन में एक तरह की परिपूर्ति थी, किन्तु यह परिपूर्ति पलायन के स्वरूप की नहीं थी। उन्होंने जीवन के किसी भी अंग से भाग निकलने की कोशिश नहीं की थी, अपवाद केवल उनके नाते-रिश्ते के वे लोग थे जो परंपरावादी और कुछ उबानेवाले थे। परिवार के विरोध की परवाह न करके उन्होंने विवाह किया था और अपने लोगों से बहुत कम सहायता लेकर, अकेले ही जीवनयापन कर रहे थे। विवाह करने से पहले उन्होंने आपस में बात करके निश्चय किया था कि उन्हें बच्चे नहीं चाहिए।

ऐसा निर्णय क्यों लिया गया?

"हम दोनों समझ गये थे कि इस संसार की पहले ही इतनी भयंकर अवस्था हुई है, उसमें अधिक बच्चे पैदा करना एक तरह का गुनाह ही है। अनिवार्यरूप से आज के समाज में हमारे बच्चे भी या तो केवल नौकरशाही अफसर बनेंगे अथवा किसी एक तरह के धार्मिक-आर्थिक जीवन-पद्धति के गुलाम बनकर रहेगे। परिस्थिति उन्हें मूर्ख, मंदबुद्धि बनाकर छोड़ेगी या फिर वह उन्हें चालाक, कटुतापूर्ण, संशयवादी बना डालेगी। साथ ही बच्चों का शिक्षण योग्य रीति से करने के लिए हमारे पास आवश्यक पैसे भी नहीं थे।"

योग्य रीति से आपका क्या तात्पर्य है?

"बच्चों को अच्छी तरह से शिक्षित करने के लिए केवल यहाँ के स्कूल में ही नहीं बल्कि विदेश में भी उन्हें भेजने की आवश्यकता पड़ती। उनकी बुद्धि का विकास हो, उनमें जीवनमूल्यों का और सौन्दर्य का भान जागे, यह देखना अनिवार्य था और उनका जीवन सम्पन्न तथा सुखी हो, जिससे वे अपने में शान्ति पा सकें, इसकी व्यवस्था भी करनी आवश्यक थी। एक और बात भी निश्चितरूप से करनी चाहिए थी कि उन्हें कोई तकनीकी शिक्षण मिले, किन्तु उससे उनकी आत्मिक हानि भी न हो। इनके उपरान्त एक महत्त्व की बात यह थी कि हम दोनों को स्वयं ही

हम इतने मंदबुद्धि के लगते थे कि हमारी अपनी प्रतिक्रियाएँ तथा संस्कारबद्धता अपने बच्चों में संक्रान्त नहीं करनी चाहिए, यह हमारी धारणा बनी। अपने ही परिवर्तित उदाहरण हम प्रसारित करें ऐसा हम नहीं चाहते थे।"

क्या आपका ऐसा कहना है कि विवाह करने से पहले इन सब बातों का तर्कसंगत विचार आप दोनों ने किया था ? आपने तो एक अच्छी खासी वचनबद्धता ही कर ली थी। लेकिन जितनी आसानी से उसे तैयार किया था, उतनी सहजता से उसका पालन करना क्या संभव था ? जीवन एक शाब्दिक वचनबद्धता से कुछ अधिक जटिल है, है न ?

"यही तो अब हमारे ध्यान में आ रहा है। हममें से किसीने भी ये सारी बातें, विवाह से पहले या बाद में, अन्य किसीसे कही नहीं; और यही हमारी महत्त्व की कठिनाई रही। जिस व्यक्ति से हम मुक्तरूप से बात कर सकें, ऐसे कोई गतवयस्क व्यक्ति हमें ज्ञात नहीं थे, क्योंकि अधिकतर वयोवृद्ध हमारा विरोध करने में या हमारी पीठ थपथपाने में एक प्रकार का दर्पयुक्त आनन्द लूटते थे। हमने आपका एक प्रवचन सुना और आपके पास आकर अपनी समस्या की चर्चा करने की इच्छा हम दोनों की हुई। दूसरी एक बात भी स्पष्ट कर दूँ : विवाह से पूर्व हमने व्रत लिया कि हमारे बीच कोई यौन-सम्बन्ध नहीं होगा।"

फिर से पूछना चाहूँगा कि, ऐसा व्रत आप लोगों ने क्यों लिया ?

पति बोला : "हम दोनों बहुत धार्मिक वृत्ति के रहे हैं और हमें आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की इच्छा थी। मैं लड़का था तभी से मेरी आकांक्षा थी कि मैं संसारी न बनूँ और एक संन्यासी का जीवन बिताऊँ। मैं अनेक धार्मिक ग्रंथ पढ़ता था और उनके वाचन से मेरी यह आकांक्षा अधिक ही तीव्र बनी। वस्तुतः मैंने तो करीब सालभर गेरुए वस्त्र भी पहने।"

और आपने भी ?

पत्नी—"मैं इनके जितनी बुद्धिमान और पढ़ी-लिखी नहीं हूँ। लेकिन मेरे जीवन की पार्श्वभूमि भी गहरी धार्मिकता की रही। मेरे दादाजी की काफी अच्छी नौकरी थी। फिर भी अपनी पत्नी और बच्चों को छोड़कर वे संन्यासी बने थे। अब मेरे पिताजी भी वही करना चाहते हैं। अब तक मेरी माँ ने उन्हें रोक रखा है, किन्तु एक दिन वे भी निकल जानेवाले हैं। मुझमें भी धार्मिक जीवन जीने की वही प्रेरणा है।"

तो फिर आपने विवाह किया ही क्यों ?

"हम एक-दूसरे का साथ चाहते थे," पति ने कहा, "हम एक-दूसरे से प्रेम करते थे और हमारी वृत्तियों में एक तरह की समानता थी। हम बहुत तरुण थे, तभी से हम दोनों को इस बात का अंदाज था और विधिवत् विवाह करने में कोई हर्ज

है ऐसा हमें नहीं दिखा। यौन-सम्बन्ध न रहते हुए, बिना विवाह के ही साथ रहने का हमने सोचा था, लेकिन इससे अनावश्यक कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती थीं। विवाह के उपरान्त करीब एक वर्ष तक बहुत अच्छी तरह से सब कुछ चला, किन्तु हमारी पारस्परिक उत्कंठा सर्वथा असह्य बनती गयी। अन्त में वह इतनी असहनीय हो गयी कि मैं बहुत दूर निकलकर जाने लगा। मैं अपना काम कर नहीं सका, न अन्य किसी विषय का विचार कर सका; उच्छृङ्खल स्वप्न मुझे आने लगे। मैं उदास और चिड़चिड़ा बन गया, भले ही हम दोनों की जिह्वा पर कोई कठोर शब्द आये नहीं। हममें परस्पर प्रेम था और शब्द या कर्म से एक-दूसरे पर आघात करना शक्य ही नहीं था; किन्तु मध्याह्न के सूरज जैसे हम एक-दूसरे के लिए तपते थे। तब अन्ततः आपके पास पहुँचकर आपसे बात करने का निर्णय किया। हम दोनों ने मिलकर लिया हुआ व्रत अब आगे चलाते रहना मेरे लिए अक्षरशः असंभव है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य की क्या अवस्था होती है, इसकी आप कल्पना नहीं कर सकते।"

और (पत्नी से) आपका क्या कहना है ?

"ऐसी कौन-सी स्त्री होगी जो अपने प्रियतम से सन्तान नहीं चाहेगी ? इस तरह की प्रेम करने की उत्कट शक्ति मुझमें है, इसका मुझे पता ही नहीं था। मेरे लिए भी दिन और रातें असह्य वेदना में और विह्वलता में बीतती थीं। मुझे वातोन्माद-दौरा, हिस्टीरिया हो गया और छोटी-छोटी बातों पर मुझे रोना आने लगा; महीने में कभी तो भयाक्रान्त अवस्था में समय बिताना पड़ता। मुझे आशा लगी रहती थी कि कुछ न कुछ परिवर्तन आयेगा, लेकिन एक-दूसरे से काफ़ी चर्चा करने पर भी कोई खास परिणाम नहीं निकला। फिर समीप ही एक अस्पताल खुल गया और वहाँ पर सहायता करने के लिए मुझसे पूछा गया। अपनी परिस्थिति से दूर निकल जाने का मौका पाकर मुझे अत्यानन्द हुआ। किन्तु फिर भी समस्या सुलझी नहीं। इन्हें प्रतिदिन इतना निकट देखकर—" "अब वह व्यथित होकर रोने लगी।" इसलिए आपसे पूरी बात करने के लिए हम आये हैं; बताइये, आपकी क्या सलाह है ?"

स्वयं अपने-आप को दण्ड देना—यह क्या धार्मिक जीवन है ? शरीर या मन का दमन करना क्या समझदारी का लक्षण है ? क्या स्वयं पीड़ा सत्य की खोज की राह है ? क्या जीवन का इनकार या आत्मवंचना करने से शुद्धशीलता आयेगी ? आपको क्या ऐसा लगता है कि सर्वसंग परित्याग से आपकी प्रगति हो सकेगी ? क्या आपकी सचमुच यह धारणा है कि संघर्ष के द्वारा परम शान्ति संभव है ? लक्ष्य से क्या साधन ही अनंतगुना महत्त्वपूर्ण नहीं है ? साध्य प्रत्यक्ष 'हो सकता है', किन्तु

साधन तो प्रत्यक्ष 'है' ही। जो वास्तव है, जो प्रत्यक्षतः है, उसका आकलन करना आवश्यक है; न कि व्रतों का, आदर्शों का, चातुर्यपूर्ण तार्किक समर्थनों का आवरण डालकर उसे दबाना। दुःख निरामय सुख का मार्ग नहीं है। जिसे विकार-वासना कहते हैं, उसका आकलन करना चाहिए, उसका दमन या उन्नयन नहीं, और उसका विकल्प खोजना व्यर्थ ही है। जिस वासना को नियंत्रित करने के लिए आप जो कुछ करेंगे, जो भी युक्ति निकालेंगे, उससे वह अधिक ही तीव्ररूप धारण करेगी, यदि आप उसे प्रेमपूर्वक समझेंगे नहीं। जिसे हम विकार-वासना कहते हैं, उस पर प्रेम करने का अर्थ है उसे समझना। प्रेम करने का अर्थ है आंतर-संवाद साधना। यदि आप किसी वस्तु का तिरस्कार करेंगे, उसके विषय में पूर्व संकल्पना और निष्कर्ष निश्चित करेंगे, तो आप उससे प्रेम कर ही नहीं सकेंगे। यदि आपने वासना के विरोध में व्रत लिया है, तो उसे प्रेम करना और समझना आपके लिए संभव कैसे है? व्रत एक तरह का प्रतिरोध है, और जिसका आप प्रतिरोध करते हैं, वह अन्त में जाकर आपको जीत लेता है। सत्य को जीत नहीं सकते, आप उससे लड़कर उसे पराभूत नहीं कर सकते; उसे पकड़ रखने की चेष्टा करेंगे तो आपके हाथों से छूटकर निकल जायेगा। सत्य आता है बिना आहट के, नीरव, मौन; आपके अनजाने ही। आपको जो ज्ञात होता है, वह सत्य नहीं है; वह तो केवल एक कल्पना, एक प्रतीक है। छाया सत्य नहीं होती।

बात तो निस्संशय ऐसी है कि स्वयं का आकलन करना और विनाश न होने देना, यह हमारी समस्या का स्वरूप है। विनाश तो अपेक्षाकृत सहज है। आपके पास निश्चित ढंग से कर्म करने की एक पद्धति होती है और आप आशा करते हैं कि वह आपको सत्य की ओर ले जायेगी। कार्य-पद्धति सदैव आपकी अपनी बनायी हुई होती है; वह आपके अपने संस्कारबन्ध के अनुरूप होती है; और लक्ष्य भी उसी तरह से निश्चित किया होता है। आप एक ढाँचा, पद्धति, तैयार करते हैं और फिर उसे जीवन में प्रत्यक्ष उतारने के लिए व्रत लेते हैं। यह तो आपका स्वयं से चरम सीमा का पलायन हुआ। आप कोई स्व-प्रक्षेपित पद्धति और उसकी प्रक्रिया नहीं हैं; जो प्रत्यक्ष में है, इच्छा, तीव्र लालसा—वही आप हैं। आप यदि सचमुच इस तीव्र वासना से ऊपर उठना चाहते हैं, तो आपको उसका स्वरूप पूर्णतः समझना होगा; उसे आप न दोषित करेंगे, न उसका स्वीकार; किन्तु यह तो एक कला है जो केवल अत्यन्त गहरी तटस्थतापूर्वक किये अवलोकन में से स्वयं अंकुरित होती है।

"आपके कुछ प्रवचन मैंने पढ़े हैं और आपका अभिप्राय मैं समझ सकता हूँ। किन्तु प्रत्यक्ष में हमें क्या करना होगा?"

यह जीवन तो आपका है, सुख आपका है, दु.ख भी आपका है; तब अन्य कोई व्यक्ति यह बताने की कैसे हिम्मत करे कि आपको क्या करना चाहिए, क्या नहीं

करना चाहिए ? क्या दूसरों ने पहले भी आपको बताया नहीं है ? ये जो अन्य लोग हैं वे हैं—अतीत, परम्परा और वही संस्कारबन्ध, जिनके आप स्वयं एक अंग हैं। आपने अन्यों की बातें सुनी हैं, अपनी भी सुन ली हैं, और तब यह विपरीत प्रसंग आप पर आया है। फिर भी आप दूसरों की सलाह, याने अपनी ही सलाह पूछ रहे हैं ? आप सुन जरूर लेंगे, किन्तु जो आपके मनोनुकूल होगा, वही आप स्वीकारेंगे, और जो मन के विपरीत होगा, दुःखद होगा उसका परित्याग करेंगे—और ये दोनों बन्धनकारी हैं। विकार के विरोध में व्रत लेने से आपके कष्टों का प्रारम्भ हो गया, जैसे विकार में रममाण होने से भी हो जाता। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण है—आदर्श की, व्रत लेने की, अनुशासन की, वेदना की समूची प्रक्रिया समझना। यह तो है अपने आंतरिक दारिद्रय से, एकाकीपन और आंतरिक अधूरेपन की चुभन से अत्यन्त गंभीर पलायन। यह सारी की सारी प्रक्रिया आप स्वयं हैं।

"किन्तु सन्तानोत्पत्ति के विषय में आप क्या कहेंगे ?"

फिर वही कहूँगा, 'हाँ' भी नहीं और 'ना' भी नहीं। मन के द्वारा उत्तर खोजना व्यर्थ ही है। हम अपने सन्तानों का उपयोग अपनी अहंता की शतरंज में प्यादों के समान करते हैं, और व्यथाओं का अम्बार लगाते जाते हैं। स्वयं से पलायन के एक अन्य माध्यम के रूप में हम उनका उपयोग करते हैं। जब बच्चों का साधन-स्वरूप उपयोग नहीं किया जाता, तब उनका जो विशिष्ट महत्त्व रहता है, वह कभी आप, समाज या राज्य द्वारा दिये गये महत्त्व के जैसा नहीं होगा। ब्रह्मचर्य अथवा शील का पावित्र्य मन की वस्तु नहीं है। शील प्रेम का स्वभाव ही है। प्रेम के बिना, आप कितना भी कुछ कीजिये, शुद्धशीलता सम्भव नहीं। यदि प्रेम है तो आपके प्रश्न का सही उत्तर आप पायेंगे।

यह दम्पत्ति उस कमरे में काफी समय तक सर्वथा स्वस्थ, शांत बैठा रहा। शब्द तथा अन्य संकेतों की मर्यादा आ चुकी थी।

१४. मृत्यु का भय

घर के सामने लाल मिट्टी के आँगन में तुरही के आकार के, सुनहरे केसरवाले कितने ही पुष्प खिले थे। उनकी पंखुड़ियाँ बड़ी-बड़ी और फीके जामुनी रंग की थी, और एक नाजुक सुवास उनमें थी। दिनभर में उनका अस्तित्व ही मिट जायेगा, किन्तु रात के अंधेरे में उन्होंने लाल धरती को आच्छादित कर दिया था। प्रातःकालीन सूर्य में चमकनेवाले नकाशीदार पत्तों से सजी वह लता बहुत सशक्त

थी। कुछ बच्चे लापरवाही से फूलों को पैरों तले कुचलते चले गये और जल्दी-जल्दी में अपनी मोटर में चढ़नेवाले एक आदमी ने तो उनकी तरफ देखा तक नहीं। एक राहगीर ने फूल तोड़कर उसका सुवास लिया और उसे हाथ में लेकर आगे निकल भी गया, लेकिन तुरन्त ही उसे रास्ते पर गिरा दिया। एक स्त्री—जो नौकरानी रही होगी—घर के बाहर आयी और एक फूल तोड़कर उसने अपने बालों में लगा लिया। वे फूल कितने सुन्दर थे और कितनी जल्दी सूर्य प्रकाश में वे मुरझाते गये।

"मैं सदा ही किसी न किसी प्रकार के भय से आक्रान्त रहा। बचपन में मैं बहुत डरपोक, संकोची और अतिसंवेदनशील रहा; और अब वार्धक्य तथा मृत्यु से भयभीत हूँ। मैं जानता हूँ कि हम सबको एक दिन मरना ही है, लेकिन कितने ही बौद्धिक तर्क देने पर भी यह भीति शान्त नहीं होती। साइकिकल रिसर्च सोसायटी —अतीन्द्रिय शोध संस्थान—के साथ मैंने सम्बन्ध जोड़ा। मैं उनकी कुछ बैठकों में गया और प्रबोधनकारी महान् व्यक्तियों के मृत्युविषयक लेख भी पढ़े; लेकिन मृत्यु का भय अभी भी पूर्ववत् है। मैंने मनोविश्लेषण का प्रयोग भी करके देखा, फिर भी उसका कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। यह भय सचमुच में मेरे लिए एक समस्या ही बन गया है। मध्य रात्रि में भयंकर स्वप्नों के कारण मैं जग जाता हूँ, और वे सारे स्वप्न किसी न किसी प्रकार से मृत्यु से सम्बन्धित होते हैं। हिंसा और मृत्यु से, मैं बहुत विचित्र ढंग से भयभीत हूँ। युद्ध मेरे लिए एक नित्य चलनेवाला दुःस्वप्न था; और अब मैं वास्तव में बहुत बेचैन हूँ। यह तंत्रिका-रोग नहीं है, लेकिन मैं देख सकता हूँ कि एक दिन मुझे वह हो ही जायेगा। इस भय को नियंत्रित करने के लिए जो भी कुछ कर सकता था, सब मैंने करके देखा है; उससे दूर भागने का मैंने प्रयत्न किया, परन्तु इस पलायन के अन्त में मैंने पाया कि उसे मैं झटक कर फेंक नहीं सका हूँ। पुनर्जन्म पर कुछ मूर्खतापूर्ण प्रवचन भी मैंने सुने हैं, और इस सन्दर्भ में उपलब्ध हिन्दू और बौद्ध साहित्य का भी कुछ अध्ययन मैंने किया है, लेकिन कम से कम मेरे लिए तो, यह सब बहुत ही असमाधानकारक रहा। मैं केवल एक सतही अर्थ में मृत्यु से भयभीत नहीं हूँ, किन्तु यह भय बहुत गहरा है।"

मृत्यु की ओर, भविष्य की ओर, अनागत काल की ओर आप किस दृष्टि से देखते हैं? इस विषय में आप सत्य की खोज करने का प्रयास कर रहे हैं या आपको केवल आश्वासन देनेवाले, मृत्योपरान्त जीवन सातत्य या विनाश के बारे में संतोषकारक किसी विवेचन की अपेक्षा है? आपको सत्य चाहिए या समाधानकारी उत्तर?

"जब आप इस तरह से बात रखते हैं, तब मेरे ध्यान में सचमुच नहीं आ रहा है कि मैं किस बात से भयभीत हूँ; लेकिन यह भी सही है कि मुझे भय लगता है और अत्यधिक लगता है।"

आपकी समस्या क्या है ? आप भय से मुक्ति चाहते हैं या मृत्यु के संदर्भ में सत्य क्या है, यह जानने की आपकी इच्छा है ?

"मृत्यु के सन्दर्भ में सत्य—से आपका क्या तात्पर्य है ?"

मृत्यु एक अनिवार्य तथ्य है; आप कुछ भी कीजिये, वह अपरिवर्तनीय, अन्तिम और सत्य है। किन्तु मृत्यु से परे जो है, उसका सत्य स्वरूप क्या आप जानना चाहते हैं ?

"मैंने जो अध्ययन किया और मृतात्माओं के मूर्तिकरण को जिन कुछ बैठकों में मैंने देखा, उस पर से निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि किसी प्रकार का मृत्योपरान्त जीवन-सातत्य होना चाहिए; विचार-सातत्य एक प्रकार से चलता रहता है, यह आपने कभी कहा है। जैसे गीत, शब्द और चित्र—इन सबके प्रसारण में दूसरे छोर पर ग्रहण करनेवाले यन्त्र की आवश्यकता होती है, वैसे ही मरणोत्तर विचार के लिए अभिव्यक्ति के साधन आवश्यक हैं। यह साधन कोई एक मानवीय माध्यम हो सकता है अथवा स्वयं विचार किसी अन्य प्रकार से मूर्तिमत हो सकता है। यह सब बहुत स्पष्ट है और इस पर प्रयोग करके यह समझा भी जा सकता है। यद्यपि मैं इस विषय में काफी गहराई तक गया हूँ, फिर भी मुझे मृत्यु से सम्बन्धित एक अपार भीति महसूस होती है, ऐसा मेरा खयाल है।

मृत्यु अटल है। सातत्य समाप्त किया जा सकता है, अथवा उसे परिपुष्ट करके स्थायी रखा जा सकता है। जिसका सातत्य होता है, वह स्वयं अपना पुनर्नवीनीकरण कभी कर नहीं सकता; वह कभी नया नहीं बन सकता, न अज्ञात का परिचय कभी पा सकता है। सातत्य है कालावधि में बद्ध, और जो अनन्तकाल तक चलता ही रहेगा। वह कभी कालातीत नहीं है। कालावधि के माध्यम से कालातीत अनुभवगम्य नहीं होता है। नव आविष्कार के लिए सातत्य का अन्त होना आवश्यक है। विचार में अनुस्यूत काल के जाल में नवीन पकड़ा नहीं जाता। विचार है काल के अन्तर्गत सतत चलनेवाली गतिमानता। यह गतिमानता अपने में उस जीवन्त अवस्था को वन्दी नहीं बना सकती, जो कालातीत है। विचार की आधारशिला है अतीत; उसका अस्तित्व ही कालात्मक होता है। काल केवल पंचांग की क्रमिक गणना नहीं है, वह विचारात्मक भी होता है, जिसका स्वरूप अतीत की वर्तमान से अनागत की ओर चलनेवाली गतिमानता का रहता है; वह स्मृति, शब्द, चित्र, प्रतीक, अंकन, पुनरावृत्ति—इन सबकी गतिमानता है। विचार या स्मृति, शब्द तथा पुनरावृत्ति के द्वारा सतत चलते रहते हैं। विचार की परिसमाप्ति नवीनता का प्रारम्भ है; विचार की मृत्यु शाश्वत जीवन है। अनादि-अनन्तता ही नवीनता का प्रकट होने के लिए प्रतिक्षण परिसमापन आवश्यक है।

जो नवीन है वह सातत्यपूर्ण नहीं होता; नवीनता कालक्षेत्र के अन्तर्गत कभी समा नहीं सकती। नवीनता होती है क्षण-क्षण की मृत्यु में। प्रतिदिन मृत्यु आवश्यक है, ताकि अज्ञात प्रकट हो सके। परिसमाप्ति वस्तुतः प्रारम्भ है; परन्तु भय परिसमाप्ति में रुकावट डालता है।

"मैं जानता हूँ कि मुझमें भय है, और उसके परे क्या है, यह मुझे मालूम नहीं।"

भय से हमारा अभिप्राय क्या है? भय क्या है? भय का कोई अमूर्त अस्तित्व नहीं है, वह स्वतन्त्र, अलग से मौजूद नहीं है। किसीसे सम्बन्धित होकर वह अभिव्यक्त होता है। सम्बन्ध की प्रक्रिया में भय अपने-आप को प्रकट करता है, सम्बन्ध से पृथक् कोई भय होता ही नहीं। अब बताइये, आप किससे भयभीत हैं? आप कह रहे हैं कि आपको मृत्यु का भय लगता है। मृत्यु से हमारा क्या तात्पर्य है? हमारे पास सिद्धान्त हैं, विवेचना है और कुछ निरीक्षण सुलभ तथ्य हैं, लेकिन मृत्यु फिर भी अज्ञात ही है। उसके विषय में हमें कितना ही कुछ मालूम होता होगा, प्रत्यक्ष मृत्यु को ज्ञात के क्षेत्र में कभी ला नहीं सकते, उसे पकड़ने के लिए अपना हाथ हम आगे बढ़ा देते हैं, किन्तु वह तो उसमें आता ही नहीं। साहचर्य है ज्ञात और अज्ञात कभी परिचित के घेरे में दाखिल हो नहीं सकता। आदत उसे पकड़ नहीं सकती, इसलिए भय है।

मन है ज्ञात का वर्तुल, क्या वह कभी अज्ञात को समझ सकेगा? अथवा उसे कभी अपने में समा सकेगा? आगे बढ़ाया हुआ हाथ केवल ज्ञेय को पा सकता है, वह अज्ञेय को नहीं पा सकता। अनुभव की इच्छा करना याने विचार को सातत्य प्रदान करना; अनुभव की कांक्षा रखना याने अतीत को बलवन्त बना देना; अनुभूति का आग्रह रखने का अर्थ है ज्ञात के क्षेत्र का विस्तार करना। मृत्यु की अनुभूति आप चाहते हैं, हैं न? जीवित रहते हुए मृत्यु को आप जानना चाहते हैं, किन्तु जीने का अर्थ आप जानते हैं? आप तो जीवन को केवल संघर्ष, संभ्रम, शत्रुत्व, क्षणिक सुख और दुःख—इन स्वरूपों में ही जानते हैं। किन्तु क्या यही है जीवन? क्या संघर्ष और दुःख जीवन है? जिसे हम जीवन कहते हैं—ऐसी एक अवस्था में हमें उस विलक्षण वस्तु का अनुभव चाहिए जो हमारी अपनी चेतना के कक्ष की है ही नहीं। हमारी वेदना, संघर्ष, प्रसन्नता में व्यक्त होनेवाली घृणा—यही तो हमारे जीवन का आशय है—जिसे हम जीवन कहते हैं। ऐसी एक वस्तु का अनुभव हम चाहते हैं, जो हमारे जीवन की कल्पना की ठीक विरोधी है। यह विरोधी कल्पना जो प्रत्यक्षतः 'है', उसी का सातत्य है, शायद परिवर्तित सातत्य है। लेकिन मृत्यु किसीका विरोधी तत्त्व नहीं है, वह तो है अज्ञात। ज्ञेय को तीव्र

लालसा है मृत्यु की, अज्ञात का अनुभव करने की; किन्तु वह चाहे जो करे, मृत्यु की अनुभूति कर नहीं सकता, इसलिए वह भयभीत है। यही बात है न ?

"आपने वस्तुस्थिति को स्पष्ट किया है। यदि मैं जीते-जी मृत्यु के स्वरूप का अनुभव करूँ, या उसे जान लूँ, तो निश्चित ही भय समाप्त होगा।"

आप मृत्यु की अनुभूति कर नहीं सकते, इसी से आप उससे डरते हैं। जो अवस्था चेतनमन के द्वारा उत्पन्न नहीं की गयी, क्या उसे अनुभूत करना चेतन के लिए संभव है ? जो अनुभूत किया जा सकेगा, वह तो है चेतन का, ज्ञात का प्रक्षेपण। ज्ञात केवल ज्ञात का ही अनुभव कर सकता है; अनुभव सदा ही ज्ञात-कक्षा के अंतर्गत होता है; ज्ञात अपने क्षेत्र से परे अनुभूति के लिए, अपना चरण बढ़ा ही नहीं सकता। अनुभव से अनुभवन अत्यंत भिन्न है। अनुभवन अनुभविता के क्षेत्र सीमा में नहीं आता; लेकिन जैसे ही अनुभवन की अवस्था विलुप्त होती है, अनुभविता और अनुभव उत्पन्न हो जाते हैं; और तब अनुभवन ज्ञात के क्षेत्र में आ जाता है। ज्ञात याने अनुभविता अनुभवन की अवस्था के लिए, अज्ञात के लिए तड़पता रहता है; और चूंकि अनुभविता, ज्ञाता अनुभवन की अवस्था में प्रविष्ट नहीं हो सकता, वह भयभीत रहता है। वह स्वयं ही भय है, वह भय से पृथक् नहीं है। भय का अनुभव करनेवाला भय का द्रष्टा नहीं है; वह है भय स्वयं, भय का साक्षात् उपकरण।

"आप भय का क्या अर्थ लेते हैं ? मैं जानता हूँ कि मैं मृत्यु से भयभीत हूँ। मुझे ऐसा नहीं महसूस होता कि मैं स्वयं भय 'हूँ', लेकिन मैं किसी वस्तु 'से' भयभीत हूँ। मुझे भय लगता है और मैं भय से पृथक् हूँ। भय है एक संवेदन। वह 'मैं' से भिन्न है, और यह 'मैं' भय की ओर देख रहा है, उसका विश्लेषण कर रहा है। मैं हूँ द्रष्टा और भय है दृश्य। द्रष्टा और दृश्य एक ही कैसे हो सकते हैं ?"

आप कहते हैं कि आप हैं द्रष्टा और भय है दृश्य। लेकिन क्या सचमुच ऐसा ही है ? अपने गुणधर्मों से पृथक् क्या आप स्वतंत्र हस्ती हैं ? क्या आप अपने गुणधर्मों से अभिन्न नहीं हैं ? क्या आप स्वयं ही आपके विचार, भावनाएँ इत्यादि नहीं हैं ? आपके गुणधर्मों से, विचारों से आप पृथक् हैं नहीं। 'आप हैं' अपने विचार। विचार 'आप' का सृजन करता है; और यह 'आप' स्वतंत्र हस्ती के रूप में मान्यता प्राप्त है। विचार के बिना, विचारक है नहीं। विचार स्वयं की अनित्यता देखकर विचारक का शाश्वत, नित्य के रूप में सृजन करता है; और तब विचारक बनता है अनुभविता, विश्लेषक, दृष्टा—जो क्षणिक से पृथक् है। किसी प्रकार की शाश्वतता की तीव्र चाह हम सबमें रहती है, और अपने चारों ओर अशाश्वतिका नर्तन देखकर विचार शाश्वत समझे जानेवाले विचारक को उत्पन्न करता है। उसके बाद विचारक अन्य और श्रेष्ठ नित्य अवस्थाओं का निर्माण करने के लिए आगे बढ़ता है :

जीवात्मा, आत्मन्, एक उच्चतर अहम् इत्यादि। इस सम्पूर्ण संरचना की आधार-शिला है—विचार। किन्तु वह तो एक दूसरी ही बात है। हमें भय के बारे में सोचना है। क्या है यह भय नाम की वस्तु? चलिये, इसका स्वरूप हम देखें।

आप कहते हैं कि आपको मृत्यु से भय लगता है। आप उसका अनुभव नहीं कर सकते, इसलिए आप भयभीत हैं। मृत्यु है अज्ञात, और आपको अज्ञात की भीति है। आपकी समस्या ठीक यही है न? अब कहिये, क्या आप किसी ऐसी वस्तु से भयभीत हो सकते हैं, जो आपकी परिचित नहीं है? यदि कोई वस्तु आपके लिए अज्ञात है, तो आप उससे भयभीत कैसे हो सकते हैं? वास्तव में आपको अज्ञात का, मृत्यु का भय नहीं है, बल्कि ज्ञात के विलोपन का है; क्योंकि इससे शायद आपको वेदना होगी; ज्ञात से वंचित होने के कारण आपका भोग-विलास, आपकी तृप्ति छिन जायेंगे। वस्तुतः ज्ञात ही भय का कारण होता है, अज्ञात नहीं। अज्ञात भय का कारण हो ही कैसे सकता है? उसे तो सुख-दुःख की परिभाषा में नापना-तोलना संभव नहीं; वह तो है संपूर्ण रूप से अज्ञात।

भय स्वतः अस्ति के रूप में निरपेक्ष खड़ा नहीं हो सकता, किसी वस्तु से संबंधित होकर वह अभिव्यक्ति पाता है। प्रत्यक्षतः आप मृत्यु से संबंधित ज्ञात से भयभीत हैं, ठीक ऐसा ही है न? आप ज्ञात से चिपटे रहते हैं, अनुभूति से चिपके रहते हैं, इसलिए आप अनिश्चित भविष्य से भयग्रस्त हैं। किन्तु जो भावी है, अनागत है—वह तो केवल एक प्रतिक्रिया है, एक अनुशीलन है, जो वास्तविक 'है' उसकी केवल विरोधी कल्पना है; ऐसा ही है न?

"जी हाँ, आप ठीक कह रहे हैं, ऐसा दीखता है।"

और जो आप जानते हैं, जो वास्तव में है, क्या उसका आकलन आपको होता है? क्या आपने कभी ज्ञात की आलमारी खोलकर उसके अन्दर झाँककर देखा है? क्या उसके अनावृत अन्तरंग के दर्शन की कल्पना से आप भयभीत नहीं हैं? जो आपका है, याने जो ज्ञात है, उसे समझने के उद्देश्य से कभी पृच्छा की है आपने?

"जी नहीं, मैंने नहीं की पृच्छा। सदैव ज्ञात को मैंने गृहीत ही माना। अपने अतीत को मैंने वैसे ही स्वीकार कर लिया, जैसे कोई सूर्य प्रकाश और वर्षा का स्वीकार करता है। जैसे अपनी छाया के विषय में मनुष्य अचेत रहता है, लगभग वैसे ही भूतकाल के लिए मानवीय मन अचेत रहता है। अब आपने उसका वर्णन किया, तब मैं सोचता हूँ कि अतीत के अन्तर्गत जो भी कुछ पाऊँगा, उससे भी मैं भयभीत हो जाऊँगा।"

क्या हममें से बहुसंख्य लोग स्वयं की ओर देखने से डर महसूस नहीं करते? शायद हम दुःखद वास्तविकता अनावृत करेंगे, इसलिए न देखना ही ज्यादा अच्छा है, ऐसा मानकर हमें जो 'है' उसका अज्ञान ही पसन्द है। हमें केवल अना-

गत के संभाव्य स्वरूप से डर लगता है ऐसा नहीं, वर्तमान के रूप से भी हमें भय लगता है। हमारा वास्तविक स्वरूप समझने में हम डर महसूस करते हैं और यह वास्तविकता का परिवर्तन ही हमारे लिए 'संभाव्यता का भय निर्माण करता है। जैसे हम तथाकथित ज्ञात की ओर भय-दृष्टि को अपनाते हैं, उसी तरह, अज्ञात तथा मृत्यु के लिए भी भयचकित रुख अपनाते हैं। जो 'है' उसे टाल कर वर्जित कर देना, यह भोगतृप्ति की इच्छा ही है। हमारे जीवन में सुरक्षा की अभिलाषा और विक्षेपरहित सुख की सतत अपेक्षा रहती है, और इनके कारण ही हममें वास्तविकता को टालने की और संभाव्य से डरने की वृत्ति निर्माण होती है। वास्तविकता का अज्ञान ही भय का रूप लेता है, इसी से हमारा संपूर्ण जीवन नित्य भयभीत अवस्था में बीतता है।

"किन्तु इस भय से मुक्ति किस तरह संभव होगी?"

जिससे मुक्त होना चाहते हैं, उसका आकलन होना अत्यावश्यक है। क्या सचमुच में भय है, अथवा केवल न देखने की इच्छा है? न देखने की इच्छा के कारण ही भय उत्पन्न होता है; और जब वास्तविकता के सम्यक् महत्त्व को समझना आप नहीं चाहते, तब आपको रोकने के लिए निवारक बनकर भय काम करता है। समझ-बूझकर वस्तुस्थिति का दर्शन टालकर आप तृप्तिकर जीवन व्यतीत कर सकते हैं और बहुत से लोग यही करते हैं; किन्तु वे प्रसन्न नहीं हैं, न वे भी प्रसन्न हैं जो वास्तविकता का सतही अध्ययन करके अपना मनोरंजन कर लेते हैं। केवल उन्हींको परम सुख का अवबोध प्राप्त होता है जिनमें उत्कट और गहरी जिज्ञासा होती है; वे ही केवल भयमुक्त होते हैं।

"तब जो वास्तव है, उसका सम्यक् आकलन कैसे होता है?"

जो वस्तुत: है, उसका दर्शन संबंधों के दर्पण में होता है, और ये जीवन की सभी अभिव्यक्तियों के साथ के संबंध हैं। एकाकीपन में या जीवन से हटकर प्रत्याहार में वास्तविकता का यथार्थ आकलन संभव नहीं है। उसे समझना सर्वथा असंभव है, यदि जीवन का कोई भाष्यकार समझाने आवें अथवा स्वीकार या अस्वीकार करनेवाले कोई अनुवादक खड़ा हो जाय। जो 'है' उसका सम्यक् आकलन उसी मन के लिए संभव है, जो पूर्णरूप से क्रियाशून्य, तटस्थ है, जब वह वास्तविकता पर अपनी क्रियाशीलता से आघात नहीं करता।

"इस तटस्थ अवबोध की अवस्था में जीना क्या अत्यन्त कठिन नहीं है?"

अवश्य कठिन है, जब तक विचार रहेगा।

१५. विचारक और उसके विचारों की एकरूपता

वह एक छोटी, किन्तु बहुत सुन्दर पुष्करणी थी। उसके किनारे हरियाली से आच्छादित थे, और जल तक कुछ सीढ़ियाँ पहुँची थीं। उसके एक छोर पर छोटा-सा धवल मन्दिर विराजमान था और चारों ओर ऊँचे, पतले तालवृक्ष खड़े थे। मन्दिर का शिल्प दृढ़ और मनोरम था। ऐसा दीखता था कि उसकी सारसम्हाल बहुत अच्छी हो रही है। वह एकदम स्वच्छ था, और तालवृक्षों के पीछे सूरज छिपने के समय वहाँ किसीकी भी आहट नहीं थी, यहाँ तक कि जो पुजारी बहुत पूज्यभाव से मन्दिर और उसकी सारी चीज-वस्तु सम्हालता था, वह भी नहीं आया था। उस छोटे से अलंकाररूप मन्दिर ने पुष्करणी के लिए निगूढ़ शान्ति का वातावरण प्रदान किया था। वह स्थान कितना नीरव था, पंछी भी निःशब्द थे। तालवृक्षों को झुलानेवाला हलका-सा समीर अब मन्द पड़ रहा था, और कुछ मेघ, अस्तमान सूरज से प्रदीप्त होकर आकाश में विचरण कर रहे थे। कमल पत्रों के आसपास सरोवर में एक सर्प तैर रहा था। जल बहुत निर्मल था और गुलाबी तथा जामुनी कमल पुष्प उसमें खिले थे। उनका रमणीय सुवास पानी पर और हरे-भरे किनारों पर महक रहा था। अब उस पूरे दृश्य में कुछ भी हिलता-डुलता नहीं था और उसके सम्मोहक जादू ने मानो सारी पृथ्वी को व्याप्त कर दिया था। किन्तु कैसी थी उन कमल पुष्पों की मनोरम सुन्दरता। सब एकदम निस्तब्ध थे और एक-दो तो अपनी पंखड़ियों को समेट कर अंधेरे को बाहर करके रात के लिए अपने द्वार बन्द करने की तैयारी में थे। सर्प पुष्करणी को पार करता हुआ किनारे पर चढ़ आया था और अब उसके निकट से निकल रहा था; उसकी आँखें चमकीली काली मणियों के समान तेज थी और उसकी द्विभाजित जिह्वा उसे मार्गदर्शन करने के लिए उसके आगे ज्वाला के समान खेलती बढ़ रही थी।

सत्यदर्शन में कल्पना और अटकलबाजी बाधा बन जाता है। जो मन तर्क—अटकलबाजी में रम जाता है, उसे कभी वास्तविकता का सौन्दर्य ज्ञात नहीं होता; वह अपनी स्वयं की ही निर्मित प्रतिमाओं के और शब्दों के जाल में फँसा रहता है। अपने प्रतिमा-निर्माण में वह कितना ही दूर क्यों न भटक जाय, स्वयं की संरचना की छाया छोड़कर अपना चरण वह बाहर डाल नहीं सकता है, इसलिए स्वयं से परे कभी कुछ देख नहीं सकता। संवेदनशील मन कल्पनाप्रवण मन नहीं है। प्रतिमा-सृजन की क्षमता मन को मर्यादा में डाल देती है; ऐसा मन अतीत के साथ बद्ध होता है, स्मृति शृंखला में जकड़ा जाता है, इससे संवेदनशून्य, कुंद बना रहता है। केवल निःशब्द मन ही संवेदनशील होता हैं। किसी भी प्रकार की संग्राहकता एक बोझ

है; और जो मन बोझ से दब जाता है वह मुक्त कैसे हो सकता है ? केवल मुक्त मन ही संवेदनशील होता है; खुला मन सूक्ष्म, अव्यक्त, अज्ञात है। कल्पनाप्रवणता और अटकलबाजी खुलेपन को, संवेदनशील को अवरुद्ध करती है।

वे कह रहे थे कि सत्य की खोज में उन्होंने बहुत वर्ष लगाये थे। अनेक आचार्य तथा गुरुओं के पास वे रह चुके थे। उनकी यात्रा अभी भी जारी थी और चलते-चलते वे यहाँ जिज्ञासा-तृप्ति के लिए रुक गये थे। उनका शरीर सूरज की कड़ी धूप में तपा हुआ और घुमक्कड़ी होने के कारण कृश हुआ था; वे एक तपस्वी थे और संसार का परित्याग करके उन्होंने अपना दूरवर्ती देश छोड़ दिया था। कुछ साधना पद्धतियों का अभ्यास करके उन्होंने बहुत कष्ट से एकाग्रता सीखी थी और अपनी वासना को नियंत्रित किया था। वे अच्छे विद्वान् दीखते थे, अनेक उद्धरणों से अपनी बातें स्पष्ट करते थे, वादविवाद में पारंगत और अपने निष्कर्ष निकालने में तेज थे। उनका संस्कृत का ज्ञान अच्छा था, उसके नादमय शब्दप्रयोग उनके लिए सहज थे। इन सबके कारण उनके मन को एक विशिष्ट तीक्ष्णता आयी थी; लेकिन जो मन तीक्ष्ण, पैना बनाया गया है, वह लचीला, मुक्त नहीं होता।

आकलन के लिए, खोज के लिए क्या प्रारम्भ से ही मन का मुक्त होना आवश्यक नहीं है ? अनुशासित, निरुद्ध मन क्या कभी मुक्त हो सकता है ? मुक्ति अन्तिम लक्ष्य नहीं है, उसे तो प्रारम्भ में ही होना चाहिए, चाहिए न ? जो मन अनुशासित है, नियंत्रित है, वह अपने ही सीमित प्राकार में स्वतंत्र होता है, लेकिन यह मुक्ति नहीं है। अनुशासन का लक्ष्य है अनुरूपता, उसका पथ ज्ञात की ओर ले जाता है, और ज्ञात का वर्तुल कभी भी मुक्त नहीं होता। अनुशासन अपने साथ भय को लेकर चलता है और उसका स्वरूप है कुछ न कुछ प्राप्त करने की अभिलाषा, गृद्ध-वृत्ति।

"इन सब अनुशासनबद्ध साधना पद्धतियों में कुछ मूलभूत भूल है, यह बात मेरे ध्यान में आ रही है। यद्यपि इच्छित आदर्श के अनुरूप अपने विचारों को आकार देने का प्रयास मैं कई वर्षों से करता रहा हूँ, फिर भी मैं कहीं भी पहुँच नहीं रहा हूँ, ऐसा मुझे दीखता है।

यदि साधन अनुकरणात्मक है तो साध्य निश्चित रूप से उसकी प्रतिलिपि ही होगी। साधन ही साध्य को बनाता है, बनाता है न ? यदि प्रारम्भ में मन को आकार दिया जाता है, तो अन्त में भी वह संस्कारों में अनुबद्ध ही रहेगा; और ऐसा आकारबद्ध मन कभी मुक्त कैसे होगा ? साधन ही साध्य है, ये दो पृथक् प्रक्रियाएँ नहीं हैं। गलत साधना के द्वारा सही साध्य प्राप्त कर सकते हैं, यह मान्यता एक भ्रम है। जब निरोध ही साधन होगा, तब अन्तिम साध्य भी भय का ही उत्पादक होगा।

"साधना पद्धतियों की योग्यता का एक धुंधला-सा भान मुझे होता आया है, भले ही मैं उनका अभ्यास करता रहा हूँ, और आज भी करता हूँ। अब तो उनकी मेरे जीवन में एक अचेत आदत-सी बन चुकी है। बचपन से ही मेरी शिक्षा एक अनुवर्तन की प्रक्रिया रही और जब से यह पोशाक मैंने धारण की है तभी से साधना का अनुशासन मेरे लिए लगभग नैसर्गिक वृत्ति ही बन गया है। मेरे पढ़े हुए अनेक ग्रंथ और सभी गुरु, किसी न किसी रूप में, दमन, नियंत्रण ही सुझाते आये हैं, और मैं किस तरह उनकी सलाह मानता गया, इसकी आप कल्पना नहीं कर सकेंगे। इसलिए आप जो कह रहे हैं, उसे तो लगभग अधार्मिकता ही कहेंगे। मेरे लिए तो यह एक सचमुच ही मानसिक आघात है किन्तु निश्चितरूप से यह सत्य भी है। क्या मेरा अब तक का सारा-जीवन व्यर्थ गया?"

आपका अब तक का जीवन व्यर्थ गया ऐसा तब मानते, यदि आपके साधना-भ्यास के कारण आकलन और सत्यग्रहण में अवरोध निर्माण होता, यदि इन बाधाओं को आपने तटस्थ बुद्धि से, गहराई से देखा और समझा नहीं होता। अपने ही गृहीत विश्वासों के जाल में फँसे रहने के कारण हममें से अधिकतर व्यक्ति इन बाधाओं की ओर या उनसे परे देखने का साहस ही नहीं करते। समझने की प्रेरणा ही मुक्ति का प्रथम चरण है। तब कहिये हमारी समस्या क्या है?

"मैं सत्य की खोज कर रहा हूँ और विविध प्रकार की साधना-पद्धतियों के तथा अभ्यास के द्वारा मैं सत्य पाना चाहता हूँ। मेरी गहरी सहज प्रवृत्ति मुझे सत्य की खोज और प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है। मुझे अन्य किसी वस्तु में कोई दिलचस्पी नहीं है।"

आइये, हम दूर जाने के लिए निकट से ही प्रारम्भ कर लेते हैं। शोध का आप क्या अर्थ करते हैं? क्या आप सत्य का शोध करके उसके दर्शन चाहते हैं? तब वह क्या शोध करने से प्राप्त होगा? सत्य का शोध करने के लिए आपको उसका स्वरूप मालूम होना चाहिए। शोध में अभिप्रेत है पूर्व ज्ञान; ऐसा कुछ हम खोजने निकलते हैं, जो पहले से ही महसूस होता है, क्यों, ऐसा ही है न? क्या सत्य इस प्रकार का कुछ है, जो जाना जायेगा, एकत्रित करके उसे पकड़कर रखा जायेगा? क्या उसका पूर्व-सूचन अतीत का प्रक्षेपण नहीं है? और इसलिए क्या वह, सत्य होना तो दूर, केवल स्मृतिरूप ही नहीं होगा? शोध में एक बाह्यवर्ती अथवा एक आन्तर्वर्ती प्रक्रिया अभिप्रेत है। ठीक ऐसा ही है न? सत्य के प्राकट्य के लिए मन की निस्तब्धता आवश्यक है न? शोध करने का अर्थ है अधिक या कम प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना। वह भावरूप या अभावात्मक संग्रह की वृत्ति है। जब तक मन एकाग्र है, प्रयास और संघर्ष का केन्द्ररूप है, तब तक वह कभी निस्तब्ध हो सकता है? क्या प्रयत्न के द्वारा मनःशान्ति संभव है? उसे जबरदस्ती से शांत

किया जा सकता है, किन्तु जो "किया" या "बनाया" जाता है, उसे तोड़ा या बिगाड़ा भी जा सकता है।

किन्तु किसी न किसी प्रकार का प्रयत्न क्या आवश्यक नहीं है ?"

अभी देख लेते हैं। आइये, हम शोध का सत्यस्वरूप समझ लेते हैं। खोजने के लिए किसी शोधकर्ता की आवश्यकता है, एक ऐसी हस्ती आवश्यक है जो शोध्य वस्तु से पृथक् हो। क्या ऐसी स्वतन्त्र हस्ती कहीं अस्तित्व में है ? क्या विचारक या अनुभविता अपने विचारों से या अनुभवों से भिन्न अथवा पृथक् होता है ? इस समूची समस्या के आकलन के लिए जब तक हम गहराई में, जिज्ञासा के साथ, नहीं उतरते, तब तक ध्यान का कोई अर्थ ही नहीं है। इसलिए हमें मन का आकलन करना होगा, अहम् की पूरी प्रक्रिया समझनी होगी। जो मन खोज करता है, चुनाव करता है, जो भयभीत होता है और जो समर्थन तथा खण्डन करता है, उसका स्वरूप क्या है ? विचार का अपना स्वरूप कैसा है ?

"समस्या की ओर अब तक मैंने इस दृष्टि से देखा ही नहीं है, और अब मैं कुछ संभ्रमित हुआ हूँ, लेकिन आप कृपापूर्वक आगे कहिये।"

विचार एक संवेदन है, है न, ? इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के और संस्पर्श के द्वारा संवेदन होता है; इसमें से यह चाहिए, वह नहीं चाहिए, इस तरह की इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा तादात्म्य का प्रारंभ है—तादात्म्य याने—यह 'मेरा' है, और वह 'मेरा नहीं' है। विचार है शब्दरूप संवेदन; विचार है स्मृति का प्रतिसाद—याने शब्द, अनुभूति, प्रतिमा। विचार क्षणिक परिवर्तनशील अनित्य है, और उसे शाश्वत की, नित्य की खोज रहती है। इसलिए विचार विचारक का सृजन करता है; यह विचारक तब शाश्वत बन जाता है। वह दोषदर्शी की, मार्गदर्शक की, नियंत्रक की, विचार को आकार देनेवाले शिल्पी की भूमिका स्वीकारता है। यह भ्रान्तिजन्य शाश्वत इकाई केवल क्षणजीवी विचार की कृति है। यह इकाई मात्र विचार 'है'। विचार के बिना उसकी हस्ती है ही नहीं। विचारक गुणधर्मों का बना हुआ है, उसके गुणधर्मों को उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। नियन्त्रक ही नियन्त्रित है, वह तो एक ठगी का खेल अपने साथ खेल रहा है। जब तक मिथ्या, मिथ्या के रूप में साक्षात् नहीं किया जाता, तब तक सत्य अनावृत नहीं होता।

"तब यह द्रष्टा, अनुभवकर्ता, यह हस्ती—जो कहती है—'मैं समझ रहा हूँ,' वह कौन है ?"

जितने समय तक अनुभविता अनुभूति का स्मरण करता है, तब तक सत्य प्रकट नहीं होता। सत्य ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका स्मरण किया जाय, जिसे संग्रहीत करके रखा जाय, जिसका अंकन किया जाय और तब उसे बाह्यतः व्यक्त किया

जाय। जो संग्रहीत है, वह सत्य नहीं है। अनुभूति की अभिलाषा से अनुभविता का सृजन होता है, जो फिर संग्रह करके स्मरण करता है। इच्छा के कारण विचारक अपने विचारों से पृथक् हो जाता है; कुछ न कुछ बनने की आकांक्षा, अनुभव करने की इच्छा, कुछ अधिक या अल्प बन जाने की अभिलाषा, अनुभवकर्ता और अनुभव के बीच विभाजन करती है। इच्छा की इन कार्यपद्धतियों के अवबोधन में स्वयं का, अहम् का ज्ञान होता है। यह अहम्-ज्ञान ही ध्यान का प्रारम्भ है।

"विचारक की उसके विचारों के साथ एकरूपता किस प्रकार हो सकती है?"

यह एकरूपता इच्छा-प्रेरित कर्म के द्वारा; अनुशासन के द्वारा, किसी प्रयास के माध्यम से, नियमन या एकाग्रता से, नहीं हो सकती। न अन्य किसी साधन के द्वारा हो सकती है। साधन के उपयोग में कोई कर्ता निहित है, जो कर्म कर रहा है, कर्ता गृहीत है न? जब तक कोई कर्ता है, तब तक विभाजन रहेगा। उनका एकीकरण तब होता है जब मन, निस्तब्ध होने का प्रयत्न किये बिना, स्वतः पूर्णरूप से शान्त हो जाता है। यह निस्तब्धता, सम्यक् शान्ति, स्वयं ही होती है, उस समय नहीं जब विचारक समाप्त होता है, किन्तु केवल तभी जब विचार स्वयं ही समलीन हो जाता है। संस्कारबन्ध के प्रतिसाद से याने विचार से मुक्ति आवश्यक है। हर समस्या सुलझ जाती है, जब कल्पना, निष्कर्ष नहीं रहता, निष्कर्ष, कल्पना, विचार—ये सब हैं मन की विक्षुब्धता। जब मन विक्षुब्ध होगा, तब आकलन कैसे हो सकता है? सहज-स्फूर्ति के चपल खेल से आन्तरिक उत्कटता संतुलित, कोमल होनी चाहिए। यदि आपने जो कुछ कहा गया है उसे ध्यान से सुना होगा तो, आप देखेंगे कि सत्य उन क्षणों में प्रकट होता है, जब आप उसके प्राकट्य की अपेक्षा नहीं करते। मैं सुझाना चाहूँगा कि आप खुले, संवेदनशील रहिये, प्रत्येक क्षण-क्षण में जो 'है' उसका सम्यक् अवबोध रखिये, अपने चारों ओर अभेद्य विचार की दीवाल मत खड़ी करिये। सत्य का परमानन्द उस मन पर अभिषेक करता है, जो अपने ही क्रियाकलापों में और संघर्षों में व्यस्त नहीं रहता है।

१६. सत्ता का अनुसरण

गाय प्रसववेदना से विह्वल थी। जो दो-तीन लोग उसे दोहने के लिए, खिलाने-पिलाने के लिए और सफाई आदि करने नित्य उसकी सेवा में थे, वे अब उसके निकट खड़े थे। वह उनकी तरफ देख रही थी और कोई एक भी, किसी कारण से दृष्टि से ओझल होता तो वह बहुत सौम्यता से रँभाती हुई उसे पुकारती थी। इस कष्टप्रद समय में वह अपने सारे मित्रों को अपने निकट चाहती थी। वे सब उसके पास थे और इससे उसे समाधान था, फिर भी उसका कष्ट तो असह्य था ही। शीघ्र ही एक छोटी-सी सुन्दर बछिया ने जन्म लिया। गाय उठकर खड़ी हो गयी और अपने नवजात बच्चे के चारों ओर घूमने लगी, वह बार-बार उसे हलका-सा स्पर्श करने लगी। वह इतनी आनन्द विभोर थी कि हम सबको अपने निकट आने ही नहीं देती थी। उसकी आनन्दमग्नता का यह अपूर्व व्यवहार बहुत देर तक चलता रहा। आखिर वह थककर रुक गयी। हमने बछिया को स्तनपान के लिए उसके पास पकड़कर बढ़ाया, किन्तु गोमाता तो बहुत विचलित थी। वह अन्त में शान्त तो हो गयी, लेकिन हमें जाने देने को बिलकुल तैयार नहीं थी। बहनों में से एक जमीन पर उसके पास बैठ गयी, तब नवप्रसूता उस गौ ने लेटकर अपना माथा उसकी गोद में रख लिया। अचानक अपनी बछड़ी के लिए उसकी सारी प्रेमाभिव्यक्ति समाप्त हो गयी और अपने सेवाभावी मित्र ही सबसे महत्त्वपूर्ण उसे लगने लगे। अभी तक वातावरण बहुत ठंडा था, किन्तु अब सूर्य पहाड़ियों के पीछे से आकाश में ऊपर चढ़ रहा था और हवा में ऊष्मा बढ़ने लगी।

वे सरकार के मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य थे। अपने महत्त्वपूर्ण पद का भान उनमें, कुछ संकोच के साथ जागृत था। अपने लोगों के प्रति जो उत्तरदायित्व उन्हें महसूस होता था, उस विषय में वे बोल रहे थे। विरोधी दल से उनका दल कैसे श्रेष्ठ था, अधिक अच्छी तरह से वह सेवाकार्य में कैसा लगा था, किस तरह उनके पक्ष की भ्रष्टाचार तथा काला बाजार समाप्त करने की कोशिश चल रही थी—इसका सारा स्पष्टीकरण उन्होंने किया। उनका कहना था कि प्रामाणिक और फिर भी कार्यक्षम कार्यकर्ता मिलना बहुत कठिन था। आवश्यक कार्य सरकार नहीं करती है—इस तरह टीका और निन्दा करना तो पक्षबाह्य लोगों के लिए कितना सरल था। वे आगे कहते रहे कि जब आयु अधिक हो जाती है तब उनके जैसे लोगों को इन सब चीजों को बहुत सहजता से लेना चाहिए। किन्तु बहुत से लोग सत्ता के लोभी होते हैं, विशेष करके जिनमें कार्यक्षमता एकदम शून्य होती है। चित्त की गहराई में हम सब दुःखी हैं और स्वार्थ साधने के लिए ही वस्तुतः निकले हैं, यद्यपि

हममें से कुछ आन्तरिक सुख के अभाव को और सत्तापिपासा को छिपाने में बहुत चतुर हैं। यह सत्ता-प्राप्ति की लालसा लोगों में क्यों होती है। उन्होंने पूछा।

सत्ता से हमारा क्या अभिप्राय है ? प्रत्येक व्यक्ति और लोकसमूह सत्ता के पीछे लगे हैं; स्वयं के लिए सत्ता, दल के लिए अथवा विचार-प्रणाली के लिए सत्ता— सब चाहते हैं। दल और विचार-प्रणाली —ये स्वयं का ही विस्तार है। तपस्वी यम-नियमों के द्वारा सत्ता चाहता है और माता अपने बच्चे के माध्यम से वही चाहती है। कार्यक्षमता की एक निर्मम सत्ता होती है, वैसे ही चुने हुए कुछ लोगों के हाथों में यंत्र-शक्ति होती है। एक व्यक्ति पर दूसरे का अधिकार चलता है। बुद्धिहीनों का शोषण बुद्धिमान करते हैं। पैसे की सत्ता, कीर्ति की, शब्द की सत्ता और भौतिक विश्व पर मन की सत्ता आक्रमण करती है—ये सब सत्ता के ही विविध रूप हैं। हम सबको किसी न किसी प्रकार की सत्ता का मोह रहता है—स्वयं अपने पर अथवा दूसरों पर। यह सत्ता की आकांक्षा एक तरह का सुख, तृप्ति लाती है, जो नितान्त क्षणभंगुर नहीं है। त्याग की सत्ता सम्पत्ति की सत्ता के समान ही होती है। इच्छा-तृप्ति की, सुखी होने की लालसा हमें सत्ता के पीछे दौड़ाती है। और कितनी आसानी से हम संतुष्ट हो जाते हैं। सुलभता से प्राप्त हुआ संतोष हमें अन्धा बना देता है। सब तरह की इच्छा-तृप्ति हमारी आँखें बन्द कर देती है। यह सत्ता हम किसलिए चाहते हैं ?

"मुझे लगता है कि मुख्यरूप से इसलिए कि वह हमें भौतिक सुख-चैन, सामाजिक प्रतिष्ठा और समाज स्वीकृत माध्यमों के द्वारा सम्मान्यता प्राप्त करा देती है।"

क्या सत्ता की लालसा हमारे अस्तित्व के केवल एक ही स्तर पर मौजूद है ? क्या हम उसे आन्तर और बाह्य —दोनों रूपों में नहीं चाहते ? ऐसी यह चाह क्यों है ? हम अधिसत्ता की पूजा क्यों करते हैं ? फिर वह सत्ता भले ग्रंथ की हो, व्यक्ति की हो, राज्य की हो अथवा मान्यताओं की हो। किसी व्यक्ति या कल्पना के साथ चिपटे रहने की यह प्रेरणा हममें क्यों है ? इतिहास में कभी एक समय पुरोहित की अधिसत्ता ने हमें शृंखलाबद्ध किया था और आज हम पर विशेषज्ञ की; निष्णात की अधिसत्ता हावी है। जिस व्यक्ति के पास पद है, श्रेष्ठ स्थान है, जो व्यक्ति शक्तिशाली अधिशासक है—इसके साथ आप कैसा व्यवहार करते हैं— इसका आपने कभी ध्यानपूर्वक निरीक्षण नहीं किया है ? किसी न किसी प्रकार की सत्ता हमारे जीवन पर अधिराज्य चलाती है; भले ही वह एक की अनेक पर सत्ता हो, एक द्वारा दूसरे का उपयोग हो अथवा परस्पर का उपयोग हो।

"दूसरे का उपयोग करने का अर्थ क्या है ? कृपया आप इसका अर्थ स्पष्ट करें।"

वह तो बहुत स्पष्ट है, है न ? हम एक-दूसरे का उपयोग पारस्परिक इच्छा-तृप्ति के लिए करते हैं। आज से समाज की संरचना—याने हमारे पारस्परिक संबंध—आवश्यकता और उपयुक्तता के आधार पर–खड़े हैं। आपको सत्ता में आने के लिए वोटों (मतों) की आवश्यकता है; आपको जो चाहिए उसे प्राप्त करने के लिए आप लोगों का उपयोग करते हैं और लोगों को जो चाहिए उसका आश्वासन आप देते हैं। स्त्री को पुरुष की आवश्यकता है और पुरुष को स्त्री की। वर्तमान काल में हमारे संबंध आवश्यकता और उपयोग पर आधृत हैं। इस तरह के संबंध में हिंसा अन्तर्निहित है और इसलिए अपने समाज की आधारशिला ही हिंसा है। जब तक सामाजिक संरचना, पारस्परिक आवश्यकता और उपयोगिता पर निर्भर है, तब तक वह हिंसक और विच्छेदक ही रहेगी; मेरी वैयक्तिक वासना तृप्ति के लिए, अथवा जिस विचार-प्रणाली के साथ मेरा तादात्म्य है उसकी व्यावहारिक सफलता के लिए, जब तक मैं दूसरे का उपयोग करता हूँ, तब तक केवल भय, अविश्वास तथा विरोध ही पनपेंगे। इसलिए संबंध स्वयं को पृथक् करनेवाली और विघटनकारी प्रक्रिया बनकर रह जाता है। यह सब व्यक्तिगत जीवन में और-सामाजिक व्यवहार में दुःखद रूप से स्पष्ट है।

"किन्तु पारस्परिक आवश्यकता के बिना तो जीवन जीना ही असंभव है।"

मुझे प्रक्रिया की आवश्यकता है, किन्तु मेरी आन्तरिक लालसा को तृप्त करने के लिए यदि मैं उसका उपयोग करता हूँ, तो सामाजिक आवश्यकता मानसिक अत्यावश्यकता में परिवर्तित हो जाती है, और हमारा पारस्परिक संबंध मूलतः परिवर्तित हो जाता है। मानसिक दृष्टि से वह दूसरे की आवश्यकता और उपयोग ही हिंसा और दुःखद कष्ट को जन्म देती है। मानसिक आवश्यकता के कारण सत्ता की खोज प्रेरित होती है और अपने अस्तित्व के विभिन्न स्तरों पर वासनातृप्ति के लिए सत्ता उपयोग में लायी जाती है। जो मनुष्य अपने लिए या अपने दल के लिए महत्त्वाकांक्षी बनता है, अथवा जो किसी लक्ष्य की प्राप्ति चाहता है, वह निश्चितरूप से समाज में एक विघटनकारी तत्त्व बनकर रहता है।

"क्या महत्वाकांक्षा अनिवार्य नहीं है ?"

वह केवल तब तक ही अनिवार्य है, जब तक व्यक्ति में मूलभूत परिवर्तन नहीं आता। हमें महत्त्वाकांक्षा को अनिवार्य रूप में क्यों स्वीकार करना चाहिए ? क्या मनुष्य का मनुष्य के साथ क्रूरता का व्यवहार अनिवार्य है ? क्या आप इसे समाप्त करना नहीं चाहते ? और इसे अनिवार्य मानना क्या नितान्त विचारशून्यता का निदर्शक नहीं है ?

"यदि दूसरों के साथ आप क्रूर-व्यवहार नहीं करेंगे तो दूसरा कोई आपके

साथ क्रूरता से पेश आ सकता है, इसलिए आपको दूसरों की पहुँच से परे, सबके ऊपर, चोटी पर पहुँचना ही पड़ता है।"

प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समूह और विचार-प्रणाली यही चाहती है कि स्वयं चोटी पर ही बनी रहे और इसी कारण से क्रूरता और हिंसा को पोषण मिलता है। केवल शान्त परिस्थिति में ही सृजन संभव है और यदि पारस्परिक उपयोग चलता रहेगा तो शान्ति कैसे संभव है? जब तक सबके साथ हमारे संबंध आवश्यकता तथा उपयुक्तता पर अवलंबित हैं, तब तक शान्ति की बात करना भी नितांत अर्थशून्य है। दूसरे की आवश्यकता और उपयोगिता अनिवार्य रूप से सत्ता और प्रभुत्व की ओर ले जाती है। विचार की सत्ता और तलवार की सत्ता दोनों एकसमान ही हैं; दोनों ही विनाशक हैं। विचार और विश्वास मनुष्य को मनुष्य के विरोध में खड़ा करते हैं, और तलवार यही करती आयी है। विचार और मान्य विश्वास प्रेम की ठीक विरोधी शक्तियाँ हैं।

"तब हम सचेत या अचेत अवस्था में इस सत्ता-तृष्णा के भोग बनकर क्यों घुलते रहते हैं?"

क्या सत्ता-प्राप्ति की दौड़, स्वयं से, जो 'है' उससे, पलायन का एक सर्वमान्य और प्रतिष्ठा-प्राप्त मार्ग नहीं है? अपनी अपूर्णता से, स्वयं के आन्तरिक दारिद्रय से, एकाकीपन और पृथकता से, हर कोई व्यक्ति, दूर भाग निकलने की कोशिश में रहता है। जो प्रत्यक्षत: 'है', वह तो अप्रिय है, लेकिन पलायन-माध्यम मोहक और आकर्षक लगता है। यदि आपकी सत्ता, आपका स्थान और आपकी कष्ट-प्राप्त सम्पत्ति आपसे कोई छीन ले, तब क्या होगा, सोचिये तो? आप उसका प्रतिरोध करेंगे या नहीं? सामाजिक कल्याण के लिए आप अपने को अत्यावश्यक समझते हैं, इसलिए आप तीव्रता से प्रतिरोध करेंगे, अथवा बुद्धियुक्त और चतुर दलीलों को पेश करके विरोध करेंगे। यदि स्वेच्छा से आप अपने विविध स्तरों के संग्रहों का परित्याग कर सकेंगे, तो आप कुछ रहेंगे ही नहीं, एकदम नाचीज बन जायेंगे, बनेंगे न?

"मुझे लगता है कि मैं नहीं के बराबर हो जाऊँगा। और यह बहुत दुःखदायक होगा। निश्चित ही मैं नहीं चाहता कि मैं नाचीज बनूं।"

तब आपके पास केवल बाह्य दिखावा रहेगा, आंतरिक सत्व से खाली, आन्तर अविकृत, अविनाशी बहुमूल्य निधि से रिक्त मात्र नाटक! आपको अपना बाह्यवर्ती दिखावा चाहिए, अन्य लोगों को भी वही चाहिए। फिर इस संघर्ष की भूमि से अंकुरित होती है घृणा, भय, हिंसा और विनाश। आपके विरोधियों के समान ही आप स्वयं और आपकी विचार-प्रणाली भी अधूरी है, और इसलिए आप

दोनों ही एक-दूसरे को शान्ति के नाम से, पर्याप्तता के नाम से, उचित रोजगारी के, अथवा ईश्वर के नाम से नष्ट कर रहे हैं। हर व्यक्ति चोटी पर पहुँचने के लिए लालायित है, इसलिए हमने हिंसात्मक, संघर्षमय और शत्रुत्वकारी समाज को विकसित किया है।

"लेकिन इन सबको जड़मूल से समाप्त करने का क्या उपाय है ?'

इनका उपाय है—महत्त्वाकांक्षा का परित्याग; सत्ता के लिए, कीर्ति तथा पद-प्रतिष्ठा के लिए लोभ न करना। नकारात्मक विचारणा प्रज्ञा का श्रेष्ठ आविष्कार है।

"किन्तु मेरे अकेले के प्रयासों से संसार में चलनेवाली क्रूरता और हिंसा समाप्त नहीं हो सकती और सभी अन्य व्यक्तियों में परिवर्तन होने के लिए क्या अनन्त काल तक राह नहीं देखनी पड़ेगी ?"

यह अन्य व्यक्ति आप स्वयं ही हैं। आपका यह प्रश्न, आपके स्वयं के तत्क्षण परिवर्तन को टालने की इच्छा में से निर्माण हुआ है, हुआ है न ? परिणामतः आप कह रहे हैं : "यदि बाकी सारे लोग बदलेंगे नहीं, तो मेरे बदलने से क्या लाभ होगा ?" दूर जाने के लिए मनुष्य को निकट से प्रारंभ करना पड़ता है। वस्तुतः आप बदलना चाहते ही नहीं; वस्तुस्थिति जैसी है, वैसी ही चलती रहे, यही आप चाहते हैं, विशेष करके यदि आप शिखर पर विराजमान होंगे तो। इसलिए आप कहते हैं कि व्यक्तिगत परिवर्तन के द्वारा संपूर्ण संसार में परिवर्तन लाने के लिए अनन्तकाल लगेगा। संसार आप स्वयं हैं, और स्वयं आप ही समस्या हैं; समस्या आपसे पृथक् नहीं है। यह संसार आपका ही प्रक्षेपण मात्र है, आप जैसे हैं, वैसे ही अपरिवर्तित रहेंगे, तब तक विश्व का परिवर्तन भी संभव नहीं है। सम्यक् परिवर्तन में ही परमसुख निहित है, अर्जन और प्राप्ति में नहीं।

"लेकिन मैं साधारणतः सुखी हूँ अर्थात् मुझमें कितनी ही कमियाँ हैं, जो मुझे पसन्द नहीं, परन्तु उनकी ओर ध्यान देने का न मेरे पास समय है न रुचि ही।"

केवल सुखी मनुष्य ही नयी समाज व्यवस्था का निर्माण कर सकता है; किन्तु ऐसा मनुष्य सुखी नहीं है जिसका किसी विचार प्रणाली के साथ अथवा आस्था के साथ तादात्म्य हो, किंवा जो किसी सामाजिक या वैयक्तिक क्रिया-कर्म में खो चुका हो। परमसुख स्वयं अपने-आप में साध्य नहीं है; जो 'है' उसके आकलन के साथ सुख स्वयं होकर आ जाता है। जब मन स्वयं के प्रक्षेपणों से मुक्त होता है, केवल तभी परमसुख का आविर्भाव हो सकता है। खरीदा हुआ सुख केवल वासनातृप्ति है; कर्म के द्वारा या सत्ता के माध्यम से पाया हुआ सुख केवल संवेदन है; और संवेदन

जिस तरह क्षणभर में क्षीण होता है, उसी तरह अधिकाधिक पाते जाने की लालसा तीव्र होती रहती है। जब तक यह अधिकता सुख का साधन है, तब तक अन्त में नित्य असंतोष, संघर्ष और दुःख-कष्ट ही है। परम सुख स्मृतिरूप नहीं है, वह ऐसी एक अवस्था है जो सत्य के साथ आविर्भूत होती है, जो नित-नूतन है और कभी भी निरंतर नहीं रहती।

१७. संवेदनशून्यता

उनकी छोटी-सी नौकरी से होनेवाली कमाई बहुत ही कम थी। वे अपनी पत्नी के साथ आये थे और वह चाहती थी कि उनकी समस्या के विषय में बात हो। वे दोनों तरुण थे और विवाह को हुए कुछ साल हो चुके थे, फिर भी उन्हें कोई सन्तान नहीं थी। किन्तु उनकी समस्या सन्तानहीनता की नहीं थी। वर्तमान कठिन समय में उनकी आय निर्वाह के लिए बहुत मुश्किल से पर्याप्त होती थी। बच्चे न होने के कारण उनके छोटे-से गृहस्थ-जीवन में आर्थिक संकट महसूस नहीं होता था। आगे भाग्य में क्या लिखा है, कोई मनुष्य नहीं जानता, हालांकि आज की परिस्थिति से भविष्य अधिक कठिन, कष्टदायक हो नहीं सकता था। पति के लिए बोलना अरुचिकर दीखता था, लेकिन पत्नी ने समझाकर आग्रहपूर्वक उन्हें बोलने के लिए राजी किया। पत्नी उन्हें मानो जबरदस्ती से ले आयी थी, ऐसा महसूस होता था, क्योंकि बहुत अनिच्छा से वे आये थे; लेकिन पत्नी के कहने पर वे आये थे और इससे पत्नी को खुशी थी। उन्होंने कहा कि वे खुलकर, सहजता से बोल नहीं सकते थे, क्योंकि अपनी पत्नी के सिवा अन्य किसीसे अब तक स्वय के विषय में कभी उन्होंने बात नहीं की थी। उनके अपने निकटवर्ती मित्र बहुत कम थे और जो थे उनके समक्ष भी उन्होंने कभी अपना हृदय खोला नहीं था। उन्हें भय था कि उनके मित्र उन्हें समझ नहीं पायेंगे। जैसे-जैसे अपनी बात वे कहते गये, वैसे-वैसे उनका संकोच द्रवित होता गया, और उनकी पत्नी कुछ चिन्तित होकर सुनती रही। उन्होंने स्पष्ट किया कि समस्या उनके काम के सम्बन्ध में नहीं थी; दफ्तर का काम उनके लिए बहुत कुछ रुचिकर ही था और वह अन्न-जल की व्यवस्था तो करता ही था। वे दोनों सरल और सुशील लोग थे और दोनों का शिक्षण किसी विश्वविद्यालय में हुआ था।

अन्ततः पत्नी को ही अपनी समस्या के विषय में बोलकर प्रारम्भ करना पड़ा। वह कह रही थी कि गत एक-दो वर्ष से उनके पति के लिए जीवन की सारी

रुचि समाप्त हो गयी है। वे शुष्क, रसशून्य हो गये हैं। अपने दफ्तर का काम वे करते थे और बस, इतना ही सब कुछ था; वे सवेरे काम पर जाते थे और शाम को सीधे घर लौट आते थे और उनके नियोजकों को उनके बारे में कोई शिकायत नहीं थी।

पति ने बात आगे बढ़ाते हुए कहा, "मेरा काम नित्यक्रमिक है और उसमें बहुत ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। अपने काम में मुझे रुचि है, लेकिन अब वह भी एक तनाव बन गया है। मुझे दफ्तर में या वहाँ के साथियों के कारण कोई कठिनाई नहीं है। कठिनाई है मेरी अपनी, आन्तरिक। जैसा कि अभी मेरी पत्नी ने कहा, जीवन में मुझे कोई रस महसूस नहीं होता और मुझे हो क्या गया है, यह समझ में नही आता।"

ये पहले सदा उत्साही, संवेदनशील और बहुत स्नेहमय थे, लेकिन पिछले एक-दो वर्ष से बहुत कुण्ठित और सभी वस्तुओं से विरक्त-से हो गये हैं। सदैव मेरे साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करते थे, किन्तु अब हम दोनों के जीवन पर उदासीनता छा गयी है। मैं घर में हूँ या नहीं, इसकी इन्हें अब विशेष चिन्ता नहीं दीखती और एक ही घर में रहना भी कष्टप्रद हो गया है। ऐसा भी नहीं कि ये कठोर बन गये हैं और इस तरह का कुछ फेरबदल इनमें हुआ है, किन्तु केवल भावशून्य और नितान्त उदासीन बन चुके हैं, इतना निश्चित है।"

क्या बच्चे न होने के कारण ऐसी स्थिति हो गयी है?

"ऐसा नही है," उन्होंने कहा। हमारा दाम्पत्य-सम्बन्ध अधिकांश ठीक ही है। कोई भी विवाह-सम्बन्ध आदर्श नहीं होता और हमारे जीवन में भी चढ़ाव-उतराव आये हैं, लेकिन मुझे नहीं लगता कि यह निरुत्साह वैवाहिक जीवन के असामञ्जस्य के कारण आया है। यद्यपि मेरी इस संवेदनशून्य उदासीनता के कारण आजकल कुछ समय से हमारे बीच पति-पत्नी का सम्बन्ध नही रहा, तो भी मुझे लगता नहीं कि सन्तानों के अभाव के कारण यह स्थिति उत्पन्न हुई है।"

किस कारण आप ऐसा कह रहे हैं?

"यह उदासीन बधिर वृत्ति मुझमें निर्माण होने से पहले हम दोनों को यह निश्चितरूप से मालूम हो चुका था कि हमें सन्तान होना सम्भव नहीं है। इस वजह से मैं कभी चिन्तित हुआ नहीं, किन्तु मेरी पत्नी तो बारम्बार इस कारण से रोती रहती है। इसे बच्चे चाहिए, किन्तु यह बात स्पष्ट है कि सन्तानोत्पत्ति के लिए हममें से एक असमर्थ है। मैंने कितने ही मार्ग सुझाये, ताकि इसे सन्तान प्राप्त हो सके, किन्तु इसे एक भी सुझाव मान्य नहीं है। इसे मुझसे ही सन्तान चाहिए; अन्यथा चाहिए ही नहीं, और इस सन्दर्भ में इसके मन में अत्यन्त गहरी अशान्ति

है। कुछ भी कहिये, जो वृक्ष फलता नहीं, वह केवल शोभा की ही वस्तु है। इस समूचे विषय की चर्चा करते-करते हमने बहुत-सी रातें अनिद्रा में बितायी हैं, किन्तु बात जहाँ की तहाँ है। मैं समझ चुका हूँ कि मनुष्य को जीवन में सभी कुछ प्राप्त नही हो सकता, और मेरी यह बधिरता कुण्ठा बच्चों के अभाव के कारण नही है; कम से कम मुझे तो इस विषय में पूरा विश्वास है।"

तब फिर, आपकी पत्नी की निराशा के कारण, उसकी निष्फलता की भावना के कारण यह संवेदनशून्य अवस्था निर्माण हो गयी है?

"देखिये, मेरे पति और मैं इस विषय के सभी पहलुओं में बहुत गहराई तक जा चुके हैं। बच्चों के न होने से मुझे तीव्र दुःख है और मैं भगवान् से प्रार्थना करती हूँ कि किसी दिन मुझे बालक प्राप्त हो। मेरे पति निश्चितरूप से चाहते हैं कि मैं सुखी होऊं। लेकिन मेरे दुःख के कारण इनकी यह नीरस बधिरता उत्पन्न हुई है, ऐसा नहीं। आज यदि हमें बालक हो जाय तो मुझे परमानन्द ही होगा, किन्तु इनके लिए वह केवल एक व्यवधान ही सिद्ध होगा, और मैं समझती हूँ कि बहुत-से पुरुषों के लिए ऐसा ही होता है। यह संवेदनशून्यता पिछले दो वर्षों से किसी आंतरिक व्याधि के समान इनके ऊपर धीरे-धीरे फैलती जा रही है। ये मेरे साथ सभी विषयों पर बात करते थे, पंछियों की, दफ्तर के काम की, महत्त्वाकांक्षाओं की चर्चा करते थे। मेरे लिए इन्हें जो आदर और प्रेम था, वह भी खुलकर बोल देते थे। अपना हृदय मेरे सामने खोल देते थे। किन्तु अब इनके हृदय के द्वार बन्द हो गये हैं और इनका मन कहीं अन्यत्र दूर चला गया है। मैंने इनसे बात की है, किन्तु उसका कोई उपयोग नहीं दीखता।"

कुछ समय आप दोनों ने अलग, दूर रहकर, उसका परिणाम कभी आजमाया है?

"जी हाँ। मैं अपने परिवार के पास करीब छह महीने चली गयी थी, और हम परस्पर पत्र-व्यवहार करते थे। किन्तु इस वियोग से भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। यदि कुछ हुआ ही, तो परिस्थिति अधिक ही बिगड़ गयी। ये अपना भोजन स्वयं पकाते थे, बाहर बहुत ही कम जाते थे, अपने मित्रों से कोई सम्पर्क नहीं रखते थे और अपने में ही अधिकतर डूबे रहते थे। वैसे तो ये कभी भी लोगों के साथ मिलने-जुलनेवाले—मिलनसार थे ही नहीं। हमारे पुनर्मिलन के समय भी संवेदनशीलता की कोई चिनगारी इनमें दिखाई नहीं दी।"

क्या आपको ऐसा लगता है कि यह कुण्ठा एक आवरण है, बहाना मात्र है और किसी अतृप्त आंतरिक अभीप्सा से पलायन है?

पति ने कहा: "आपके कहने का अर्थ मैं ठीक से समझ नहीं पा रहा हूँ।"

किसी चीज की आप में उत्कट अभीप्सा हो, जिसकी पूर्ति होना आवश्यक है, किन्तु उस अतृप्त अभीप्सा को अभिव्यक्ति की कोई राह न मिलती हो तो उस वेदना से दूर भागने के लिए इस संवेदनशून्यता का द्वार आपने खोला हो, यह भी सम्भव है।

"इस तरह मैंने कभी विचार ही नहीं किया। इससे पहले मुझे कभी यह बात महसूस भी नहीं हुई। अब किस तरह मुझे यह मालूम करना होगा?"

इससे पहले यह बात आपके ध्यान में कैसे नहीं आयी? आपने कभी अपने से पूछा कि आप संवेदनशून्य क्यों बने हैं? क्या आप इस बात को जानना नहीं चाहते?

"सचमुच यह विचित्र-सा लगता है, किन्तु इस मूर्खतापूर्ण बेसुधी का कारण मैंने कभी अपने से पूछा ही नहीं। यह प्रश्न ही मेरे मन में कभी उठा नहीं।"

अभी जब आप यह प्रश्न अपने से पूछ ही रहे हैं, तो आपका प्रत्युत्तर क्या है?

"कोई प्रत्युत्तर उठ रहा है, ऐसा मुझे लगता नहीं। किन्तु मैं कितना अधिक संवेदनशून्य हो गया हूँ, यह देखकर मुझे सचमुच बड़ा आघात पहुँचा है। मैं ऐसा पहले कभी नहीं था। अपनी स्वयं की स्थिति से मैं बहुत भयभीत हो गया हूँ।"

एक तरह से यह अच्छा ही है कि हमारी प्रत्यक्ष स्थिति कैसी है, इसे हम समझ लें। कम से कम यह एक प्रारम्भ तो हुआ। इससे पहले आपने अपने से कभी पूछा ही नहीं कि आप ऐसे उदासीन क्यों हो गये हैं, आपने इसका सहज स्वीकार कर लिया और ऐसे ही जीते रहे, रहे न? किस कारण आपकी यह अवस्था हुई है, क्या आप समझना चाहते हैं? अथवा इसी अवस्था में जीते रहने की बात ही आपको मान्य है?

"पत्नी ने कहा—"मुझे तो लगता है कि अपनी इस स्थिति को इन्होंने मान्य कर लिया है, कभी इसका सामना करने का प्रयास ही नहीं किया।"

इस अवस्था से ऊपर उठने की इच्छा निश्चितरूप से आपको होती है, होती है न? क्या आप अपनी पत्नी के बिना ही, अकेले, एकान्त में बात करना चाहते हैं?

"बिलकुल नहीं। उसके सामने न कह सकूँ, ऐसा कुछ भी नहीं है। मुझे निश्चितरूप से मालूम है कि, न शरीर-सम्बन्ध का अभाव, या न उसकी अतिशयता, इस अवस्था का कारण है, न कोई अन्य स्त्री का इससे सम्बन्ध है। मैं दूसरी किसी स्त्री के पास जा ही नहीं सकता और न संतान का अभाव ही इसका कारण है।"

आप कभी चित्रकारी करते हैं या लिखने में रुचि लेते हैं?

"लिखने की मेरी हमेशा इच्छा रही, लेकिन चित्र मैंने कभी नहीं बनाये। मैं जब घूमने जाता था, तब कुछ कल्पनाएँ मुझे सूझती थीं, लेकिन अब वह समय ही निकल गया।"

तब कागज पर कुछ उतारने की कोशिश आप क्यों नहीं करते ? लिखा हुआ कितना ही बुद्धिहीनता का क्यों न हो, कोई हर्ज नहीं। अपना लेखन आप किसीको दिखायें, इसकी भी आवश्यकता नहीं है। आप कुछ लिखने की कोशिश क्यों नहीं करते ?

किन्तु अपनी समस्या की ओर फिर से मुड़कर देखते हैं। क्या आपको अपनी इस संवेदनशून्यता का कारण जानने की इच्छा है ? अथवा आप जैसे हैं, वैसे ही जीना चाहते हैं ?

"सब कुछ छोड़-छाड़कर कहीं दूर अकेले ही निकल जाना मैं पसन्द करूँगा। कुछ आनन्द खोजने की मेरी इच्छा है।"

क्या यही आप करना चाहते हैं ? तब आप करके देखते क्यों नहीं ? क्या पत्नी के कारण आप सोच में पड़े हैं ?

"मैं जैसा हूँ, वैसा तो मेरी पत्नी के लिए किसी काम का ही नही हूँ, मैं तो केवल निकम्मा हो गया हूँ।"

जीवन से हटकर, अपने-आप को पृथक् रखकर आप को सुख मिलेगा, ऐसा आप सोचते हैं ? क्या आज भी आपने स्वयं को पर्याप्तरूप से एकाकी नहीं बना लिया है ? पाने के लिए त्यागना, यह परित्याग है ही नहीं; यह हुआ एक चतुर सौदा, मात्र एक लेन-देन, कुछ प्राप्त करने की दृष्टि से स्वीकार की हुई एक हिसाबी युक्ति। किसी अन्य वस्तु को पाने के लिए आप हाथ की वस्तु त्यागने तैयार हैं। किसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर जो परित्याग किया जाता है, वह केवल अधिक लाभ के हेतु से किया समर्पण है। किन्तु क्या एकाकीपन के द्वारा या सम्बन्धों को तोड़कर आप सुख प्राप्त कर सकते हैं ? क्या परस्पर निकटता, संस्पर्श तथा संवाद ही जीवन नहीं है ? आप किसी एक सम्बन्ध से पीछे हटकर भले दूसरे में सुख खोज लें, लेकिन सभी संस्पर्शों से पूर्णतया हट जाना आपके लिए संभव नहीं है। पूर्ण एकाकीपन में भी आप अपने विचार के, अपने स्वयं के संपर्क में रहते ही हैं। केवल आत्महत्या परिपूर्ण एकाकीपन का प्रकार है।

"निःसंशय, मैं आत्महत्या करना नहीं चाहता हूँ। मैं जीना चाहता हूँ, लेकिन मैं जैसा हूँ वैसा ही आगे जीऊँ, यह मुझे पसन्द नहीं है।"

क्या आपको पूर्ण विश्वास है कि आप जैसे हैं, वैसे ही जीते जाने की आपको इच्छा नहीं है ? देखिये, यह बहुत स्पष्ट है कि ऐसी कोई बात अवश्य है जो आपको संवेदनशून्य बना रही है और आप उससे दूर भागकर अधिक एकाकीपन में उतरना

चाहते हैं। जो वास्तविकता है, उससे दूर भागने का अर्थ है, स्वयं को पृथक् कर लेना। सुख की आशा में, शायद थोड़े समय के लिए, आप अपने को पृथक् रखना चाहते हैं। किन्तु पहले ही पूर्णरूप से आपने स्वयं को एकाकी बना ही लिया है; इससे अधिक अलगाव—जिसे आप सर्व-संग परित्याग कहते हैं, वह केवल जीवन से और अधिक परावर्तन होगा। अपने में अधिकाधिक गहराई में समेटते जाने से क्या आपको सुख प्राप्त हो सकता है? स्वयं को सबसे पृथक्, एकाकी बनाने का अहम् का स्वभाव ही है, सबसे व्यावर्तन यह उसका विशेष गुण है। व्यावर्तक होना याने प्राप्ति के लोभ से परित्याग करना। आप सम्बन्धों से जितने अधिक हटते जायेंगे, उतने ही अधिक संघर्ष में, प्रतिरोध में फँसते जायेंगे। जीवन में कोई भी वस्तु एकाकी नहीं रह सकती। सम्बन्ध कितने ही दुःखदायक क्यों न हो, उनका धैर्य से और सम्यक् रूप से आकलन करना आवश्यक है। संघर्ष में से संवेदनशून्यता पनपती है। कुछ बन जाने के प्रयास से, जाने-अनजाने, केवल समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। बिना किसी कारण के आप संवेदनशून्य बन नहीं सकते, क्योंकि, जैसा आप स्वयं कह रहे हैं, किसी समय; पहले आप बहुत संवेदनशील और सजग थे। आप सदैव ही उदासीन, सुस्त नहीं रहे हैं। फिर यह परिवर्तन किस कारण से आया है?

"ऐसा लगता है कि आप जानते हैं, तब क्या आप कृपापूर्वक इन्हें बतायेंगे नहीं?"—पत्नी ने पूछा।

मैं कह तो सकता हूँ, लेकिन उससे क्या लाभ होगा? वे अपनी वृत्ति और अनुकूलता के अनुरूप या तो मान लेंगे अथवा इन्कार करेंगे; किन्तु वे स्वयं ही इसे ढूंढ़ निकालें, यही महत्त्वपूर्ण नहीं है क्या? इनकी समस्या की संपूर्ण प्रक्रिया खोलकर ये उसका सत्य स्वतः देख लें, यही इनके लिए आवश्यक है न? सत्य एक ऐसी वस्तु है, जो दूसरे को बतायी नहीं जा सकती। उसके साक्षात्कार के लिए इन्हें स्वयं ही तैयार होना चाहिए, अन्य कोई इन्हें तैयार नहीं कर सकता। इनकी समस्या के लिए मुझमें कोई उपेक्षा नहीं है, किन्तु इन्हें इस सत्य की ओर खुले मन से, मुक्त रूप से और अप्रत्याशित रूप से आना होगा।

कौन-सी चीज आपको संवेदनशून्य बना रही है? स्वयं आप ही को यह बात समझ लेनी चाहिए न? संघर्ष और प्रतिरोध ही संवेदनहीनता के कारण हैं। हम सोचते हैं कि संघर्ष के द्वारा हमारी आकलन शक्ति विकसित होगी, स्पर्धा के माध्यम से हमारी बुद्धि चमक उठेगी। संघर्ष से बुद्धि में तीक्ष्णता अवश्य आती है, लेकिन जो तीक्ष्ण है, वह शीघ्र ही कुन्द, भोथरा बन जाता है; जिसका निरंतर उपयोग होता रहता है, वह जल्दी ही जीर्ण होता है। हम संघर्ष को अनिवार्य मान कर स्वीकारते हैं, और हमारे विचार तथा कर्म की इमारत इस अपरिहार्यता पर खड़ी करते हैं।

किन्तु क्या संघर्ष अपरिहार्य है ? क्या जीवन जीने की इससे भिन्न पद्धति नहीं है ? यदि संघर्ष की प्रक्रिया और उसका महत्त्व हम समझ सकेंगे तो यह भिन्न राह हमारे सामने खुलेगी।

फिर से पूछना चाहूँगा, कि आपने स्वयं को संवेदनशून्य क्यों बनाया है ?

"क्या मैंने ही अपने-आप को संवेदनशून्य बनाया है ?"

आप जड़, कुण्ठित होने को इच्छुक न हों, तो क्या अन्य कोई वस्तु आपको संवेदनशून्य बना सकती है ? आपमें यह तत्परता समझ-बूझकर आयी होगी या लुकी-छिपी। स्वयं को आपने इस तरह क्यों होने दिया है ? क्या आपमें गहराई में कहीं कोई संघर्ष छिपा है ?

"यदि ऐसा कुछ है, तो मुझे उसका लेशमात्र भी भान नहीं है।"

किन्तु क्या आप इसे जानना नहीं चाहते ? क्या इसके स्वरूप का आकलन करने की आपकी इच्छा नहीं है ?

"आप किस मुद्दे की तरफ आ रहे हैं, यह मेरे ध्यान में आ रहा है", पत्नी ने कहा, "किन्तु मुझे ही पूरा विश्वास न होने से मैं अपने पति को उनकी संवेदन-शून्यता का कारण बता नहीं सकूंगी।"

इस पर यह संवेदनशून्यता किस प्रकार आक्रमण करती आयी है, शायद आप देख सकेंगी या नहीं भी; किन्तु शब्द से यदि आप इन्हें दिखाने चलेंगी, तो क्या सच-मुच इनकी सहायता करेंगी ? क्या यह आवश्यक नहीं है कि ये स्वयं ही उसे देख लें ? इस बात का महत्त्व कृपया आप समझ लीजिये, फिर आप अधीर या चिन्तित नहीं होंगी। एक-दूसरे की सहायता अवश्य कर सकती हैं, किन्तु खोज की यह यात्रा इन्हें स्वयं अकेले को ही करनी चाहिए। जीवन सहज नहीं है; वह तो है बहुत जटिल, किन्तु उसकी ओर हमें बहुत सरलता से, सहजता से जाना होगा। हम स्वयं ही समस्या हैं; जिसे हम जीवन कहते हैं, वह समस्या नहीं है। समस्या को, जो हम स्वयं ही हैं, हम अवश्य समझ सकेंगे यदि उसकी ओर देखने की मात्र दृष्टि हमें ज्ञात होगी। सर्वाधिक महत्त्व की यह दृष्टि ही है, समस्या महत्व की नहीं है।

"किन्तु हमें अब करना क्या चाहिए ?"

अभी आपसे जो कुछ कहा गया, उसका आपने पूरी तरह से श्रवण किया होगा; यदि किया है, तो आप देखेंगे कि मुक्तिदाता है केवल सत्य ही। कृपा करके आप चिन्ता नहीं कीजिये। बीज को गहराई में केवल प्रतिष्ठित होने दीजिये।

कुछ सप्ताहों के उपरान्त वे दोनों फिर से मिलने आये। उनकी आँखों में आशा प्रदीप्त थी और होठों पर मुस्कुराहट।

१८. कर्म

निःशब्दता अथवा मौन प्रयत्नपूर्वक संवर्धित नहीं किया जाता, उसे विचारपूर्वक आविष्कृत नहीं किया जाता; उसका पीछा करना संभव नहीं, न वह विचार का विषय बनता अथवा ध्यान का केन्द्र रहता है। मौन का संकल्पपूर्वक विकास ठीक वैसा ही है, जैसा किसी अभिलषित इन्द्रिय-सुख का उपभोग; मन को शान्त, निस्तब्ध बनाने की अभीप्सा रखने का अर्थ है केवल संवेदन के पीछे दौड़ना। ऐसी निःशब्दता केवल एक प्रकार का प्रतिरोध है, पृथक्ता है, जो विनाश की ओर ले जाती है। खरीदी हुई शान्ति बाजार की वस्तु है, उसमें क्रिया-कलापों का कोलाहल है। इच्छा-शून्य होने पर शान्ति आती है। इच्छा है चपल, चतुर और गहरी। स्मरण मौन की व्याप्ति को सीमित कर देता है, और जो मन अनुभूति के घेरे में पकड़ा जाता है वह मौन, निःशब्द हो नहीं सकता। काल, याने बीते कल से बहती हुई, वर्तमान दिन में से गुजरती, अनागत कल की ओर बढ़नेवाली गति, शांति नहीं है। इस गति का अवसान होने पर शान्ति प्रकट होती है, और तभी वह अनामी अस्तित्व में आता है।

आगंतुक कह रहे थे—"मैं कर्म के विषय में बात करने के लिए आपके पास आया हूँ। वैसे इस सन्दर्भ में मेरे अपने कुछ विशिष्ट विचार हैं, किन्तु आपकी राय मैं जानना चाहता हूँ।"

अनुमानित विचार, मत अथवा राय सत्य नहीं है, सत्य जानने के लिए हमें मतमतांतर किनारे रखने होंगे। मत-विचार अगणित होते हैं, परन्तु सत्य किसी विशिष्ट समूह के पास नहीं होता। सत्य के आकलन के लिए सभी कल्पनाएँ, निष्कर्ष, मत-मतांतर वृक्ष के जीर्ण पत्तों की भाँति गिर जाने आवश्यक हैं। ग्रंथों में, ज्ञानसंग्रह में या अनुभूति में सत्य नहीं मिलता। यदि आप मत या विचार की खोज में आये हैं, तो आपको यहाँ एक भी नहीं मिलेगा।

"किन्तु हम कर्म के विषय में चर्चा तो कर ही सकते हैं और उसके महत्त्व को समझने की चेष्टा तो कर ही सकते हैं, सकते हैं न ?"

निश्चितरूप से यह सर्वथा पृथक् बात है। आकलन करना हो तो मत तथा निष्कर्षों का अन्त होना ही चाहिए।

"आप इस बात का इतना आग्रह क्यों रखते हैं ?"

यदि आपने किसी विषय में अपना मन पहले से ही तैयार कर रखा हो, अथवा अन्य किसीके निष्कर्षों की आप पुनरावृत्ति करते हों, तो क्या आप उस विषय

का आकलन कर सकेंगे ? इस सन्दर्भ में सत्य समझ लेने के लिए क्या हमें नये सिरे से, पूर्वग्रहरहित न होते हुए, स्वच्छ मन से नहीं देखना चाहिए ? निष्कर्षों से, पूर्वग्रहों से मुक्त रहना अधिक महत्त्वपूर्ण है, अथवा किसी अमूर्त, गूढ़ के विषय में तर्क करते रहना उचित है ? सत्य के विषय में विवाद करने की अपेक्षा सत्य खोज लेना क्या अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है ? सत्य के विषय में कोई राय तो सत्य नहीं है। कर्म के सन्दर्भ में सत्य का शोध करना ही महत्त्व का है न ? मिथ्या को मिथ्या के रूप में देखना यह उसके आकलन का प्रारंभ है, है न ? यदि हमारे मन परंपरा में, शब्दों में और स्पष्टीकरणों में अटके हुए हों, तो हम सत्य या मिथ्या के दर्शन कैसे कर सकते हैं ? किसी मान्यता अथवा धारणा के साथ मन यदि बद्ध है, तो वह दूर कैसे जा सकेगा ? दूर की यात्रा के लिए मन मुक्त रहना आवश्यक है। दीर्घ प्रयास के अन्त में प्राप्त होनेवाली स्वतंत्रता मुक्ति नहीं है। मुक्ति तो यात्रा के प्रारंभ में ही अत्यावश्यक है।

"आप कर्म का क्या अर्थ करते हैं, यह मैं जानना चाहता हूँ।"

महाशय, शोध की यात्रा पर, आइये, हम दोनों साथ ही निकलते हैं। दूसरे के शब्दों को केवल पुनरुच्चारित करते जाना विशेष महत्त्व का नहीं है। यह केवल ग्रामोफोन रेकार्ड बजाने जैसी ही बात है। पुनरुक्ति अथवा अनुकरण मुक्ति नहीं लाते। कर्म का आप क्या अर्थ करते हैं, कहिये ?

"यह एक संस्कृत शब्द है, जिसका अर्थ है—करना, होना, कर्म करना इत्यादि। कर्म है क्रिया और क्रिया है अतीत का परिणाम। पूर्ववर्ती, संस्कारबद्धता के बिना कर्म संभव नहीं है। अनुभूतियों की शृंखला के द्वारा, संस्कारबद्धता तथा ज्ञानसंग्रह के माध्यम से परंपरा की पार्श्वभूमि निर्माण होती है, व्यक्ति के या समूह के केवल वर्तमान जीवनकाल में ही नहीं, बल्कि अनेक पूर्वजन्मों के बीच भी परंपरा निर्माण होती रहती है। पार्श्वभूमि के - याने 'मेरे'—और समाज के जीवन के बीच जो सतत क्रिया और प्रतिक्रिया चलती है, वह है कर्म; और कर्म "मुझे" बाँधता है। मेरे पूर्व आयुष्य में किंवा केवल बीते कल ही मैंने जो कर्म किया, वह मुझे पकड़कर वर्तमान काल में सुख या दुःख के द्वारा, आकार देता है। व्यक्तिगत कर्म के समान ही समष्टिगत या सामूहिक कर्म भी होता है। व्यक्ति तथा समूह दोनों भी कारण-कार्य की शृंखला में आबद्ध हैं। अतीत में किये मेरे कर्म के अनुसार सुख या दुःख, पुरस्कार या दण्ड मुझे भुगतने होंगे।"

आप कहते हैं कि अतीत का परिणाम है कर्म। इस तरह का कर्म वस्तुतः कर्म है ही नहीं, किन्तु केवल प्रतिक्रिया है, है न ? उद्दीपन से संस्कारबद्धता या पारंपरिक पार्श्वभूमि प्रतिक्रिया व्यक्त करती है; यह प्रतिक्रिया स्मृति का प्रत्युत्तर है, जो कर्म नहीं है, लेकिन आपके अर्थ में कर्म याने क्रिया ही है। कर्म का स्वरूप क्या है

यह अभी, इस समय हमें सोचना नहीं है। कुछ विशिष्ट कारणों से उत्पन्न हुई प्रतिक्रिया आपके अर्थ में 'कर्म' है जो विशिष्ट परिणाम उपजाती है। कर्म है कारण-कार्य की शृंखला। मूलत: काल की प्रक्रिया ही कर्म है, है न? जब तक भूतकाल रहेगा, तब तक वर्तमान और भावीकाल है ही। आज तथा अनागत कल—दोनों हैं बीते कल के परिणाम; बीता कल वर्तमान के साथ मिलकर अनागत कल का निर्माण करता है। सामान्य मान्यता के अनुसार 'कर्म' का अर्थ क्षतिपूर्ति की प्रक्रिया समझा जाता है।

"जैसा आप कह रहे हैं, कर्म है काल की प्रक्रिया और मन है काल का, याने अतीत का, परिणाम समय के पंजे से केवल कुछ भाग्यशाली व्यक्ति ही बच निकलते हैं। हमारे जैसे अन्य सभी कालबद्ध ही हैं। हमने जो अच्छे या बुरे कर्म पूर्वकाल में किये हों, वे ही हमारी आज की अवस्था निश्चित करते हैं।"

क्या पार्श्वभूमि या अतीत स्थाणुवत् निश्चल अवस्था है? क्या वह सतत परिवर्तित नहीं होती? आप कल जैसे थे, ठीक वैसे ही आज नहीं हैं; शरीर तथा मानसिक स्थिति में सतत परिवर्तन होता रहता है, होता है न?

"निश्चित ही होता है।"

तब मन कोई निश्चल अवस्था नहीं है। हमारे विचार क्षणभंगुर हैं. नित्य बदलनेवाले हैं; वे पार्श्वभूमि के प्रत्युत्तर हैं। यदि समाज के किसी विशिष्ट वर्ग में, किसी निश्चित संस्कृति में मेरा संवर्धन हुआ हो तो उद्दीपक का, चुनौती का मेरा प्रत्युत्तर मेरी संस्कारबद्धता के अनुरूप होगा। बहुत-से लोगों की संस्कारबन्धन की जड़ें इतनी गहरी और दृढ़मूल होती हैं कि प्रत्युत्तर लगभग सदैव ही विशिष्ट पद्धति के, साँचे के अनुरूप ही होता है। हमारे विचार पार्श्वभूमि अथवा संस्कार-बद्धता हमसे पृथक् अथवा विषम नहीं हैं। पार्श्वभूमि के साथ हमारे विचार भी परिवर्तित हो जाते हैं।

"किन्तु विचार तो निश्चित ही पार्श्वभूमि से संपूर्णरूप से भिन्न है, है न वह भिन्न?"

क्या विचारक भिन्न है? विचारक स्वयं क्या अपने विचारों का फलित नहीं है? क्या वह अपने विचार-घटकों से ही बना हुआ नहीं है? क्या उसके विचारों से विचार की कोई स्वतंत्र हस्ती है? क्या विचार ने ही अनित्य विचारों के मध्य विचारक को शाश्वतता प्रदान करके उसका सृजन नहीं किया है। विचार का आश्रय है विचारक और वही स्वयं को शाश्वतता के भिन्न स्तरों पर प्रतिष्ठित करता है।

"ठीक ऐसा ही है, यह मैं देख रहा हूँ, लेकिन विचार अपने ही साथ कैसे दाँवपेंच लड़ाता है, यह जानकर मुझे तो धक्का-सा लगा है।"

स्मृति का, पार्श्वभूमि का प्रत्युत्तर है विचार; स्मृति है ज्ञानसंग्रह, अनुभूति का फलित। यह स्मृति और अधिक अनुभव तथा प्रत्युत्तर के आधार पर अधिक दृढ़ विस्तृत, तीक्ष्ण तथा कार्यक्षम बन जाती है। एक प्रकार की संस्कारबद्धता दूसरे का पर्याय बन सकती है, किन्तु वह फिर भी संस्कारबद्धता ही है। इस संस्कारबद्धता का प्रत्युत्तर 'कर्म' है, है न ? स्मृति के प्रत्युत्तर को कर्म कहा जाता है, किन्तु वह है केवल प्रतिक्रिया, यह 'कर्म' आगे चलकर प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है, और इस प्रकार तथाकथित कारण और कार्य की शृंखला उपस्थित होती है। परन्तु, क्या कारण स्वत: कार्य नहीं है ? कारण अथवा कार्य—इनमें से एक भी स्थिर नहीं है। आज बीते कल का परिणाम है और अनागतकाल का कारण भी है; जो कारण था, वह कार्य बन गया और कार्य बना कारण। एक प्रवाहित होकर दूसरे में प्रविष्ट होता है। ऐसा क्षण एक भी नहीं जब कारण एक साथ कार्य भी नहीं होता, केवल अपनी मर्यादा में स्थित विशिष्ट ही अपने कारण में आबद्ध होता है और इसलिए अपने कार्य में भी जुड़ा रहता है। ओक ओकवृक्ष के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं बन सकता। विशिष्टीकरण में मृत्यु है; किन्तु मनुष्य विशिष्ट सीमाबद्ध हस्ती नहीं है। वह इच्छा के अनुसार कुछ भी बन सकता है। वह अपनी संस्कारबद्धता के परकोटे का भेदन करके मुक्त हो सकता है, और उसे मुक्त होना ही चाहिए, यदि अनावृत सत्य के दर्शन करने हों। ईश्वर साक्षात्कार के लिए आपको तथाकथित ब्राह्मणत्व से मुक्त होना होगा।

कर्म है काल की प्रक्रिया, वर्तमान के द्वारा भावी की ओर गति करनेवाला अतीत; इस शृंखला से विचार का मार्ग सुनिश्चित है। विचार काल का फलरूप है, और जब विचार-प्रक्रिया का अंत होता है, केवल तभी वह अपरिमित, अथाह और अकाल आविर्भूत हो सकता है। मन की शान्ति अभिप्रेरित नहीं की जा सकती, किसी अभ्यास या अनुशासन से निमंत्रित नहीं किया जाता। यदि मन को निस्तब्ध बनाया जाता है, तो उसके अन्तर्गत जो कुछ आयेगा, वह केवल स्व-प्रक्षेपण, स्मृति का प्रत्युत्तर ही होगा। अपनी संस्कारबद्धता के आकलन के साथ, स्वयं के विचार तथा भावात्मक प्रतिसादों का चुनाव-रहित तटस्थ अवबोध होते ही, मन के पास स्वयं होकर परम शान्ति पहुँच जाती है। कर्म-शृंखला की यह भग्नता कालापेक्षित नहीं है; क्योंकि काल के द्वार से अकाल का आगमन नहीं होता।

कर्म को एक समूची प्रक्रिया के रूप में समझना होगा, केवल अतीत से सम्बन्धित वस्तु के रूप में नहीं। अतीत है काल, और काल ही वर्तमान तथा भावी भी है। काल है स्मृति, शब्द, कल्पना। केवल ऊपरी स्तरों पर ही नहीं, किन्तु सम्यक् रूप से, समग्रता से, जब शब्द, नाम, सम्बन्ध, अनुभूति नहीं होती, तभी मन शान्त और निस्तब्ध होता है।

१९. व्यक्ति और आदर्श

चर्चा करने के लिए आये कुछ समाज सेवक कह रहे थे—"यहाँ भारत में हम लोगों का जीवन प्राय: छिन्न-विच्छिन्न हुआ है, हम चाहते हैं कि यहाँ फिर से नये जीवन निर्माण हो, लेकिन प्रारम्भ कहाँ से करें, हम लोगों की समझ में नही आता। जन-आन्दोलन खड़ा करके देश निर्माण का कार्य करना कितना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है, यह मैं समझ सकता हूँ, किन्तु उसमें निहित खतरे भी हैं। अब तक मैंने अहिंसा का आदर्श व्यवहार में चरितार्थ हो, इस दिशा में प्रयास किया है; किन्तु इधर तो सर्वत्र रक्तपात और दुःख ही दीखता है। इस देश के विभाजन के समय से इसके हाथ रक्तरंजित हैं, और अब तो हम सुसज्जित सशस्त्र सैन्य तैयार कर रहे हैं। बात तो हम अहिंसा की करते हैं और तैयारी करते हैं युद्ध की। राजनीतिक नेताओं के समान ही मैं संभ्रम में पड़ा हुआ हूं। कारावास में मैं बहुत पढ़ता था, किन्तु उससे मेरी भूमिका स्पष्ट होने में सहायता नहीं मिली।

"क्या हम एक समय एक ही विषय को लेकर उसका स्वरूप देख सकते हैं? पहली बात तो यह कि आप व्यक्ति पर ही बहुत बल देते हैं, किन्तु क्या जन-समूह को साथ लेकर कार्य करना आवश्यक नहीं है?"

व्यक्ति मुख्यरूप से सामूहिक है, और समाज व्यक्ति का ही सृजन है। व्यष्टि तथा समष्टि परस्पर सम्बन्धित हैं, हैं न? ये दोनों पृथक् नही हैं। व्यक्ति समाज की संरचना करता है, और समाज अथवा सामाजिक वातावरण व्यक्ति को आकार देता है। यद्यपि सामाजिक परिस्थिति व्यक्ति को संस्कारित करती है, तो भी वह स्वयं को कभी भी स्वतन्त्र बना सकता है अपनी पार्श्वभूमि से पूर्णरूप से पृथक् हो सकता है। जिस परिस्थिति का व्यक्ति निर्माता है, उसीका वह गुलाम बन जाता है; किन्तु उससे पृथक् हो जाने की शक्ति भी उसमें है। जिस परिस्थिति में उसके मन या आन्तर चैतन्य को कुण्ठा प्राप्त नही होगी, ऐसी परिस्थिति वह निर्माण कर सकता है। व्यक्ति केवल इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि अपनी संस्कारबद्धता से मुक्त होने की क्षमता उसमें निहित है और सत्य का आकलन करने की योग्यता भी उसमें है। जो व्यक्तित्व अपनी ही संस्कारबद्धता में बद्ध होकर क्रूर और दया-शून्य बन जाता है, वह एक ऐसे समाज की रचना करता है जो हिंसा तथा शत्रुत्व की आधारशिला पर टिका होता है। व्यक्ति केवल सम्बन्धों में ही जीवित रहता है, अन्यथा वह जी ही नही सकता; और इस सम्बन्ध का स्वरूप न समझने से संघर्ष

तथा संभ्रम उत्पन्न होते हैं। अन्य लोगों के साथ, सम्पत्ति के स्वामित्व के साथ; कल्पना और धारणाओं के साथ व्यक्ति का जो सम्बन्ध है, उन्हें यदि वह समझ नहीं लेता तो उस पर सामूहिक अथवा अन्य किसी प्रकार की जीवन-पद्धति को केवल थोपने से मूल हेतु का ही पराभव होता है। जबरन किसी नयी संरचना को व्यवहार में चरितार्थ करने के लिए तथाकथित सामूहिक कार्य की आवश्यकता होगी, किन्तु यह नयी संरचना कुछ व्यक्तियों की प्रतिभा का ही आविष्कार होगा और आधुनिकतम घोषवाक्य तथा नये आदर्श-समाज के आश्वासन द्वारा जन समूह को सम्मोहित किया जायेगा। जनसमूह तो पूर्ववत् ही रहेगा, केवल अब उसके शासक नये होंगे, शब्द प्रयोग नया होगा और पुरोहित तथा सिद्धान्त नया रूप धारण करेंगे। यह जन-समूह आप और मेरे जैसे व्यक्तियों का ही बना हुआ है, समूह है काल्पनिक, और इस सुविधाजनक शब्द के साथ शोषक तथा राजनीतिज्ञ खेल करते हैं। ये थोड़े से व्यक्ति ही बहुसंख्य जनता को कार्यक्रमों में, युद्ध इत्यादि में ढकेलते हैं और ये अल्प-जन ही स्वयं जन-सामान्यों की इच्छा-आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। व्यक्ति का सम्यक् परिवर्तन सबसे अधिक महत्त्व का है, किन्तु यह परिवर्तन किसी आदर्श ढाँचे के अनुरूप नहीं होना चाहिए। ये आदर्शों के ढाँचे सदैव संस्कारबद्धता निर्माण करते हैं, और संस्कारबद्ध व्यक्ति स्वयं अपने साथ और इसी से समाज के साथ भी संघर्षरत रहता है। पुरानी, जीर्ण, संस्कारबद्ध जीवन-पद्धति के स्थान पर नयी पर्यायी पद्धति मान्य करना तुलना में सरल है, किन्तु व्यक्ति के लिए सारी संस्कारबद्धता से मुक्त होने की बात नितान्त भिन्न स्वरूप की है।

"इस बात को समझने के लिए चिन्तापूर्ण और विस्तृत विचार करना आवश्यक है, किन्तु मुझे लगता है कि अभी मैं इसका आकलन कर रहा हूँ। आप व्यक्ति को महत्त्व देते हैं, किन्तु समाज के अन्तर्गत पृथक् और विरोधी शक्ति के रूप में नहीं।

"अब दूसरा मुद्दा। मैं सदैव आदर्श के लिए काम करता आया हूँ और आपका आदर्श का इन्कार मेरी समझ में नहीं आता। इस समस्या का विचार करने में आपको कोई आपत्ति नहीं है न ?"

हमारी वर्तमान नैतिकता भूतकाल पर अथवा भविष्यकाल पर आधृत है, वह परंपरागत सुवर्णयुग की कल्पना पर किंवा भविष्य में साक्षात् होनेवाले आदर्श समाज पर आधृत है। भविष्य में प्रत्यक्ष होनेवाला जो आदर्श है—वह अब तक चलते रहे जीवन के विरोध में खड़ा है, याने भविष्य भूतकाल के साथ संघर्षरत है। अहिंसा आदर्श है, याने जो होना चाहिए; और जो आज तक चलता रहा है वह है

हिंसाचार। जो चलता आया है, वह भावी आदर्श स्थिति को प्रक्षेपित करता है; आदर्श स्वयं ही सिद्ध किया है, वह अपनी ही विरोधी अवस्था से याने आज की वास्तविकता से प्रक्षेपित है। विरोधी विचार-तत्त्व पूर्व-विचार का केवल विस्तार है; विरोधी प्रमेय स्वयं के विरोधी प्रमेय को अपने में समाविष्ट रखता है। स्वयं हिंसात्मक होने से मन हिंसा के विरोधी तत्व का, याने अहिंसा का आदर्श प्रक्षेपित करता है। आदर्श तत्त्व अपने विरोधी तत्त्व को पराभूत करने में सहायता करता है, ऐसी मान्यता है; किन्तु क्या यह सही है? जो चलता आया है अथवा जो वास्तविक 'है' उससे पलायन का या उसका परिवर्तन का एक प्रकार ही आदर्श के रूप में स्वीकृत नहीं है? आदर्श और प्रत्यक्ष के बीच का संघर्ष, प्रत्यक्ष के आकलन को विलम्बित करने का निश्चितरूप से, एक साधन है। और यह संघर्ष केवल एक अन्य समस्या को उपस्थित करता है और उसकी सहायता से तात्कालिक समस्या को छिपाता है। प्रत्यक्ष से पलायन का एक सम्मानित और अद्भुत माध्यम है आदर्श। अहिंसा का आदर्श सामूहिक आदर्श जीवन-पद्धति के समान ही काल्पनिक, मिथ्या है; जो प्रत्यक्ष 'है' उसके परिवर्तन में, उस पर आवरण टालने के लिए आदर्श—जो होना चाहिए—सहायता करता है। आदर्श के पीछे की दौड़ वस्तुतः पुरस्कार की खोज है। लौकिक पुरस्कार को आप मूर्खतापूर्ण और असभ्य समझकर टालेंगे, जो सही भी है। किन्तु आपका आदर्श के लिए तड़पन भी एक भिन्न स्तर पर, पुरस्कार की ही खोज है, और वह उतनी ही बुद्धिहीनता की द्योतक है। आदर्श है एक न्यूनतापूर्ति, एक काल्पनिक अवस्था, जो मनोनिर्मित इन्द्रजाल है। स्वयं हिंसापूर्ण, पृथगात्म और स्वार्थरत मन एक संतोषकारक क्षतिपूर्ति की, आदर्श की; भावी रामराज्य की प्रतिमा प्रक्षेपित करके व्यर्थ ही उसका पीछा करता है। यह आदर्श के लिए दौड़ स्वतः संघर्ष है ही, किन्तु साथ-साथ वह प्रत्यक्ष वास्तविकता का सुखद विलंबन करते जाना है। जो भविष्य काल में होना चाहिए, ऐसा आदर्श, जो प्रत्यक्ष आज 'है' उसके आकलन में सहायता नहीं करता; इसके विपरीत वह आकलन को कुंठित करता है।

"आपके कहने का क्या यह अर्थ है कि हमारे नेता और आचार्य आदर्श का समर्थन करके उसका प्रचार करने में गलती करते आये हैं?"

आप क्या सोचते हैं?

"यदि आपका कहना मैं ठीक-ठीक समझा हूँ..."

कृपापूर्वक एक बात ध्यान में लीजिये, दूसरे किसी व्यक्ति का क्या कहना है, इसे समझने की यह बात नहीं है, यह तो सत्य को समझने की बात है। सत्य कोई सम्मति नहीं है; सत्य किसी नेता या आचार्य पर निर्भर नहीं है। सम्मति तथा मतों को तोलने से सत्यदर्शन में बाधा ही निर्माण होती है। आदर्श या तो स्व-रचित

ऐसी एक काल्पत कथा है, जिसमें स्व-विरोधी तत्त्व समाविष्ट है; अन्यथा वह आदर्श है ही नहीं। इसमें दो मार्ग संभव ही नहीं है। किन्तु यह बात किसी भी आचार्य पर अवलंबित नहीं है, आप स्वयं को ही इसके सत्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

"यदि आदर्श मनोकल्पित है तो इससे मेरी समूची विचार-प्रक्रिया में क्रान्ति आ जाती है। क्या आपका यह कहना है कि हमारी आदर्श के पीछे की दौड़ पूर्णत: व्यर्थ है?"

यह एक व्यर्थ संघर्ष है। एक संतोषजनक आत्मवंचना है, है न?

"आपकी बात बहुत क्षोभकारक है, किन्तु यह सही है कि इसे मुझे मान्य करना ही पड़ता है। हमने कई बातों को गृहीत मान लिया और हमारे हाथ में जो है उसका निकट से निरीक्षण भी नहीं किया। हमने अपने-आप को धोखा दिया है और जिस बात की ओर आपने अंगुलि-निर्देश किया, उससे मेरे विचार और कर्म की सारी संरचना पूर्णरूप से उलट गयी। आपकी बात शिक्षण में क्रांति ला सकती है, हमारी कार्य करने की तथा जीने की समग्र पद्धति उसके कारण समग्र रूप से परिवर्तित हो सकती है। मुझे लगता है कि जो मत भविष्य के आदर्श परिकल्पन से मुक्त है उसमें निहित संभावनाएँ मेरे सामने स्पष्ट हो रही है। ऐसे मुक्त मन के लिए कर्म का जो महत्त्व है वह, आज हम जो कर्म को महत्त्व देते हैं, उससे नितान्त भिन्न होगा। न्यूनतापूर्ति के लिए किया हुआ कर्म वस्तुत: कर्म है ही नहीं; वह है केवल एक प्रतिक्रिया और हमें कार्य करने का कितना गर्व महसूस होता है। किन्तु यह बताइये कि आदर्श के विना हम वास्तव का, अथवा जो चलता आया है उसका, विचार कैसे करेंगे?"

वास्तव का आकलन केवल तब संभव है जब आदर्श को, जो होना चाहिए उसे, मन पर से मिटा दिया जाता है, याने जब मिथ्या को मिथ्या के रूप में पहचान लिया जाता है। जो होना चाहिए, वह जो होना नहीं चाहिए, वह भी साथ-साथ है। जब तक भावरूप या अभावात्मक न्यूनतापूर्ति को साथ लेकर मन वास्तव की तरफ चरण बढ़ाता है, तब तक वास्तव का आकलन संभव नहीं है। वास्तविक स्थिति को समझने के लिए आपको उसके साथ सीधा संवाद साधना होगा; आपका उसके साथ का संबंध आदर्श के, अतीत के, परंपरा या अनुभूति के परदे के द्वारा हो नहीं सकता। समस्या है केवल एक ही—दोषपूर्ण दृष्टि से मुक्त होना। इसका वस्तुत: अर्थ यही है कि संस्कारबद्धता का याने मन का आकलन करना। स्वयं मन ही समस्या है और इसके द्वारा निर्माण की गयी समस्याओं की समस्या नहीं है। मन से उत्पन्न हुई समस्याओं का समाधान करना केवल फलित परिणामों का साम-

जस्य स्थापित करना ही है, और इससे केवल अधिक संभ्रम तथा भ्रान्ति की ओर जाया जाता है।

"मन का आकलन कैसे किया जाता है?"

मन की रीति जीवन की रीति है—आदर्श जीवन की नहीं। किन्तु वास्तविक जीवन की—जिसमें सुख-दुःख, स्पष्टता-भ्रामकता, अहंता तथा नम्रता के आविर्भाव भरपूर होते हैं। मन का आकलन करना याने इच्छा और भय की जागरूकता होना।

"माफ कीजिये, मेरे लिए यह सारा विवेचन कुछ कठिन सा हो रहा है। यह बताइये कि मैं अपने मन का आकलन किस प्रकार करूँ?"

मन को समझने के लिए आपको उसके क्रियाकलापों का ज्ञान होना आवश्यक है न? मन है केवल अनुभूति, तात्कालिक ही नहीं, किन्तु संचित अनुभूति भी। वर्तमान के प्रत्युत्तर में जो अतीत प्रकट होता है, और जो फिर अनागत की तैयारी करता है, वही मन है। मन की समग्र प्रक्रिया का आकलन करना जरूरी होता है।

"मुझे प्रारंभ कहाँ से करना होगा?"

केवल वहीं से, जहाँ से प्रारंभ होता है; याने संबंध से। संबंध ही जीवन है; जीवन्त होने का अर्थ है संबंधित होना। संबंधों के दर्पण में ही केवल मन का आकलन करना होता है और आपको इस दर्पण में स्वयं को देखना प्रारंभ करना होगा।

"आपके कहने का क्या यह अर्थ है कि मेरी पत्नी के साथ और मेरे पड़ोसी आदि के साथ मेरा जो सम्बन्ध है, उसी में स्वयं को देखना है? क्या यह बहुत मर्यादित प्रक्रिया नहीं है?"

जो अल्प, मर्यादित दिखाई देगा, उसकी ओर यदि सम्यक् दृष्टि से देखा जायेगा, तो वह अथाह को साक्षात् कर देगा। यह तो एक वातायन के समान है जो सूक्ष्म होकर भी व्यापक में खुलता है। क्रियाशून्य तटस्थ अवलोकन करने पर सीमित असीम को प्रकट करता है। आखिर, नदी अपने उद्गम स्थान में बहुत छोटी, शायद ही ध्यान में आने योग्य होती है।

"तब तो मुझे स्वयं से और मेरे निकट सम्बन्धों से ही प्रारम्भ करना होगा।"

निस्संशय। सम्बन्ध कभी भी संकीर्ण या अल्प नहीं होता। एक के साथ हो या अनेक के साथ, सम्बन्ध एक जटिल प्रक्रिया है, और उसे क्षुद्र दृष्टि से देख सकते हैं या मुक्त और व्यापक दृष्टि से। पुनः यह ध्यान में रखना होगा कि मन की अवस्था पर हमारा रुख या हमारी दृष्टि निर्भर करती है। यदि आप स्वयं से प्रारम्भ नहीं

करेंगे, तो और कहाँ से करेंगे ? यद्यपि आपने बाह्य परिधीय क्रिया से प्रारम्भ किया, तो भी उससे आप सम्बन्धित हैं, आपका मन उसके केन्द्र स्थान में है । आप निकट या दूर, कहीं से प्रारम्भ करेंगे, तो भी वहाँ आप स्वयं हैं । स्वयं का आकलन किये बिना आप जो कुछ करेंगे, उससे अनिवार्यतः संभ्रम और दुःख ही निर्माण होंगे । प्रारम्भ ही अन्त है ।

"मैं बहुत दूर-दूर भटकता रहा हूँ, कितनी ही वस्तुएँ मैंने देखी और कितने कार्य किये, बहुत-से लोगों के समान मैंने दुःख सहन किया और हँसते-खेलते भी जीवन बिताया और फिर भी मुझे अपने ही पास वापस आना पड़ा है । मेरी अवस्था उस संन्यासी के समान ही है, जो सत्य की खोज के लिए निकल पड़ा था । उसने एक से दूसरे मार्गदर्शन की ओर घूमते रहने में वर्षों बिता दिये, और प्रत्येक ने उसे भिन्न-भिन्न मार्ग दिखाये । अन्त में जब वह थककर लौट आया, तब उसे अपने ही घर में हीरा दिखाई पड़ा । मैं देख रहा हूँ कि कितने मूर्ख हैं हम जो अपने ही हृदय में पाया जानेवाला परमानन्द ढूँढ़ने के लिए विश्वभर में घूमते-फिरते हैं । यह आनंद तब प्राप्त होता है, जब मन में अपने क्रियाकलापों से रिक्त, मुक्त होता है आपका कहना पूर्ण रूप से यथार्थ है । मैं जहाँ से निकलता हूँ, वहीं से प्रारम्भ करूँगा । मेरा प्रारम्भ मेरे स्व से ही होगा ।

२०. खुलापन की जीवन और प्रत्याहृत की कुण्ठा ही मृत्यु

तूफान के कारण खड़ी फसल नष्ट हो गयी थी, और भूमि पर समुद्र का जल फैल गया था । ट्रेन धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी, दोनों ओर वृक्ष धराशायी थे । घरों की छत उड़ गयी थी और सारे खेत सर्वथा उजड़ चुके थे । आसपास के क्षेत्र में मीलों तक तूफान से बहुत नुकसान हुआ था, जीव-सृष्टि नष्ट हुई थी, और ऊसरवाली धरती आकाश के नीचे खुली पड़ी थी ।

हम कभी भी अकेले नहीं होते, अन्य लोगों से और अपने ही विचारों से हम घिरे हुए ही रहते हैं । जब लोग दूर होते हैं, तभी हम संसार की ओर अपने विचारों के परदे में से ही देखते हैं । ऐसा कोई क्षण नहीं होता, या ऐसा क्षण क्वचित ही होता है, जब विचार नहीं होता । हमें मालूम ही नहीं है कि अकेले होने का अर्थ क्या है, सभी सम्बन्धों से मुक्त, सभी क्रम सातत्यों से, शब्द तथा प्रतिमाओं

से मुक्त कैसे रहना होता है। हम एकाकी होते हैं, किन्तु अकेले होना हम जानते नहीं। एकाकीपन की टीम हमारे हृदय को व्याप्त करती है और मन, उसे भय के आवरण से आच्छादित करता है। एकाकीपन, वह गहरी पृथकता, हमारे जीवन की घनी छाया है। उससे दूर भागने की चेष्टा हम हर प्रकार से करते हैं, पलायन के सभी ज्ञात-पथों पर हम दौड़ लगाते हैं, किन्तु वह हमारा पीछा करता ही रहता है और उससे हम कभी मुक्त होते नहीं। पृथकता हमारे जीवन की पद्धति है; हम क्वचित् ही दूसरे के साथ एकरूप होते हैं, क्योंकि हम अपने में टूटे हुए, छिन्न-विच्छिन्न और घायल रहते हैं। अपने में हम स्वस्थ-परिपूर्ण नहीं होते, और दूसरे से एकरूप होना तभी सम्भव है, जब हम अपने में समग्र होते हैं। हम एकान्त से भयभीत रहते हैं, क्योंकि वह हमारी अपूर्णता का, हमारी निजी दरिद्रता का द्वार खोलता है; किन्तु एकाकीपन के गहरे घाव को भरने का काम यह एकान्त ही करता है। असंख्य इच्छाओं की और विचारों की रुकावटों से मुक्त, अकेले ही चलते जाना याने मन की पहुँच के बाहर, उसकी सीमा से परे हो जाना है। यह मन ही है, जो एकाकी, पृथक् करता है, और एकात्मकता को, परस्पर संवाद को काटता है, मन को नीरोग, स्वस्थ बनाया नहीं जा सकता, वह स्वयं को परिपूर्ण बना नहीं सकता, क्योंकि इसके लिए जो प्रयास होगा, वही पृथकता की प्रक्रिया बन जाती है, वह एकाकीपन का ही अंग है, जो किसीसे भी आच्छादित नहीं किया जा सकता। मन की उत्पति यों तो अनेकता से है, और जिसे अनेक तत्वों से मिलकर बनाया, वह कभी अकेला नहीं हो सकता। अकेलापन विचार के फलस्वरूप प्रकट नहीं होता। जब विचार नितान्त निस्तब्ध होता है, केवल तभी अकेलेपन की अकेलेपन की ओर उड़ान होती है।

वह घर रास्ते से काफी हटकर अन्दर की ओर था। बगीचे में फूल ही फूल खिले थे। प्रातःकाल शीतल था और आकाश गहरा नीला था, प्रभात का सूरज बहुत सुहावना था, और छाया में डूबे बाग में, यातायात का कोलाहल, विक्रेताओं की पुकार, रास्ते पर दौड़नेवाले घोड़ों की दुलकन–सभी बहुत दूर मालूम होते थे। एक बकरा बाग में घुस आया और जब तक माली ने आकर उसे भगा नहीं दिया, तब तक वह अपनी छोटी-सी पूँछ हिलाता हुआ वह फूल चढ़ाने में मग्न था।

वह महिला कह रही थीं कि वह बहुत अस्वस्थता महसूस करती थीं, किन्तु अस्वस्थ होना उसे अच्छा नहीं लगता था; अनिश्चितता की वेदनामय अवस्था वह टालना चाहती थी। अपनी बेचैनी से वह इतनी आतंकित क्यों थी ?

अस्वस्थ होने से आपका क्या मतलब है ? और उसके लिए इतनी आतंकित आप क्यों होती हैं।

"मैं एकान्त में रहकर शान्ति चाहती हूँ। आपके सामने बैठकर भी मैं बेचैनी महसूस करती हूँ। यद्यपि मैंने आपको दो या तीन बार ही देखा है, आपके कारण अस्वस्थ होने का भय मुझ पर एक बोझ के समान हावी हो रहा है। मुझे यह समझना कि आन्तरिक अनिश्चितता का यह भय मुझमें क्यों उत्पन्न होता है। मैं अपने साथ शान्तिपूर्वक स्थिरता से रहना चाहती हूँ, लेकिन किसी न किसी चीज से सदैव बेचैन रहा करती हूँ। अभी-अभी तक किसी तरह से कुछ हद तक शान्ति से रह पाती थी; किन्तु आपके एक प्रवचन में एक मित्र मुझे ले आये और अब मैं विचित्र ढंग से अस्वस्थ हो गयी हूँ। मैंने सोचा था कि मेरी शान्ति में आप मुझे बल प्रदान करेंगे, किन्तु इसके विपरीत आपने तो उसे छिन्न-विच्छिन्न कर डाला। मैं यहाँ आना नहीं चाहती थी, क्योंकि मुझे मालूम था कि यहाँ आकर मैं अपनी मूर्खता ही व्यक्त करूँगी; किन्तु फिर भी मैं आपके सामने आ गयी हूँ।"

आप इतना आग्रह क्यों रख रही हैं कि आपको शान्ति से ही रहना चाहिए? आप इस बात को समस्या क्यों बना रही हैं? शान्तिपूर्वक रहने की माँग स्वयं ही संघर्ष है, है न? मैं यदि पूछ सकता हूँ, कहिये, आप चाहती क्या हैं? यदि आपको अकेले ही, अस्वस्थ हुए बिना शान्तिपूर्वक ही रहना है, तब आप स्वयं को विचलित क्यों होने देती हैं? अपने जीवन के सारे द्वार, सभी गवाक्ष बन्द करके, स्वयं को सर्वथा पृथक् करके एकाकी रहना आपके लिए पूर्णतया शक्य है। यही तो बहुत से लोग चाहते हैं। कुछ लोग बुद्धिपुरःसर पृथकता का संवर्धन करते हैं और बाकी सब अपनी प्रकट-अप्रकट इच्छाओं के और क्रियाओं के द्वारा यह व्यावर्तन, यह एकान्त निमंत्रित करते हैं। जो सरल और गम्भीर हैं, वे अपने आदर्श और सद्‌गुणों को लेकर अहं-पावित्र्यवादी बनते हैं; उनके लिए ये गुण तथा आदर्श केवल आत्मरक्षा के साधन हैं, और जो अविवेकी हैं, वे सामाजिक प्रभाव और आर्थिक दबाव के कारण अलगाव में बह जाते हैं। हममें से बहुत से लोग अपने चारों ओर दीवार खड़ी करना चाहते हैं, ताकि बाह्य आघातों से बचकर सुरक्षित हो सकें, किन्तु दुर्भाग्यवश सदैव ही किसी छेद से जीवन अन्दर प्रवेश पा लेता है।

"सामान्यतः मैंने अस्वस्थ करनेवाले बहुत से विक्षेपों को दूर रखने में कुशलता प्राप्त की है, किन्तु गत दो-एक सप्ताह से आपके कारण इतनी अधिक बेचैन हो गयी हूँ जैसी अब तक कभी नहीं थी। कृपा करके यह बताइये कि मैं अस्वस्थ क्यों हो गयी हूँ। अन्ततः इसका कारण क्या है?"

आप उसका कारण किसलिए जानना चाहती हैं? स्पष्ट है कि कारण जानने से आप उसके परिणाम को समाप्त करने की आशा रखती हैं। वास्तव में अपनी अस्वस्थता का कारण जानना आप चाहती ही नहीं हैं, क्या चाहती हैं? आप विक्षेपों को केवल टालना चाहती हैं।

"मैं इतना ही चाहती हूँ कि मुझे अकेले छोड़ दिया जाय, ताकि शान्ति के साथ बिना विक्षेप के मैं रह सकूँ। केवल यही बताइये कि मैं सदैव विचलित क्यों होती हूँ ?"

आप जीवनभर सतत आत्मरक्षा करती रही हैं, रही हैं न ? आपकी असली दिलचस्पी इसी में रही है कि सभी द्वार बन्द कैसे हों, इसमें कभी आपकी रुचि रही ही नहीं कि बिना अवलम्बन के, भयमुक्त होकर कैसे जीयें ? आपकी बातों से और आपने जो नहीं कहा उससे भी, यह बात स्पष्ट होती है कि किसी भी तरह की आंतरिक अस्वस्थता से बचाकर अपना जीवन सुरक्षित रखने की आपने कोशिश की है; जिस सम्बन्ध से आपको कष्ट या वेदना होती, ऐसे सम्बन्ध से आप पीछे हटकर अलिप्त रहती आयी हैं। सभी आघातों से अपने-आप को बचाकर, बन्द द्वार और गवाक्षों के भीतर जीने के लिए, स्वयं को सुरक्षित रखने में आप बहुत हद तक सफल हो सकी हैं। इस तरह पूरी व्यवस्था करने में कुछ व्यक्ति सफल होते हैं, और यदि इसे बहुत दूर गहराई तक ले जायें, तो इसका अन्तिम छोर पागलखाना ही होता है; शेष असफल व्यक्ति अश्रद्धा और कटुता से भर जाते हैं। कुछ लोग ज्ञान से या वस्तुओं से अपने-आप को समृद्ध बना लेते हैं, जो उनका रक्षा-कवच बनकर रहता है। बहुसंख्य लोग—जिनमें तथाकथित धार्मिक लोग भी समाविष्ट हैं—शाश्वत शान्ति की अभिलाषा रखते हैं, जिस अवस्था में सारे संघर्ष विलीन हो जाते हैं। फिर ऐसे भी लोग होते हैं, जो संघर्ष को ही जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति मानकर उसके गीत गाते फिरते हैं, और जीवन से रक्षा पाने के लिए संघर्ष ही उनकी ढाल होती है।

अपनी आशा और भय की दीवालों के पीछे सुरक्षा खोजने से क्या आपको कभी शान्ति प्राप्त हो सकेगी ? आप अपने जीवनभर प्रत्याहृत स्थिति में जाती रही हैं, कारण जितने मर्यादित सम्बन्धों पर आप अधिकार चला सकती थीं, उतने की ही दीवारों के भीतर आप सुरक्षित रहना चाहती थीं। क्या यही आपकी समस्या नहीं है ? आप परावलम्बी हैं, अपने अवलम्बन—विषय का स्वामित्व चाहती हैं। जिन पर आप अधिकार नहीं चला सकतीं, ऐसे सम्बन्धों से आप डरती हैं और इसीलिए उन्हें टालना चाहती हैं। यही बात है न ?

"यह कुछ कठोरता से कही गयी बात है, किन्तु शायद यही सत्य है।"

यदि आप अपने वर्तमान विक्षेप के कारण पर, हेतु पर, प्रभुत्व स्थापन कर सकेंगी, तो आप शान्ति से रह सकेंगी, किन्तु यह सम्भव नहीं है, इसलिए आप बहुत चिन्तित हैं। जब हमें आकलन नहीं होता, तब हम सबमें अधिकार जमाने की चाह होती है; जब हममें स्वयं का ही भय रहता है, तब हम स्वामित्व चाहते हैं

अथवा हम पर किसी का स्वामित्व हो, हम किसी के अंकित हों, यह हमारी चाह रहती है। स्वयं के सम्बन्ध में जब अनिश्चितता महसूस होती है, तब श्रेष्ठता का, बहिष्करण का और पृथकता का भाव उत्पन्न होता है।

यदि मैं आपसे पूछूँ तो मुझे यह बताइये कि आप किससे भयभीत हैं? क्या आपको एकाकीपन का भय लगता है, या छोड़ दिये जाने का; अनिश्चित बनाये जाने का?

"देखिये, अपने पूरे जीवनभर मैं दूसरों के लिए जीती आयी हूँ, या मैं ऐसा मानती थी। मैं एक आदर्श के अनुरूप चलती थी, और जिसे भला कार्य कहा जाता है, उसे कार्यक्षमता के साथ करने के लिए मेरी प्रशंसा होती आयी; मैं अत्यन्त संयमित, असुरक्षित और गृह-संतान-विहीन जीवन जीती आयी हूँ। मेरी बहनें अच्छी तरह से विवाहित और समाज में प्रतिष्ठित हैं। मेरे बड़े भाई बरिष्ठ सरकारी अधिकारी हैं। जब मैं उनसे मिलती हूँ, तब मुझे ऐसा लगता है कि मैंने अपना जीवन व्यर्थ गँवाया। मुझमें कटुता बढ़ रही है, और जो चीजें मेरे पास नहीं हैं, उन सभी के लिए मुझे गहरा खेद है। जो कार्य मैं करती थी, वह अब मुझे अच्छा नहीं लगता है, उसमें अब मुझे कोई आनन्द नहीं आता, और दूसरों पर मैंने उसे छोड़ दिया है। उस सबकी ओर मैंने पीठ फेर ली है। जैसा आपने कहा, मैं स्वरक्षा में बहुत कठोरतापूर्वक लगी हूँ। मेरे छोटे भाई की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है, और वह अपने को ईश्वर-भक्त मानता है, उसी में अब मैंने सारी आशाएँ लगायी हैं। मैंने स्वयं को आन्तरिक सुरक्षा दिलाने की पूरी कोशिश की है, किन्तु यह एक बहुत लम्बी और यातनामय संघर्ष-गाथा है। यही छोटा भाई मुझे आपके एक प्रवचन में ले आया था, और जो भवन मैं बहुत सावधानी से खड़ा कर रही थी, वह एकदम धराशायी होने लगा। मैं भगवान् से कहती हूँ कि मैं यदि आपका प्रवचन सुनने आती ही नहीं तो कितना अच्छा होता, किन्तु अब सुरक्षा-कोट का पुनः निर्माण मैं कर नहीं सकती हूँ, उसी चिन्ता और कष्ट में से फिर से गुजरना मेरे लिए सम्भव नहीं है। आप कल्पना नहीं कर सकते, कि अपने भाई-बहनों के उच्च पद, प्रतिष्ठा और सम्पत्ति को देखने पर मुझे कैसा लगता होगा। किन्तु मैं उस सबकी चर्चा नहीं करूँगी। उनसे मैंने सारे सम्बन्ध तोड़ दिये हैं; और क्वचित् ही उनसे मिलती हूँ। जैसा आपने कहा, एक या दो सम्बन्धों को छोड़कर शेष सभी के द्वार मैंने धीरे-धीरे बन्द किये हैं; किन्तु दुर्भाग्य से आप इस नगर में आये और अब सारे द्वार खुल गये हैं, सभी पुराने घाव ताजे हो गये हैं; और मैं अत्यन्त व्यथित हो गयी हूँ। अब मैं करूँ तो क्या करूँ, बताइये।"

रक्षण का जितना अधिक प्रबन्ध हम करेंगे, उतना ही अधिक आक्रमण हम पर होगा; जितनी अधिक सुरक्षा हम खोजेंगे, उतनी ही वह कम होती जायेगी;

शान्ति की जितनी अधिक चाह हममें होगी, हमारा संघर्ष उतना ही अधिक बढ़ेगा; हमारी माँग जितनी अधिक, उतने ही अनुपात में हमारे पास कमी रहेगी। आपने स्वयं को अभेद्य, आघातों से सुरक्षित रखने की पूरी चेष्टा की है; आपके आन्तरिक जीवन में, एक या दो को छोड़कर अन्य किसी को भी आपने निकट नहीं आने दिया है और जीवन के सभी द्वार आपने बन्द किये हैं। यह तो धीमी-धीमी आत्महत्या ही है। अब, यह सब आपने क्यों किया? क्या यह प्रश्न कभी आपने स्वयं से पूछा? इस सन्दर्भ में क्या आप जानना चाहतीं? या तो आप यहाँ सभी द्वार बन्द कैसे करें, यह जानने आयी हैं, अथवा स्वयं को खोलकर जीवन के आघात कैसे झेलें, यह समझने आयी हैं। इन दोनों में से कौन-सी बात आप चाहती हैं, कहिये, पसंदगी की दृष्टि से नहीं, किन्तु एक सहज, स्वयंस्फूर्त बात की दृष्टि से?

"वस्तुतः अब मैं देख रही हूँ कि सभी द्वार बन्द करना सर्वथा असंभव है, क्योंकि नित्य ही कोई न कोई द्वार खुला रहेगा। मैं क्या करती आयी हूँ, यह बात मेरे ध्यान में आयी है, मुझे स्पष्ट दिखाई देता है कि अनिश्चितता का भय मुझमें परावलंबन और प्रभुत्व की आकांक्षा को जन्म देता आया। यह भी स्पष्ट है कि कितना ही क्यों न चाहूँ, हर परिस्थिति पर मैं प्रभुत्व नहीं जमा सकती थी, और इसलिए जिन एक-दो संबंधों को अधिकारपूर्वक पकड़ में रख सकती थी, उन्हीं तक मैंने अपना संपर्क मर्यादित रखा। अब पूर्णरूप से यह सब मैं देखती हूँ। किन्तु सर्वथा स्वतंत्र और आंतरिक अनिश्चितता से विमुक्त होकर, फिर से खुलकर मैं कैसे जी सकूँगी?"

भेद्यता, और स्वयं को खोलने की आवश्यकता क्या आप सचमुच महसूस कर रही हैं? यदि आप इस सत्य का साक्षात्कार नहीं करेंगी तो आप पुनश्च अपने चारों ओर अनजाने ही दीवारें खड़ी करेंगी। मिथ्या में सत्य का दर्शन करना यह प्रज्ञा का प्रारंभ है। मिथ्या को मिथ्या के रूप में देखना यह उच्चतम समझदारी है। अब तक इतने वर्षों में आप जो करती आयीं, उसकी राह आपको अधिक ही संघर्ष और दुःख की ओर ले चलेगी, यह देखने पर—इसका केवल शाब्दिक स्वीकार करने पर नहीं, किन्तु इस सत्य की वास्तविक अनुभूति करने पर—आपकी क्रिया का समापन स्वयं ही हो जायेगा। आप स्वेच्छा से, प्रयत्नपूर्वक स्वयं को खुला नहीं बना सकेंगी; इच्छापूर्वक आप अपने को आघाताभिमुख नहीं बना सकती हैं। आघात-स्वीकार की प्रेरणा ही प्रतिरोध को जन्म देती है। मिथ्या को मिथ्या के रूप में समझने मात्र से ही, उससे मुक्ति पायी जाती है। अपने पूर्वाभ्यस्त प्रतिसादों का तटस्थ अवलोकन कीजिये; बिना प्रतिरोध के केवल उनका अवबोध होने दीजिये; जैसे तादात्म्य से उत्पन्न रुचि-अरुचि के बिना ही किसी बालक को आप देखेंगी, ठीक

उसी तरह उन्हें तटस्थता से देखिये। क्रियाशून्य तटस्थ अवलोकन स्वयं ही, द्वार बन्द करने की, सुरक्षा की प्रक्रिया से विमुक्ति है। आघात के लिए खुले रहना ही जीवन है, और सुरक्षा की व्यवस्था करके, जीवन से हट जाना ही मृत्यु।

२१. निराशा और आशा

छोटी सी ढोलक प्रसन्न, लयबद्ध ताल दे रही थी और अब बाँसुरी उसका साथ देने लगी थी ! दोनों नादों से वायुमंडल व्याप्त था। प्रभुत्व था ढोलक का, किन्तु वह बाँसुरी का अनुगमन करती थी, उसका साथ देती थी। बाँसुरी रुक जाती थी, किन्तु छोटी ढोलक आगे बजती ही रहती—स्पष्ट और तीक्ष्ण, जब तक बाँसुरी का गीत उसका साथ करने फिर से निनादित नहीं होता था। उषा अभी दूर थी और पंछी निस्तब्ध थे, किन्तु उस संगीत ने नीरवता को भर दिया था। उस छोटे से देहात में शादी का समारोह चल रहा था। गत शाम वहाँ बड़ी खुशियाँ मनायी जा रही थीं; हास्य और गीत रात को देर तक चलते रहे और अब संगीत से दोनों पक्षों को जगाया जा रहा था। अभी-अभी फीके, धूँधले आकाश की पार्श्वभूमि पर वृक्षों की निष्पर्ण टहनियाँ दिखाई देने लगी थीं; एक-एक करके तारे विलुप्त हो रहे थे और संगीत समाप्त हो गया था। बालकों की पुकार और चिल्लाहट सुनाई देती थी और देहात के अकेले नल के आसपास झगड़े का कोलाहल गूंज रहा था। सूरज अभी क्षितिज के नीचे ही था, किन्तु दिन का प्रारंभ हो चुका था।

प्रेम करना याने सभी चीजों का अनुभव करना, किन्तु प्रेमशून्य अनुभव करने का अर्थ है व्यर्थ जीना। आघात के लिए खुले रहना ही प्रेम है, किन्तु इस आघात की अभिमुखता के बिना ही अनुभव करने से कामना को बल मिलता है। कामना प्रेम नहीं है और यह तृष्णा, इच्छा प्रेम को धारण नहीं कर सकती। कामना शीघ्र ही विलुप्त होती है और उसकी यह क्षण-भंगुरता ही दुःख है। कामना को रोकना संभव नहीं है; इच्छापूर्वक कामना को समाप्त करना क्षय और दुःख के प्रति पहुँचना है, भले मन कितना ही प्रयास क्यों न करता हो। केवल प्रेम ही कामना को नियंत्रित कर सकता है, और प्रेम कभी मन का नहीं होता। निरीक्षक के रूप में मन का विलोप होने पर ही प्रेम प्रकट होता है। प्रेम का योजनापूर्वक संवर्धन नहीं होता, न पूजा या यज्ञ के द्वारा उसका क्रय हो सकता है। प्रेम तक पहुँचानेवाला कोई भी साधन उपलब्ध नहीं है। प्रेम के आविष्करण के लिए साधन की खोज समाप्त होनी चाहिए। स्वतःस्फूर्त होने से प्रेम का सौंदर्य जाना जाता है, किन्तु

उसका पीछा करने से स्वतंत्रता का अन्त होता है। जो मुक्त है, उसी के लिए प्रेम आविर्भूत होता है, किन्तु मुक्तता कभी निर्देश नहीं करती, न आसक्त होती है। प्रेम स्वयं ही शाश्वत सत्य है।

वह महिला सहजभाव से बोलती थी और उसकी शैली भी स्वाभाविक थी। तरुण होते हुए भी उस पर उदासी छायी हुई थी; अतीत के स्मरण के साथ वह मुस्कराती थी और उसकी मुस्कराहट में तनाव था। उसका विवाह हुआ था, किन्तु कोई सन्तान नहीं थी और हाल में ही उसके पति की मृत्यु हुई थी। आयोजित विवाहों के समान उनका विवाह नहीं था, न वह पारस्परिक आसक्ति के कारण हुआ था। उसे 'प्रेम' शब्द का उपयोग करने की इच्छा नहीं थी, क्योंकि प्रेम शब्द प्रत्येक पुस्तक में और सभी की जिह्वा पर रहता है; परन्तु उसका पारस्परिक सम्बन्ध कुछ अलौकिक ही था। उसके विवाह के प्रथम दिन से पति की मृत्यु के दिन तक, उनके बीच किसी ओर से कभी भी चुभनेवाला शब्द या अधीरता का संकेत व्यक्त नहीं हुआ था, न कभी वे एक-दूसरे से एक दिन के लिए भी अलग हुए थे। उनके बीच एक ऐसी एकरसता निर्माण हुई थी कि अन्य सभी बातें—संतान, सम्पत्ति, कार्य, समाज—गौण बन गये थे। यह एकात्मता निरी रोमानी भावुकता नहीं थी, न वह पति की मृत्यु के बाद की कल्पना थी, बल्कि एकदम प्रारम्भ से ही वह वास्तविकता रही। उनका आनंद वासनाजन्य नहीं था, किन्तु शारीरिकता से ऊपर और परे की कोई वस्तु थी। अकस्मात् दो महीने पहले एक दुर्घटना में वह मारा गया था। किसी बस ने तीव्र गति से मोड़ ली और वहीं सब समाप्त हो गया।

"अब मैं निराश हो गयी हूँ; मैंने आत्महत्या करने की चेष्टा की, किन्तु क्यों पता नहीं, मैं उसे कर ही नहीं सकती। मैंने सब कुछ भूलने के लिए, संवेदन-शून्य बनने के लिए, अपने-आप को नदी में फेंक देने के सिवा सभी सम्भव प्रयास किये। पिछले दो महीनों से मुझे एक भी रात ठीक नींद नहीं आयी। घने अंधकार में मैं पूर्णतः डूब चुकी हूँ। जिस पर मेरा कोई नियन्त्रण नहीं, ऐसी एक घनी संकटावस्था में मैं फँस गयी हूँ। इस स्थिति का अर्थ ही मेरी समझ से परे है और मैं पूरी तरह से पिट गयी हूँ।"

अपने हाथों से उसने अपना चेहरा ढँक लिया। कुछ देर बाद पुनः उसने कहना शुरू किया—

"यह ऐसा नैराश्य नहीं है, जो हटाया जा सके अथवा जो कभी समाप्त हो सके। उनकी मृत्यु के साथ सारी आशा का लोप हो गया है। लोग कहते हैं कि मैं आगे चलकर भूल जाऊँगी, फिर से विवाह करूँगी अथवा अन्य कोई काम करूँगी। यदि मैं भूल भी सकती हूँ, तो भी ज्योति तो बुझ चुकी है, उसे पुनः प्रज्वलित नहीं

कर सकते, न उसका कोई पर्याय मैं खोजना चाहती हूँ। हम आशा में जीते और मरते हैं, किन्तु मेरे पास आशा है ही नहीं। मेरे पास आशा नहीं, इसलिए मुझमें कटुता नहीं आयी; मैं नैराश्य और अंधकार से व्याप्त हूँ, और प्रकाश की मुझे चाह भी नहीं है। मेरा जीवन एक जीवन्त मृत्यु है, और मुझे न किसी की सहानुभूति चाहिए, न प्रेम, न दया। मैं अंधकार में डूबी रहना चाहती हूँ, भावशून्य, स्मृति-विहीन।"

क्या आप अधिक ही कुंठित होने के लिए और नैराश्य में दृढ़ बनी रहने के लिए यहाँ आयी हैं ? क्या यही आप चाहती हैं ? यदि यही बात है तो आपकी इच्छा पूरी हो जायेगी। मन के समान ही इच्छा लचीली और द्रुतगामी होती है; किसी भी वस्तु के साथ वह समन्वय कर लेगी; किसी भी परिस्थिति के अनुरूप वह अपने-आपको ढाल सकेगी, प्रकाश को दूर रखने के लिए दीवारें खड़ी करेगी। उसका नैराश्य ही उसका आनन्द है। पूजा करने के लिए प्रतिमा का सृजन इच्छा करती है। यदि आपको अंधकार में रहने की इच्छा है तो उसे आप सफल बनायेंगी। क्या अपनी ही इच्छा को बलवान् बनाने के लिए आप यहाँ आयी हैं ?

"देखिये, मेरे एक मित्र ने आपके विषय में मुझसे कहा और भावावेग में मैं यहाँ आयी हूँ। यदि विचार करना मैंने छोड़ दिया होता तो मैं शायद यहाँ आती ही नहीं। सदैव ही मैं जो कुछ करना है, भावावेग में ही करती आयी हूँ और इससे मुझे कभी हानि नहीं पहुँची है। यदि आप मुझे पूछेंगे कि मैं क्यों आयी हूँ, तो मैं इतना ही कह सकूँगी कि मुझे मालूम नहीं है। मुझे लगता है कि हम सभी को आशा की इच्छा रहती है; कोई भी व्यक्ति निरंतर अंधेरे में नहीं जा सकता।"

जो एकरूप हुआ है, उसे पृथक् नहीं किया जा सकता; जो एकात्म हुआ है, उसका विनाश सम्भव नहीं है; यदि एकरसता है तो मृत्यु उसे पृथक् नहीं कर सकती। एकात्मता कभी अन्य के साथ नहीं होती, वह होती है अपने में स्वयं के साथ। दो अस्तित्वों की स्वयं में एकात्मता हो तो दूसरे के साथ पूर्तता होती है; किन्तु दूसरे में ही पूर्ति पायेंगे तो यह स्वयं की अपूर्ति का लक्षण है। अन्य में एक-रूपता यह फिर भी अपूर्णता ही है। एकात्म अस्तित्व अन्य के द्वारा समग्र, स्वस्थ नहीं बनाया जाता; आपके पति समग्र, परिपूर्ण हैं, इसलिए उनके सम्बन्धों में पूर्तता है। जो अधूरा है, उसे सम्बन्ध के द्वारा पूर्ण नहीं बनाया जाता। दूसरे से हम पूर्ण बनते हैं, ऐसा सोचना भ्रामक है।

"उनके कारण मेरे जीवन में पूर्णता थी। उस पूर्णता की अनुभूति का सौंदर्य और आनन्द मैं जानती हूँ।"

किन्तु अब उसका अन्त हो गया है। जो अपूर्ण है, उसी का अन्त होता है। दूसरे के साथ की एकरूपता कभी भी नष्ट हो सकती है; वह सदैव समाप्त होती

रहती है। समग्रता स्वयं में प्रारम्भ होती है, और केवल तभी एकात्मता अविनाशी होती है। एकात्मता की रीति व्यतिरेकी होती है, याने वह नकारात्मक विचार की प्रक्रिया रहती है और यह व्यतिरेकी विचार प्रक्रिया ही सर्वश्रेष्ठ आकलन-शक्ति है। क्या आप समग्रता की खोज कर रही हैं?

"मैं क्या खोज रही हूँ, मुझे मालूम नहीं, किन्तु मैं आशा को समझना चाहती हूँ, क्योंकि अपने जीवन में आशा बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, ऐसा दीखता है। जब वे जीते थे, मैंने कभी भविष्य का विचार नहीं किया, न कभी सुख या आशा का विचार किया। अनागत कल मेरे लिए अस्तित्व में ही नहीं था। बिना किसी चिन्ता के मैं केवल जीती थी।"

क्योंकि आप सुखी थीं, किन्तु अब सुखहीनता, असंतोष के कारण भावी काल का सृजन हो रहा है; आशा अथवा उसका विरोधी निराशा या आशाहीनता उत्पन्न हो रही हैं। यह विचित्र ही है, है न? जब मनुष्य सुखी होता है, तब समय का अस्तित्व ही नहीं रहता, बीता और आगामी कल पूर्णतः अनुपस्थित रहता है; अतीत या अनागत के लिए कोई विचार ही नहीं होता है, किन्तु सुखहीन अवस्था आशा तथा निराशा के जाल बुनती है।

"हम आशा के साथ जन्म लेते हैं और मृत्यु तक उसे साथ चलाते हैं।"

जी हाँ, यही तो हम करते हैं, या शायद कष्ट में ही हम जन्म लेते हैं और आशा हमें मृत्यु तक ले चलती है। आप आशा का क्या अर्थ करती हैं?

"आशा है आनेवाला कल; भावीकाल की, सुख की, आज से अधिक अच्छी स्थिति की, अपनी प्रगति की तीव्र इच्छा; आशा का अर्थ है अधिक सुन्दर घर, अधिक अच्छा रेडियो या पियानो; आशा है सामाजिक सुधार का सपना, एक अधिक सुखद विश्व इत्यादि।"

क्या आशा केवल भावीकाल से ही सम्बन्धित है? अतीत की पकड़ में भी; जो बीत चुका उसमें, क्या आशा अनुस्यूत नहीं है? विचार की आगे और पीछे—दोनों गति में आशा निहित है। आशा है काल की प्रक्रिया। आशा है वह कामना, जो सुखद अनुभूति के सातत्य के लिए उभड़ती है, जो सुधारा जा सकता है, जो अच्छा बनाया जा सकता है, उसके क्रम सातत्य की तीव्र इच्छा; और उसकी विरोधी है आशाहीनता, निराशा। हम आशा और निराशा के बीच झूलते रहते हैं। हम कहते हैं कि आशा है, इसलिए हम जीते हैं, और आशा तो है अतीत में या अधिकतर भावीकाल में। सद्गुण के पीछे दौड़नेवाले प्रत्येक उपासक में, जिसे हम ईश्वर कहते हैं उसके हरएक शोधक में, प्रत्येक सुधारक और क्रान्तिकारी में, प्रत्येक राजनीतिज्ञ में भावीकाल की आशा संजोयी जाती है। हम कहते हैं कि हम आशा के सहारे जीते

हैं, लेकिन क्या यह बात सत्य है ? जब आगामी या अतीत काल हम पर प्रभुत्व चलाता है, तब क्या उसे जीना कहेंगे ? क्या जीवन जीने का अर्थ अतीत की अनागत की ओर प्रवाहित गति है ? आगामी कल इतना महत्त्वपूर्ण हो जाने के कारण ही यह आशाशून्यता और निराशा है। यदि भावीकाल सर्वोच्च महत्त्व का है और उसके लिए तथा उसी के आधार से आप जीते हैं, तो अतीत निराशा का सहारा होता है। आनेवाले कल की आशावेदी पर आप आज की बलि चढ़ाते हैं; किन्तु सुख सदैव वर्तमान क्षण में होता है। जो सुखविहीन हैं वे ही आगामी कल की चिन्ता से अपने जीवन को व्याप्त करते हैं, और इस चिन्ता को आशा नाम देते हैं। सुखपूर्वक जीना का अर्थ हैं आशामुक्त जीना। आशावान् मनुष्य सुखी मनुष्य नहीं है; वह निराशा को जानता है। आशाहीन अवस्था आशा अथवा विद्वेष का, निराशा या उज्ज्वल भविष्य का प्रक्षेपण करती है।

"किन्तु, क्या, हमें आशाशून्य जीवन जीना चाहिए, ऐसा आपका कहना है ?"

क्या ऐसी भी एक स्थिति नहीं है जो आशा की भी नहीं और आशाहीनता की भी नहीं, केवल एक आत्यंतिक आनन्द की अवस्था है ? जब आप स्वयं को सुखी मानती थीं, तब आपमें आशा नहीं थी, नहीं थी न ?

"आपके कहने का अर्थ मेरे ध्यान में आता है। मुझमें आशा नहीं थी, क्योंकि वे मेरे निकट थे और दिन-प्रतिदिन का जीवन जीने में मैं सुखी थी। लेकिन अब वे चले गये हैं, और···जब हम सुखी होते हैं, केवल तभी हम आशा से मुक्त रहते हैं। जब हम सुखहीन, रोगग्रस्त, शोषित, पददलित होते हैं, तभी आगामी कल महत्त्वपूर्ण बन जाता है और जब भविष्य का सुख असंभव है, तब हम पूर्णतः अंधकार में, निराशा में डूब जाते है। किन्तु सुखद अवस्था में कैसे रहा जाता है ?"

आशा और आशाहीन स्थिति का सत्य पहले आप देख लीजिये। केवल देखिये कि आप मिथ्या के जाल में—आशा के भ्रम में और बाद में निराशा की माया में—आप कैसे फंस गयी थीं। इस प्रक्रिया का तटस्थ अवलोकन कीजिये—और यह जितना सुलभ सुनने में लगता है, उतना वस्तुतः है नहीं। आप पूछ रही हैं कि सुखद स्थिति में कैसे रहा जाता है ? क्या यह प्रश्न ही मुख्यतः आशा पर आधृत नहीं है ? आपने जो खोया उसे फिर से प्राप्त करना आप चाहती हैं, अथवा किसी तरह से उस पर पुनः स्वामित्व प्रस्थापित करने की आपकी इच्छा है। आपका प्रश्न कुछ प्राप्त करने की, कुछ बनने की, कहीं पहुँचने की इच्छा दर्शाता है, है न ? जब आपके सामने एक उद्देश्य है, दृष्टि में एक लक्ष्य है, तब आशा है ही; इसलिए आप अपनी ही सुख-हीनता की कारा में बद्ध हो जाती हैं। आशा की रीति है भविष्यकाल की रीति, किन्तु सुख कभी भी कालसापेक्ष वस्तु नहीं है। जब सुख था, तब आपने कभी नहीं

पूछा कि निरंतर आप उसमें कैसे रहेंगी; यदि आप यह पूछतीं तो सुखहीनता का आस्वाद आपको तभी मिलता।

"आपके कहने का अर्थ है कि यह सारी समस्या केवल तभी उठती है, जब मनुष्य संघर्षमय और कष्टप्रद स्थिति में होता है; किन्तु जब किसीको दुःख-कष्ट सहन करना पड़ता है, तभी उससे बाहर निकलने की उत्कटता उसमें होती है, और यह बहुत स्वाभाविक है।"

मुक्ति के लिए राह खोजने की इच्छा केवल एक अन्य समस्या को जन्म देती है। एक समस्या को न समझ पाने से आप अन्य अनेक समस्याएँ खड़ी कर देती हैं। आपकी समस्या है सुखविहीनता की। उसके आकलन के लिए शेष सभी समस्याओं से मुक्त रहना आवश्यक है। सुखहीनता यह एक ही समस्या है आपके सामने। उससे बाहर कैसे निकलें, इस और एक समस्या को उसमें मिला करके आप संभ्रम में मत फँसिये। मन एक आशा की खोज में लगा है; समस्या के सुलझाव की, उससे मुक्त होने की राह वह खोज रहा है। इस पलायन के मिथ्यास्वरूप को देख लीजिये, और तब आप समस्या के ठीक सामने आ जायेंगी। समस्या के साथ का यह प्रत्यक्ष सीधा सम्बन्ध संकट के चरम बिन्दु को निकट लाता है, जिसे हम हर समय टालते रहते हैं; किन्तु संकट के इस परिपूर्ण उत्कट क्षण में ही समस्या समाप्त होती है।

"उस मर्मान्तिक दुर्घटना के समय से मुझे लगता आया कि मुझे अपनी ही आशाशून्यता का संवर्धन करना चाहिए, मेरी अपनी ही आशाशून्यता का संवर्धन करना चाहिए; किन्तु किसी भी तरह से इसे सहन करना मेरी शक्ति के बाहर की बात थी। अब मैं देख रही हूँ कि, उनके लिए अनिष्ठा का भाव लिये बिना ही और भयमुक्त होकर के मुझे इस संकट के सम्मुख जाना चाहिए। देखिये, मुझे आंतरिक गहराई में ऐसा महसूस होता था कि मैं सुख से रहूँगी तो एक तरह से उनके प्रति निष्ठाहीन होऊँगी; किन्तु अब यह बोझ हलका होता जा रहा है, और ऐसे एक सुख की संवेदना जाग रही है, जो कालसापेक्ष नहीं है।" ●

२२. मन और ज्ञात विश्व

दैनंदिन जीवन का नित्यक्रम देहात के उस एकमेव पानी के नल के निकट पुनरावर्तित हो रहा था। पानी की धारा बहुत हलकी थी और कुछ स्त्रियाँ अपनी पारी आने की राह देखती खड़ी थीं। उनमें से तीन बहुत जोरशोर से और कटु शब्दों के साथ झगड़ा करने में व्यग्र थीं, वे इतनी क्रुद्ध थीं कि अन्य किसीकी ओर उनका तनिक भी ध्यान नहीं था, न दूसरे कोई उनकी तरफ ध्यान देते थे। यह

वहाँ का नित्य का ही संस्कार रहा होगा। सभी कर्मकाण्डों के समान यह भी उत्तेजक था और वे स्त्रियाँ इस उत्तेजना का आनन्द लूट रही थीं। एक वृद्धा चकचकित माँजे हुए पीतल के कलसे को एक तरुण स्त्री के सिर पर चढ़ाने में सहायता कर रही थी। कलसे के नीचे सिर पर बोझ हलका करने के लिए, कपड़े की एक छोटी कुंडली तरुणी ने रखी थी, और एक ही हाथ का हलका आधार कलसे को दिया था। उसकी चाल बड़ी शानदार थी और उसमें बड़ी शान थी। एक छोटी-सी लड़की ने चुपचाप आकर नल के नीचे अपना कलस रखा और भरते ही, बिना कुछ कहे, उसे उठाकर ले चली। दूसरी स्त्रियाँ आयीं और पानी भरकर ले भी गयीं किन्तु उन स्त्रियों का झगड़ा चलता ही रहा, और ऐसा लगता था कि उसका अन्त कभी आयेगा ही नहीं। अचानक वे तीनों स्तब्ध हो गयीं, अपने-अपने कलसे पानी से भर लिये और ऐसे निकल गयीं जैसे कुछ हुआ ही न हो। अब तक आकाश में सूर्य चढ़ आया था, और उस देहात के घरों के घास के छप्परों में से धुआँ ऊपर उठ रहा था। दिन का पहला भोजन घर-घर में पक रहा था। एकाएक सर्वत्र कितनी शान्ति हो गयी थी। कुछ कौओं का अपवाद छोड़कर शेष सारी सृष्टि निस्तब्ध थी। एक बार वह झगड़े का कोलाहल समाप्त हो जाने पर, उन घरों के बगीचों के और ताल वृक्षों के उपवनों के पीछे से सागर की गर्जना सुनाई देने लगी।

हम अपने उबानेवाले दैनिक कार्य को यंत्रों के जैसा ही चलाते रहते हैं। जीवन की विशिष्ट पद्धति का स्वीकार मानवी मन कितनी उत्सुकता से करता हैं, और कितने आग्रहपूर्वक उसमें आसक्त हो जाता है। किसी वस्तु को कील ठोंककर पक्का किया जाय, वैसे ही हमारा मन किसी कल्पना से बद्ध होता है, उसी के आस-पास वह जीता है, उसी कल्पना के आधार से उसका अस्तित्व टिका रहता है। मन सदैव लंगर डाल कर स्थानबद्ध रहता है, इसलिए कभी भी मुक्त, लचीला नहीं होता। अपने ही केन्द्र की त्रिज्यान्तर्गत, अल्प या विस्तृत सीमा में ही, मन घूमता रहता है। अपने केन्द्र से दूर जाने का उसमें साहस नहीं है, और जब वह साहस बटोरता भी है, तब भय के गर्त में खो जाता है। भय कभी अज्ञात नहीं होता, केवल ज्ञात से वंचित हो जाने का यह भव है। भय को अज्ञात नहीं प्रेरित करता, किन्तु ज्ञात पर अवलंबन हो तो वह मन को अवश्य भयभीत कर देता है। इच्छा अधिक के लिए हो या कम के लिए, उसी के साथ भय रहेगा। सातत्यपूर्वक विविध नमूनों की बुनाई में व्यग्र रहनेवाला मन काल का निर्माता है और काल के साथी हैं—भय, आशा और मृत्यु। आशा मृत्यु की ओर, विनाश की तरफ ले जाती है।

उन्होंने कहा कि वे एक क्रान्तिकारी हैं; आज की समाज-रचना के प्रत्येक अंग का विध्वंस करके नव-रचना का श्रीगणेश करने की उनकी इच्छा थी। सर्वहारा मजदूरों की क्रान्ति के लिए उन्होंने उग्र वामपंथ के साथ उत्कटता से कार्य किया था,

किन्तु वह क्रान्ति सफल नहीं हुई थी। जिस देश में क्रान्ति की शानदार विजय हुई थी, उसमें आज क्या हालत थी। अपनी सैना और पुलिस की मदद से तानाशाही ने, अनिवार्य रूप से, नये वर्ग-भेद निर्माण किये थे, और यह सारा कुछ ही वर्षों में साध लिया था। विषमता की समाप्ति का जो चमत्कारपूर्ण वादा किया गया था, उसकी व्यर्थता सिद्ध हुई। वे चाहते थे कि पुरानी क्रान्ति की सारी गलतियाँ टालकर, सावधानी से एक गहरी और व्यापक क्रान्ति का पुनः शुभारम्भ करें।

आप क्रान्ति का क्या अर्थ करते हैं?

"एक निश्चित योजना के अनुसार आज की समाज व्यवस्था में सम्पूर्ण परिवर्तन—फिर यह परिवर्तन रक्तमय क्रान्ति के द्वारा हो या रक्तविहीन। यह प्रभावपूर्ण होने के लिए विचारपूर्वक, प्रत्येक विवरण में नियोजित करके, उसे तत्वनिष्ठा से कार्यान्वित करना होगा। इस तरह की क्रान्ति कल की एकमेव आशा है, आज की दुर्व्यवस्था में से बाहर निकलने का इससे अन्य कोई मार्ग नहीं है।"

किन्तु पुनश्च क्या वे ही भयंकर परिणाम आपके इस प्रयास में से, नहीं निकलेंगे?—फिर वही तानाशाही, जबरदस्ती और उसके अधिकारी आदि?

"प्रारम्भ में यही परिणाम निकल सकता है, किन्तु हम उसमें से मार्ग निकालेंगे। सदैव एक ऐसा अलग, संगठित क्रान्तिकारियों का समूह सरकार के बाहर रहेगा, जो सरकार पर निगरानी रखेगा, उसका मार्गदर्शन करेगा।"

पूर्वनिश्चित साँचे के अनुरूप क्रान्ति हो, ऐसा आप चाहते हैं, और आगामी कल पर आपकी आशा लगी हुई है, उसके लिए आप अपनी और दूसरों की बलि चढ़ाने को तैयार हैं। क्रान्ति किसी भावना पर आधृत होगी, तो मूलभूत क्रान्ति होना क्या कभी सम्भव है? भावनाएँ अनिवार्यतः अधिक भावनाओं को जन्म देती हैं, आगे चलकर प्रतिरोध तथा दमन की शृंखला बनाती हैं। मान्यताएँ—विश्वास—शत्रुत्व को पैदा करती हैं! एक मान्यता अनेक का निर्माण करती है, और उसके परिणाम हैं—शत्रुत्व तथा संघर्ष। मान्यता की एकरूपता शान्ति नहीं है। भावना अथवा मत अपरिहार्यरूप से विरोध खड़ा करते हैं, और इस विरोध का दमन करना सत्ताधारियों का नित्यकर्म होता है। भावना पर खड़ी क्रान्ति में से प्रतिक्रान्ति अंकुरित होती है, और क्रान्तिकारी अन्य क्रान्तिकारियों के साथ लड़ने में अपना सारा जीवन व्यतीत करता है, सुसंघटित क्रान्तिकारी कमजोर क्रान्तिकारी को समाप्त कर देते हैं। आप इसी घिसी-पिटी पद्धति की पुनरावृत्ति करेंगे, क्या नहीं करेंगे? किन्तु इससे महत्त्वपूर्ण यह दीखता है कि हम क्रांति का गहरा अर्थ समझ लें। क्या इस सम्बन्ध में चर्चा करना संभव है?

"यदि चर्चा निश्चित लक्ष्य की ओर नहीं ले जायेगी तो, उसका मूल्य बहुत थोड़ा होगा। एक नये समाज की रचना करनी ही होगी, और उसकी सफल रचना

करने का एकमेव मार्ग है—योजनाबद्ध क्रान्ति। मैं नहीं मानता कि मैं अपना दृष्टिकोण कभी बदलूंगा, किन्तु आपका कहना भी देख लेते हैं। आप जो कुछ कहेंगे वह शायद बुद्ध, ख्रिस्त और अन्य धार्मिक आचार्यों ने पहचे ही कह दिया है, किन्तु उनका कहना हमें कहाँ ले आया है ? सद्‌गुणी बनने के विषय में किया हुआ उनका उपदेश दो हजार वर्षों से भी अधिक समय से हम सुनते आये हैं, लेकिन पूँजीपतियों ने आज के समाज की कैसी दुरवस्था कर छोड़ी है, देखिये।''

जो समाज भावना पर आधारित होगा, विशिष्ट नमूने के अनुरूप होगा, उसमें हिंसा का प्रादुर्भाव होता है, और विघटन की स्थिति सदैव रहती है। सोचकर गढ़ा गया समाज स्वप्रक्षेपित मान्यता की चौखट में ही कार्य करता है। समाज या समूह कभी भी क्रान्तिकारी स्थिति में नहीं रह सकता, केवल व्यक्ति ही क्रान्ति की नित्य प्रक्रिया में रह सकता है। किन्तु यदि व्यक्ति किसी योजना के, सुप्रमाणित निष्कर्ष के अनुरूप क्रान्तिकारी होगा, तो वह केवल स्व-प्रक्षेपित आदर्श या आशा का अनुवर्तन करेगा। वह स्वयं के संस्कारबद्ध प्रतिवेदनों को अभिव्यक्त करता है; ये प्रतिवेदन भले कुछ परिवर्तित क्यों न हों, फिर भी मर्यादित ही रहते हैं। ऐसी सीमित क्रान्ति वस्तुतः क्रान्ति है ही नहीं; सुधार के समान ही वह प्रतिगामी ही होती है। भावना पर खड़ी क्रान्ति, अथवा निष्कर्ष तथा निर्णयों पर खड़ी क्रान्ति, मात्र पुरानी जीर्ण रचना का परिवर्तित सातत्य ही है। शाश्वत और आमूल क्रांति, जीवन में चरितार्थ करने के लिए हमें मन और भावना का आकलन करना होगा।

''आप भावना का क्या अर्थ करते हैं ? क्या भावना को ज्ञान के अर्थ में लेते हैं ?''

भावना है मन का प्रक्षेपण; भावना अनुभूति का परिपाक है और अनुभूति है ज्ञान। सदैव चेतन या अचेतन मन के संस्कारबंध के अनुरूप अनुभव का अर्थ निर्णय किया जाता है। मन है अनुभूति, मन है भावना; विचार के गुण-धर्म से मन पृथक् नहीं होता। संचित ज्ञान और संचय किया जानेवाला ज्ञान मनोव्यापार की प्रक्रिया है। मन है अनुभूति, स्मृति, भावना; वह है जीवन की चुनौतियों के प्रत्युत्तर की समग्र प्रक्रिया। मन की याने सम्पूर्ण चेतना की कार्य-पद्धति का आकलन किये बिना मनुष्य में बुनियादी परिवर्तन आ नहीं सकता, इस आमूल परिवर्तन के अभाव में मनुष्य सभी सम्बन्धों में क्रान्ति कदापि हो नहीं सकती और इन सम्बन्धों की पारस्परिक बुनाई का ही नाम समाज है।

''आप क्या यह सुझा रहे हैं कि ज्ञानरूपी मन क्रान्ति का असली वैरी है ? तब क्या मन कभी भी नयी योजना, नयी राज्य-व्यवस्था विकसित नहीं कर सकता ? यदि आपके कहने का यह अर्थ है कि मन भूतकाल के साथ सम्बद्ध होने से, नूतन का

आकलन उसे कभी हो नहीं सकता और जो भी योजना वह बनायेगा अथवा जिस आदर्श का सृजन वह करेगा, वह सारा प्रयास केवल पुरातन का ही परिपाक होगा, तो फिर, बताइये, परिवर्तन की शक्यता ही कैसे सम्भव है ?"

आइये, यही देख लेते हैं। मन एक नमूने के साँचे में बद्ध रहता है, उसका अस्तित्व ही एक ऐसा सीमाबद्ध दायरा है, जिसके चौहद्दी में ही वह क्रियारत रहता है, उसी में चक्कर काटता है। उसका यह स्वीकृत नमूना अतीतकालीन होगा या आगामी निराशा का होगा या आशापूर्ण, संभ्रमग्रस्त होगा या आदर्शात्मक, परम्परागत होगा या भावी लक्ष्यरूप। इससे हम सब परिचित हैं। आप चाहते हैं कि पुरानी रचना तोड़ दें और 'नयी' पर्यायी संरचना खड़ी करें. किन्तु आपकी नयी रचना केवल पुरानी का रूपान्तरित प्रकार ही है। आप उसे 'नयी' इसलिए कहते हैं कि आपके अपने कोई उद्देश्य और चतुरतापूर्ण युक्ति होती है, किन्तु उनके बावजूद आपका पर्याय तो रहता है पुराना ही। तथाकथित नुतन की जड़ें पुरातन में ही होती हैं : लोभ, ईर्ष्या, हिंसा, घृणा, सत्ता और वहिष्कार—ये ही तो जड़ें हैं। इन्हीं में आसन जमाकर आप नये विश्व का निर्माण करना चाहते हैं। यह नितान्त असम्भव है। आप स्वयं की और दूसरों का वंचना भले करें, किन्तु पुरानी रचना की सीमा को तोड़े बिना बुनियादी, आत्यंतिक परिवर्तन सम्भव नहीं है। आप उसकी भावना को लेकर खेलते रहेंगे, किन्तु विश्व के लिए आशादीप नहीं सिद्ध होंगे। यदि हमें आज की दुरवस्था में से सुव्यवस्था निर्माण करनी है तो सबसे महत्त्वपूर्ण है पुरातन और तथाकथित नूतन संस्थाओं को तोड़ना। इसलिए मानसिक कार्यपद्धति का आकलन होना आवश्यक है। केवल ज्ञात की क्षेत्र-सीमा में, चेतन या अवचेतन, सामूहिक अथवा सतही अनुभूति की मर्यादा में, मन का कार्य-व्यापार चलता है। क्या संरचना की सीमा को छोड़कर कर्म सम्भव है ? अब तक हम इतना ही कर्म जानते हैं जो साँचेबद्ध नमूने से सम्बन्धित होता है और ऐसा कर्म सदैव ही परम्परा से चलते आये या आगामी आदर्शात्मक कर्म के सदृश होगा। अब तक का कर्म आशा और भय से, भूत या भविष्य से समन्वय करता आया है।

"यदि कर्म का स्वरूप भूतकाल से भविष्यकाल की ओर, या अतीत और अनायत के मध्य चलनेवाली गति का नहीं होगा, तो फिर इससे भिन्न अन्य कर्म-स्वरूप कौन सा हो सकता है ? आप हमें अकर्मण्यता की ओर चलने के लिए नियन्त्रित करना तो नहीं चाहते न ?"

यह संसार सचमुच आज से अच्छा ही बनता, यदि हम सभी को सच्ची निष्कर्मण्यता का अवबोध होता, यह नैष्कर्म्यता कर्म की विरोधी कर्महीनता नहीं हैं। किन्तु वह तो सर्वथा दूसरी ही बात है। प्रस्तुत बात यह है कि क्या मन के लिए यह सम्भव है कि किसी स्वरचित ढांचे की कारा में बद्ध न हो, इस वासना के

पुरोगामी और प्रतिगामी झूले से मुक्त हो ? अवश्य ही यह सम्भव है। ऐसा कर्म करना याने वर्तमान क्षण मे जीना। जीवन जीने का अर्थ है आशा से मुक्त, आगामी कल की चिन्ता से विभुक्त रहना। यह कोई निराशा या उदासीनता का भाव नहीं है। किन्तु हम तो जीते ही नहीं हैं, हम सदैव मृत्यु का पीछा करते हैं, अतीत या अनागत प्रलय की ओर दौड़ते हैं। जीना सबसे बड़ी क्रान्ति है। जीवन जीने की कोई रेखांकित पद्धति नहीं होती। किन्तु मृत्यु की विशिष्ट सीमाबद्धता होती है : या तो वह होगी अतीत की या अनागत की, अथवा परम्परा से चलती आयी लकीर की या सुवर्ण युग की। आप उस सुवर्ण युग के लिए जी रहे हैं, इसलिए जीवन को नहीं, आप मृत्यु को निमंत्रण दे रहे हैं।

"आपका सारा विवरण वैसे तो बहुत ठीक है, किन्तु कुछ भी तो निष्पन्न नहीं होता। आपकी क्रान्ति है कहाँ ? कहाँ है कर्म ? कहाँ है जीवन जीने की आपकी नयी रीति ?"

इस नयी रीति का उद्घाटन मृत्यु में नहीं है, वह जीवन में से अंकुरित होती है। आप एक आदर्श के, आशा के पीछे दौड़ रहे हैं, और इस दौड़ को आप कह रहे हैं सम्यक् कर्म, क्रान्ति। आपका आदर्श और आपकी आशा, जीवन की वास्तविकता से कहीं दूर, मन का प्रक्षेपण मात्र है। अतीत के परिणामस्वरूप जो मन है, वही अपने में से नये के नाम से, एक नमूना तैयार कर रहा है और इसी भावना को आप कह रहे हैं क्रान्ति। आपका नया जीवन है तो पुराना ही, केवल उसकी पोशाक बदली है। भूत और भविष्य जीवन को धारण नहीं करते, उनमें जीवन की स्मृति है और जीवन की आशा है, किन्तु उनमें जीवन्तता नहीं है। मृत्यु के सीमित दायरे में ही मन की क्रिया सम्भव है और मृत्यु की बुनियाद पर टिकी क्रांति केवल गाढ़ अन्धकार, अधिक विनाश और दुःख-दर्द ही लाती हैं।

"आपने मुझे नितान्त रिक्त, शून्यवत् बनाकर छोड़ा है, करीब-करीब नग्न ही। आध्यात्मिक दृष्टि से यह मेरे लिए इष्ट ही होगा, मेरा हृदय और मन हलकापन महसूस करते हैं, किन्तु इसमें सामूहिक क्रान्ति-कार्य की दृष्टि से विशेष सहायता नहीं मिलेगी।"

२३. अनुरूपता और मुक्ति

प्रातःकाल गर्जन और बिजली के साथ तूफान आरम्भ हुआ था, और अब सतत वर्षा हो रही थी। दिनभर वह थमी ही नहीं, और लाल धरती उससे अपनी प्यास बुझाती रही। एक विशाल वृक्ष के तले मवेशियों ने आश्रय लिया था। पास ही एक छोटा धवल मंदिर खड़ा था। वृक्ष का घेरा काफी विस्तृत था और चारों ओर चमकीला हरा खेत था। खेत के दूसरी ओर रेल-लाइन थी और उधर थोड़े चढ़ाव पर ट्रेन कष्टपूर्वक चढ़ती थी, फिर चोटी पर पहुँचते ही विजय ध्वनि के रूप में सीटी बजाती थी। रेलवे लाइन के समानान्तर चलने पर जो सुन्दर चित्रांकित बड़ा गेहुअन नाग यदाकदा दृष्टिगोचर होता था, उसके अभी-अभी गयी ट्रेन के नीचे दो टुकड़े हुए थे। शीघ्र ही उन टुकड़ों पर पंछी टूट पड़नेवाले थे और कुछ ही समय बाद सर्प का नामोनिशान भी मिट जानेवाला था।

अकेले रहने के लिए विशाल बुद्धिमत्ता चाहिए; अकेले रहकर भी लचीले, विनम्र रह पाना कठिन है। अपने-आप को सीमाबद्ध करनेवाले अहंतृप्ति की दीवालें बाँधे बिना अकेले रहना हो तो अत्यन्त जागरूकता आवश्यक है; क्योंकि एकान्त जीवन आलस को बढ़ावा देता है और सुखद, न छूटनेवाली आदतों को प्रोत्साहित करता है। अकेले के जीवन में एकाकीपन पनपता है और स्वयं को अथवा अन्य व्यक्तियों को हानि पहुँचाये बिना केवल प्रज्ञावान ही अकेले रह सकते हैं। प्रज्ञा अकेली होती है, किन्तु अकेले का जीवनपथ प्रज्ञा की ओर ले ही जायगा, ऐसा नहीं। पृथकता तो मृत्यु है और परावर्तन में, विमुखता में प्रज्ञा नहीं पायी जाती। प्रज्ञा की ओर ले जानेवाला कोई पथ है नहीं, क्योंकि सभी पथ पार्थक्य निर्माण करनेवाले, व्यावर्तक होते हैं। स्वभावतः ही पथ केवल पृथकता की ओर ले जा सकते हैं, यद्यपि इन पृथकताओं को एकता, समग्र पूर्णता, एकमेव इत्यादि अभिधान दिये जाते हैं। पथ है एक व्यावर्तक प्रक्रिया; साधन व्यावर्तक होता है और साधन के समान ही होता है साध्य। जो होना चाहिए, उस लक्ष्य से साधन पृथक् नहीं होता। क्षणिक विचार के साथ, राहगीर के साथ, खेत के साथ अपने संबंध का आकलन होने पर प्रज्ञा अवतीर्ण होती है। परावर्तन में, प्राप्ति के लिए स्वयं को पृथक् करने में सत्य की खोज का समापन ही है। संबंध जिस अकेलेपन की ओर से जाता है, उसकी संभावना अलगाव में है नहीं। एक ऐसा अकेलापन आवश्यक है जो सीमाबद्ध मन का नहीं, मुक्ति का अकेलापन है। जो परिपूर्ण है, वही अकेला है और अधूरापन पृथकता की ओर उन्मुख होता है।

वे एक लेखिका थीं और उनकी पुस्तकें काफी विस्तृत क्षेत्र में प्रचलित थीं। उन्होंने कहा कि कई वर्षों के बाद वे भारत आ पायी थीं। प्रारंभ में, जब वे निकल पड़ी थीं, तब उन्हें कोई कल्पना नहीं थी कि वे कहाँ पहुँच जायेंगी; किन्तु अब इतने समय बाद उनका गन्तव्य स्थान स्पष्ट हुआ था। उनके पति तथा उनका पूरा परिवार धर्म-संबंधी विषयों में यों ही, सतही स्तर पर नहीं, किन्तु पर्याप्त गम्भीरतापूर्वक अभिरुचि रखता था। फिर भी उन सबको छोड़कर आने का उन्होंने निर्णय लिया था और कुछ शांति पाने की अपेक्षा से वे आयी हुई थीं। जब वे आयीं, तब उनका किसीसे तनिक भी परिचय नहीं था और पहला वर्ष बहुत कठिनाई से बीता था। जिस आश्रम के विषय में उन्होंने पढ़ा था, उसमें वे पहले गयी थीं। वहाँ के गुरु एक सौम्य, वृद्ध व्यक्ति थे। उन्हें कुछ धार्मिक अनुभूतियाँ हुई थीं और अब वे उन्हींके भरोसे जीते थे। एक संस्कृत वचन का वे निरन्तर पाठ करते रहते थे, जिसका अर्थ उनके शिष्यगण समझते थे। इस आश्रम में उनका स्वागत हुआ था, और वहाँ के यम-नियमों के साथ बहुत सुलभता से वे अपना सामंजस्य बैठा सकी थीं। वहाँ अनेक मास रहने मास रहने पर भी उन्हें शांति नहीं मिली। इसलिए एक दिन उन्होंने प्रकट किया कि वे अब निकल जायेंगी। ऐसे प्रज्ञावंत गुरु को छोड़ देने की बात वे सोच सकती हैं, यह देखकर शिष्यगण चकित और संत्रस्त हुए, फिर भी वे आश्रम छोड़कर निकलीं ही। वहाँ से पहाड़ों के मध्य एक आश्रम में जाकर कुछ समय वे रहीं। प्रारंभ में वृक्ष, झरने और पशु-पक्षियों के कारण सुन्दर बने उस स्थान में वे सुखपूर्वक रह पायीं। वहाँ का अनुशासन कुछ कठोर था, फिर भी उन्हें कठिनाई महसूस नहीं हुई। किन्तु वहाँ भी जीवन्त मृतवत् थे। शिष्यगण मृत ज्ञान, मृतपरंपरा और मृतगुरु का पूजन करते थे। जब वहाँ से भी वे निकलीं, तब उन्हें भी धक्का लगा और उनका आध्यात्मिक जीवन अंधकारमय होगा, ऐसी धमकी भी शिष्यों ने दी। उसके बाद वे एक अत्यन्त विख्यात आश्रम में चली गयीं, जहाँ साधक लोग धार्मिक वचनों का पाठ करते थे और निर्धारित ध्यानाभ्यास नियमित-रूप से करते थे; परन्तु धीरे-धीरे उनके ध्यान में आया कि वे एक जाल में पकड़ी जा रही हैं और उसमें वे नष्ट हो जायेंगी। मुक्ति तो गुरु या उसके शिष्य, किसी को भी चाहिए नहीं थी, भले वे उस विषय में बात अवश्य करते थे। उस केन्द्र को बनाये रखने की ही सभी को चिन्ता थी; गुरु के नाम से शिष्यवर्ग जुड़े रहे, इतना ही विचार था। फिर वहाँ से भी पृथक् होकर वे अन्यत्र कहीं चली गयीं। वहाँ भी, थोड़े भिन्न रूप में, वही पुरानी कथा थी।

"मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मैं अनेक गंभीर और गहराई से कार्य करनेवाले आश्रमों में जा चुकी हूँ। वे सब मनुष्य को पकड़कर रखना चाहते हैं, अपनी किसी विचार-पद्धति के अनुरूप—जिसे वे सत्य मानते हैं—व्यक्ति को ठोक-

पीटकर, एक ढाँचे में ढालना चाहते हैं। विशिष्ट अनुशासन के अनुसार, गुरु की निर्दिष्ट जीवन-पद्धति के अनुरूप व्यक्ति चलें, ऐसा वे क्यों चाहते होंगे? मुक्ति वे कभी नहीं देते, केवल मुक्ति का आश्वासनभर देते हैं, ऐसा क्यों?"

स्वीकृत और मान्य चीजों के अनुसार चलने की प्रवृत्ति तृप्तिदायक है; वह शिष्य को सुरक्षा का आश्वासन देती है और गुरु तथा शिष्य दोनों को शक्ति प्रदान करती है। इस प्रवृत्ति से अधिसत्ता—फिर वह दैहिक हो या पारलौकिक दृढ़ होती है और स्वीकृत प्रवृत्ति के कारण जड़ता, मूढ़ता निर्माण होती है, जिसे वे शांति कहते हैं। कुछ सीमा तक पीड़ा सहन करके भी किसी प्रतिरोध के द्वारा यदि मनुष्य दुःख टालना चाहता हो तो उस मार्ग को वह क्यों न अपनाये? अनुरूप वर्तन से संघर्ष के प्रति मानसिक जड़ता आती है। हम चाहते ही हैं कि हमें जड़, संवेदन-शून्य बनाया जाय; हम इस कोशिश में रहते हैं कि कुरूपता आँखों से ओझल हो जाय, और इसी से अपने-आप हम को सुन्दरता के लिए भी संवेदनशून्य बना डालते हैं। मृत या जीवन्त सत्ता के अनुसार चलने से एक उत्कट संतुष्टि प्राप्त होती है। गुरु ज्ञानी हैं और आप हैं अज्ञानी। जब सान्त्वना देनेवाले आपके आचार्य पहले से ही जानते हैं, तब किसी बात की खोज करने का प्रयास आप स्वयं करें यह तो निरी मूर्खता कही जायेगी। इस तरह आप उनके दास बन जाते हैं, और संभ्रम से दासत्व अच्छा है। गुरु और शिष्य परस्पर शोषण द्वारा फलते-फूलते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि आप मुक्ति के लिए आश्रम जाती ही नहीं, क्या जाती हैं? आप जाती हैं शान्त्वना प्राप्त करने, अनुशासन और मान्यताओं का कारावद्ध जीवन जीने, पूजा करने और यथाक्रमपूजा प्राप्त करने के लिए—और इस सबको सत्य का शोध कहा जाता है। वे लोग कभी भी मुक्ति प्रदान कर नहीं सकेंगे, इससे तो वे स्वयं समाप्त हो जायेंगे। मुक्ति किसी आश्रम में, किसी जीवन-पद्धति या मान्य विश्वास में, अथवा किसी अनुरूपता के द्वारा या अनुशासन कहे जानेवाले भय के माध्यम द्वारा पायी नहीं जा सकती। अनुशासनात्मक साधना पद्धतियाँ मुक्तिदात्री नहीं होतीं; वे मुक्ति का आश्वासनमात्र दे सकती हैं, परन्तु आशा मुक्ति नहीं है। मुक्ति के लिए अनुकरण का साधन स्वीकार करने का अर्थ है मुक्ति को अस्वीकार करना; क्योंकि साधन ही साध्य है; नकल करने से ही नकल बढ़ती है, उससे मुक्ति नहीं आती। किन्तु हमें आत्मवंचना पसन्द है, इसीलिए विभिन्न, सूक्ष्म रूपों में जबरदस्ती या पुरस्कार का आश्वासन उत्पन्न होते हैं। आशा है जीवन का अस्वीकार।

"अब तो मैं सभी आश्रमों को; किसी सांसर्गिक रोग के समान टालने लगी हूँ। मैं उनके पास शान्ति के लिए गयी थी और मुझे वहाँ दिये गये——बन्धन, बाध्यता, अधिसत्तात्मक सिद्धान्त और व्यर्थ के आश्वासन। कितनी उत्कण्ठा से हम गुरु के आश्वासन स्वीकार करते हैं। कितने अंधे हैं हम! आखिर इतने वर्षों के

बाद, अब, उनके आश्वासित पुरस्कार पाने की कोई इच्छा मुझमें नहीं रह गयी है। शारीरिक दृष्टि से मैं जीर्णशीर्ण हो गयी हूँ, यह आप देख सकते हैं; क्योंकि बड़ी मूर्खता से मैंने सचमुच उनके दिये हुए नियमों के अनुसार जीने की कोशिश की। इनमें से एक स्थान गुरु के बहुत लोकप्रिय हैं और उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचे हैं; वहाँ जब मैंने शिष्यों से कहा कि मैं आपसे मिलने आ रही हूँ, तब उन्होंने अपने हाथ आकाश की तरफ उठाये और कुछ के आँखों में आँसू तक आये। वह मेरे लिए आखिरी तिनका था। मै आपके पास इसलिए आयी हूँ कि मेरे चित्त को जो एक चीज कसकर पकड़ रही है, उस सम्बन्ध में आपसे बात करूँ; उसका उल्लेख किसी एक गुरु के पास जब मैंने किया, तब उत्तर में उन्होंने कहा कि मुझे अपने विचार को नियन्त्रित करना होगा। वह बात है: एकाकीपन की चुभन मेरे लिए असह्य हो रही है; शारीरिक एकान्त नहीं, उसका तो स्वागत ही है, किन्तु एकाकीपन की गहरी आंतर्वेदना है। इसके बारे में मैं क्या करूँ? इस आंतरिक रिक्तता का अर्थ मैं कैसे समझूँ?''

जब आप मार्ग पूछेंगी, तब अनुयायी बन जायेंगी। एकाकीपन की वेदना होने से आप सहायता चाहती हैं, और यह मार्गदर्शन की माँग ही बन्धन के, अनुकरण तथा भय के लिए द्वार खोल देती है। कैसे यह पृच्छा सर्वथा महत्त्वहीन है। इसलिए आपके दर्द पर विजय पायें, उसे टालें या उसके पार निकल जायें, इसके बदले, आइये, उसका स्वरूप हम समझ लें। जब तक इस एकाकीपन के दर्द का हम पूरा आकलन नहीं करते, तब तक तनिक भी शांति, किंचित् भी विश्राम सम्भव नहीं है, उस समय तक रहेगा केवल निरन्तर संघर्ष; और हमें भान हो या न हो, हममें से अधिकतर लोग तीव्रता से या सूक्ष्मत: इस भय से भाग निकलने की कोशिश में रहते हैं। यह दर्द केवल अतीत के सम्बन्ध में है, जो 'है' उसके साथ इसका कोई सम्बन्ध नही। जो यथार्थत: 'है' उसके अनावृत दर्शन शब्द या सिद्धान्त के माध्यम से नहीं, सीधे अनुभूति से ही होते हैं। यदि भय या वेदना की भावना लेकर यथार्थ के निकट पहुँचेंगे तो जो प्रत्यक्षत: 'है' उसकी खोज कैसे हो पायेगी? उसके आकलन के लिए, क्या उसके सन्दर्भ के पूर्वज्ञान के आवरण को हटाकर, मुक्त मन से आना आवश्यक नहीं है? उसके पास आपका आगमन क्या निर्मल मन से, स्मृतियों और अभ्यस्त प्रत्युत्तर से मुक्त हुए चित्त को लेकर नहीं होना चाहिए? कृपा करके यह मत पूछिये कि नूतन के साक्षात्कार के लिए मन मुक्त कैसे होगा; केवल वास्तविकता का, सत्य का श्रवण कीजिये। केवल सत्य ही मुक्ति लाता है, मुक्त होने की आपकी इच्छा मुक्तिदायी नहीं है। मुक्त होने की आपकी अभीप्सा और प्रयास ही मुक्ति में बाधा है।

नूतन का आकलन क्या तभी सम्भव नहीं होगा, जब अपने सभी निष्कर्ष

तथा सुरक्षा व्यवस्था के साथ मन स्वय के क्रियाकलापों का समापन करेगा ? क्या यह आवश्यक नहीं है कि इस एकाकीपन से पलायन करने का उपाय, मार्ग ढूंढ़ने के बदले मन एकदम निस्तब्ध हो जाय ? आशा और निराशा के झूले पर झूलनेवाले इस एकाकीपन के दर्द का अवलोकन करना ही क्या आवश्यक नहीं है ? क्या एकाकीपन को और उसके भय को यह गति ही जन्म नहीं देती है ? क्या केवल मन की क्रिया ही पृथकता की प्रतिरोध की प्रक्रिया नही है ? मन के प्रत्येक सम्बन्ध का स्वरूप ही क्या पृथकता का, जीवन विमुखता का पथ प्रशस्त नहीं करता है ? क्या अनुभूति स्वयं ही अपने पृथकता की प्रक्रिया नहीं है ? अतः एकाकीपन का दर्द वस्तुतः समस्या है ही नहीं, समस्या है मन, जो समस्या को प्रक्षेपित करता है। इस मन का आकलन ही मुक्ति का प्रारम्भ है। मुक्ति कोई भविष्य की वस्तु नही है, वह तो है प्रथम चरण ही। प्रत्येक प्रकार के उद्दीपन के प्रत्युत्तर की अभिव्यक्ति में ही केवल मन की क्रिया का आकलन सम्भव है ? उद्दीपन तथा प्रत्युत्तर सभी स्तर के सम्बन्ध आविष्कृत करते हैं। संग्रह ज्ञान का हो, अनुभूति का हो या मान्यताओं का, संग्रह-मात्र मुक्ति को कुंठित करता है और केवल मुक्त अवस्था में ही सत्य का आविष्कार सम्भव है।

"किन्तु क्या आकलन के लिए भी प्रयास आवश्यक नहीं है ?"

क्या हम किसी चीज का आकलन संघर्ष या तीव्र प्रयास के द्वारा करते हैं ? प्रयास की क्रिया समाप्त होने पर मन की परिपूर्ण निस्तब्ध अवस्था जब होती है, क्या तभी केवल आकलन अवतीर्ण नहीं होता ? जब निस्तब्धता प्रयासपूर्वक लायी जाती है तब मन नीरव, शान्त नहीं होता; वह तो मृत, संवेदनशून्य मन होगा। जहाँ नीरवता का सौन्दर्य लुप्त हो जाता है।

२४. काल और सातत्य

जल पर संध्या का रंग छाया हुआ था और डूबते सूरज की पार्श्वभूमि पर कृष्णघन वृक्ष खड़े थे। रास्ते पर से एक भरी हुई बस निकल गयी। उसके पीछे कुछ चुस्त लोगों को लेकर एक बड़ी-सी मोटर चली गयी। एक बालक अपने चक्र को दौड़ाता हुआ निकल गया। एक महिला सिर पर लिये भारी बोझ को ठीक संभालने को तनिक रुकी और फिर अपने थके हुए मार्ग पर वह चलती गयी। एक साइकिल सवार लड़के ने किसीको प्रणाम किया और तीव्र गति से अपने घर की ओर बढ़ गया। कई महिलाएँ पास से निकलीं। एक आदमी रुका, सिगरेट सुलगायी और

तिल्ली पानी में फेंककर चारों तरफ एक दृष्टि डाली फिर आगे चला गया। इनमें से किसी ने भी जल पर फैले रंगों पर और आकाश के प्रतिकूल खड़े वृक्षों पर ध्यान दिया हो, ऐसा लगा नहीं। एक लड़की बच्चे को गोद में लेकर आयी और उसे रिझाने, बहलाने के लिए छायाघन जल की ओर उँगली दिखाती, बातें करती रही। घर-घर में अब दीपक प्रज्वलित हो रहे थे और संध्यातारा गगनयात्रा के लिए प्रस्थान कर रहा था।

एक ऐसी उदासीनता है जिसका भान हमें क्वचित् ही होता है। व्यक्तिगत संघर्ष और संभ्रम की चुभन और दुःख हम जानते हैं; विफलता का कष्ट और व्यर्थता हमें मालूम है; प्रसन्नता की पूर्णता और क्षणिकता से हम परिचित हैं। हमें अपने ही दुःख का ज्ञान है, किन्तु दूसरों की उदासीनता हमें स्पर्श नहीं करती। स्पर्श करेगी भी कैसे? क्योंकि हम तो अपने ही दुर्भाग्य और विपत्तियों से घिरे रहते हैं। जब हमारे चित्त क्लान्त और मूढ़ रहेंगे, तब दूसरों की थकान हमें कैसे महसूस हो सकती है? उदासी कितनी व्यावर्तक, अलगाव निर्माण करनेवाली और विनाशक होती है। कैसे क्षणभर में स्मित फीका पड़ जाता है। सब कुछ परम एकाकीपन में, दुःख में परिणत-सा दीखता है।

वह महिला बहुपठित, कर्तृत्ववान और ऋजु थी। उन्होंने विज्ञान और धर्म का अध्ययन किया था और आधुनिक मनोविज्ञान बहुत बारीकी से समझ लिया था। यद्यपि वे अभी काफी तरुण थीं, उनका विवाह हुआ था और विवाह के साथ सामान्यतः होनेवाले दुःखकष्टों को भी उन्होंने देख लिया था, ऐसा वे कहती थीं। अब वे मुक्त थीं और सर्वसामान्य संस्कारिता से कुछ अधिक पाने के लिए उत्सुक थीं, मन की सीमाओं से परे किसी नवीन पथ को टटोलना चाहती थीं। अपने अध्ययन के कारण उनका मन अतीत के चेतन और सामूहिक अनुभवों से परे की संभावनाओं की ओर उन्मुख हुआ था। अनेक प्रवचनों तथा चर्चाओं में वे उपस्थित रही थीं और उन्होंने स्पष्ट किया कि सभी महान् आचार्यों का एकमात्र मूल स्रोत कार्य कर रहा है, ऐसा उन्हें लगा। उन्होंने बहुत ध्यानपूर्वक श्रवण किया था और बहुत कुछ वे समझ भी सकी थीं, और अब वे अनंत तथा काल की समस्या पर चर्चा करने आयी थीं।

"काल से अतीत, मूल स्रोत क्या है, मन की चिन्तन मर्यादा में जो स्थिति आ नहीं पाती, उसका स्वरूप क्या होगा? जिस नवसृजन के बारे में आप कहते हैं, वह कालातीत क्या है?"

क्या कालातीत अवबोध होना संभव है? उसके ज्ञान का या बोध का परीक्षण किस प्रकार होगा? आप उसे कैसे पहचान पायेंगी? किससे उसको नापेंगी?

"उसके परिणामों से ही उसका निर्णय कर सकेंगे।"

परंतु निर्णय काल के अन्तर्गत ही होता है; और कालातीत के परिणामों को क्या काल के मापदण्ड से निर्णीत करेंगे? काल से हमारा क्या अभिप्राय है, यह यदि हम समझ सकेंगे, तो शायद कालातीत का प्रकट होना संभव होगा; फिर भी उस कालातीत का स्वरूप क्या चर्चा का विषय बन सकेगा? यद्यपि हम दोनों को उसका बोध होगा, तो भी क्या हम उसे शब्दरूप दे सकेंगे? हम बोल भी लेंगे, किन्तु हमारा अनुभव कालातीत होगा नहीं। काल का माध्यम स्वीकार किये बिना न उसके बारे में बोलना हो सकता है, न अन्य किसी माध्यम के द्वारा उसका सूचन हो पायेगा। किन्तु शब्द वस्तु नहीं है, और काल के द्वारा कालातीत का आकलन करना निर्विवादरूप से असंभव है। कालातीत अवस्था तभी प्रकट होती है जब काल नहीं रहता। अतः काल से हमारा क्या अभिप्राय है, यह हम पहले समझने की चेष्टा करें।

"काल के भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं: वृद्धि के रूप में काल, दूरी के रूप में काल और गति के रूप में काल।"

काल अनुक्रमिक होता है, वैसे मानसिक भी। वृद्धि के रूप में काल अर्थात् छोटे का बड़ा रूप होना, बैलगाड़ी का विकास हवाई जहाज में होना, बालक से विकसित मानव बनना। इस तरह वृद्धि से आकाश और धरती भरपूर रहते हैं। यह संशयातीत तथ्य है, और इसे अस्वीकार करना निरी मूर्खता होगी। दूरी के रूप में काल अधिक जटिल है।

"यह बात सभी जानते हैं कि मनुष्य एक ही समय में दो भिन्न स्थानों पर हो सकता है—एक स्थान पर कई घण्टों तक और दूसरे स्थान पर कुछ मिनिटों के लिए एक ही कालावधि के बीच।"

जब विचारक एक ही स्थान पर होता है, तब विचार दूर-दूर तक भटक सकता है और भटकता भी है।

"मैं उस घटना के सन्दर्भ में नहीं बोल रही हूँ। एक व्यक्ति, एक भौतिक अस्तित्व दो दूरस्थ स्थानों में एक साथ रहती है, यह बात जानी हुई है। किन्तु हमारा मुद्दा है काल।"

विगत कल भावी कल तक आज के द्वारा पहुँचता है; अतीत वर्तमान में से अनागत की ओर बहता है। काल की यह एक ही गति है, तीन भिन्न-भिन्न गतियाँ नहीं हैं। हम काल को दो रूपों में जानते हैं—एक गणनात्मक, क्रमबद्ध जो वृद्धि में निहित है और दूसरा मानसिक जो कुछ बनने की प्रेरणा में समाहित है। बीज का वृक्ष में वृद्धि और कुछ बनने की मानसिक प्रक्रिया—ये दो भिन्न कालात्मक रूप हैं।

वृद्धि बहुत कुछ स्पष्ट है, अतः उसे हम अभी, इस समय किनारे रख देते हैं। मानसिक दृष्टि से कुछ बनने की प्रक्रिया में काल अपेक्षित है। मैं 'ऐसा' हूँ, और 'वैसा' बनूंगा, इसमें काल एक पथ के, साधन के रूप में उपयोग में लिया जाता है; जो चलता आया है, वह जो होनेवाला है—उसमें परिणत रहता है। इस प्रक्रिया से हम भलीभांति परिचित हैं। इसका अर्थ है कि विचार कालस्वरूप है, जो अब तक रहा है ऐसा विचार और जो होनेवाला है उसका विचार; याने जो 'है' और जो भविष्यकालाधीन आदर्श होगा। विचार है काल की निर्मिति और विचार प्रक्रिया के अभाव में काल है ही नहीं। मन काल का जन्मदाता है, वही काल है।

"आपकी बात निश्चितरूप से सच्ची है। मन काल का निर्माता और उपयोगकर्ता है। मानसिक प्रक्रिया के बिना काल का अस्तित्व नहीं है। परन्तु क्या मन के परे जाना संभव है? क्या विचारात्मक न हो, ऐसी कोई स्थिति है भी?"

आइये, हम मिलकर खोज करते हैं कि ऐसी कोई स्थिति है या नहीं। क्या प्रेम विचार है? हमारा जिस व्यक्ति पर प्रेम है, उसका विचार हम भले करते हों; जब वह व्यक्ति अनुपस्थित हो, तब हम उसका विचार करते हैं, या अपने पास उसकी प्रतिमा या फोटो होगा। यह विरह विचार को जन्म देता है।

"क्या आपका ऐसा अभिप्राय है कि जब एकात्मकता होती है, तब विचार लीन होता है और केवल तभी प्रेम होता है?"

एकात्मता में द्वैत अभिप्रेत है, लेकिन अभी यह मुद्दा नहीं है। क्या प्रेम एक विचार-प्रक्रिया है? विचार है कालात्मक, और प्रेम क्या कालबद्ध है? विचार में काल का बंधन है, और आप पूछ रही हैं कि क्या काल के बंधनात्मक गुणधर्म से मुक्त होना संभव है?

"यह अवश्य संभव होना चाहिए, अन्यथा नवसृजन की संभावना ही नहीं रहेगी। नव-सृजन तभी संभव है, जब कालसातत्य की प्रक्रिया थमती है। सृजन पुराने का क्रम सातत्य नहीं है, वह है नवीनता, नवदर्शन, नवीन शोध, नवसंरचना।"

क्रम सातत्य है सृजन की मृत्यु।

"किन्तु कालसातत्य को पूर्ण विराम देना संभव कैसे होगा?"

सातत्य से हमारा अभिप्राय क्या है? किस कारण से सातत्य बनता चला जाता है? वह क्या चीज है जो क्षण को क्षण के साथ जोड़ती है, जिस प्रकार मणियों को एकत्र जोड़कर धागा गले की माला बनाता है? क्षण है नूतन, किन्तु इस नूतन को पुरातन अपने में समा लेता है और इसी से सातत्य की श्रृंखला आविर्भूत होती है। क्या नवीन कभी सचमुच होता भी है? या केवल नूतन की पहचान ही पुरातन से होती है? यदि प्राचीन नवीन को पुनः पहचान मात्र लेता है तो क्या वह नवीन है?

पुरातन केवल स्वयं के प्रक्षेपण को ही पुनः पहचान सकता है; उसे वह भले नूतन कह दे, किन्तु वस्तुतः वह नया नहीं है। जो नया है, उसकी फिर से पहचान नहीं हो सकती; वह पहचान के परे की, संबंध के अतीत की अवस्था है। पुरातन स्वयं के प्रक्षेपणों के द्वारा अपने-आप को सातत्य प्रदान करता है। उसे कभी नवीन का स्वरूप मालूम ही नहीं हो सकता। नये का रूपान्तर प्राचीन में हो सकता है, किन्तु वह कभी प्राचीन के साथ हो नहीं सकता। नवीन का अनुभवन अर्थात् पुरातन की अनुपस्थिति। अनुभव तथा उसकी अभिव्यक्ति का नाम है विचार, भावना; विचार नये का रूपान्तर प्राचीन के रूप में करता है। पुरातन ही सातत्य निर्माता है; पुरातन का अर्थ है स्मृति, शब्द वही काल है।

"स्मृति का समापन करना किस तरह संभव है?"

क्या यह संभव है? जो अस्तित्व स्मृति को तिलांजलि देना चाहता है, वह स्वयं ही स्मृति को आकार देती है; वह स्वयं स्मृति से भिन्न नहीं है। यही वास्तविकता है, है न?

"जी हाँ, प्रयत्न की जन्मदात्री स्मृति से, विचार से अंकुरित होती है। चेतन या अवचेतन भूतकाल का परिणाम है विचार। तब फिर क्या करना होगा?"

कृपा करके पहले आप सुन लीजिये और तब जो आवश्यक है वह आप बिना प्रयास के, सहजता से कर लेंगी। कांक्षा है विचार; कांक्षा से विचार की शृंखला गढ़ी जाती है। कांक्षा है, प्रयास, संकल्प की क्रिया। संग्रह करते जाना कांक्षा की प्रकृति है; और संग्रह का अर्थ है सातत्य। अनुभव, ज्ञान, सत्ता अथवा वस्तु संग्रहीत करने से सातत्य बनता है, और इनको अस्वीकार करने का अर्थ है निषेधरूप सातत्य। भावात्मक या अभावात्मक सातत्य, दोनों ही समान हैं। कांक्षा है संग्रहशील केन्द्र, फिर यह कांक्षा अधिक के लिए हो या कम के लिए। यह केन्द्र है अहम्; जीवभाव। अपने-अपने संस्कारबद्धता के अनुरूप भिन्न-भिन्न स्तरों पर अहम् प्रतिष्ठित होता है। इस केन्द्र से निसृत होनेवाली प्रत्येक क्रिया केवल अपना ही सातत्य बनाती जाती है। मन की प्रत्येक गति कालबद्ध होती है; उससे नवसृजन कुंठित होता है। जो कालातीत है, वह कभी कालबद्ध स्मृति के साथ प्रकट नहीं होता। स्मृति से, अनुभूति से असीम मापा नहीं जाता। अनुभूति या ज्ञान जब पूर्णतया विलीन होता है तभी केवल अनामी प्रकट होता है। केवल सत्य ही मन को उसके अपने बंधन से मुक्त करता है। ●

२५. परिवार और सुरक्षा की कांक्षा

कामनावृत्ति से आनेवाली संतुष्टि कितनी शोभाहीन है। संतोष एक वस्तु है और संतुष्टि बिलकुल भिन्न है। संतुष्टि से मन जड़ और चित्त श्रान्त होता है; उससे अंधविश्वास और शिथिलता निर्माण होती है और संवेदनशीलता की तीक्ष्णता खो जाती है। जो कामनापूर्ति चाहते हैं और जिन्हें वह प्राप्त है, वे ही उलझन और दुःख उत्पन्न करते हैं; गंदगीभरे देहात तथा कोलाहलपूर्ण नगर उन्हींकी उपज है। उत्कीर्ण मूर्ति के लिए वे मन्दिर बाँधते हैं, और तुष्टिदायक कर्मकाण्ड करते रहते हैं। वर्गविच्छेद और युद्ध को वे प्रोत्साहित करते हैं; कामनातुष्टि के उपाय वे सतत बढ़ाते ही जाते हैं; संपत्ति, राजनीति, सत्ता और धार्मिक संघटन इनके माध्यम से उनकी जीवन-पद्धति व्यक्त होती है। अपनी सम्मान्यता और उसके साथ जुड़े हुए विलापों से वे धरती का भार बढ़ाते हैं।

किन्तु संतोष एक भिन्न ही वस्तु है। संतुष्ट रहना बहुत कठिन है। संतोष कहीं के छिपे स्थानों से खोजकर पा नहीं सकते; इन्द्रिय सुख के समान इसका पीछा नहीं किया जा सकता; इसकी प्राप्ति नही की जाती; त्याग की कीमत चुका कर इसे खरीदा नहीं जा सकता; इसकी कोई कीमत है ही नहीं। किसी भी साधन से इसके निकट पहुँच नहीं होती, न इस पर ध्यान करके इसे इकट्ठा किया जा सकता है। संतोष का अनुसंधान करने का अर्थ है केवल अधिक कामनातुष्टि की खोज करना। संतोष अर्थात् क्षण-क्षण में उद्घाटित होनेवाली वास्तविकता का, जो 'है' उसका, सम्यक् आकलन। वह निषेधार्थ के आकलन का, सर्वोच्च स्वरूप है। कामना तुष्टि यश तथा अपयश जानती है, परन्तु संतोष निस्सार संघर्षों से लिप्त विरोधी द्वंद्वों को पहचानता तक नहीं। वह इन द्वंद्वों से परे, उनसे अछूता रहता है; वह कोई समन्वय नहीं है, क्योंकि संघर्ष से उसका कोई नाता नहीं होता। संघर्ष केवल अधिक संघर्ष को जन्म दे सकता है। उससे भ्रमजाल और दुःखकष्ट वृद्धिगत होते हैं। चित्त का संतोष मन को उसके भ्रमपूर्ण क्रियाकलाप और विक्षेपों से मुक्ति देता है। संतोष की गति कालसापेक्ष नहीं है।

मिलने आयी महिला ने कहा कि उन्होंने विज्ञान में सम्मान के साथ स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की थी। उन्होंने अध्यापन भी किया और कुछ समाजकार्य भी किया था। स्नातक होने के बाद थोड़े ही समय में उन्होंने देश का अनेक कार्य करते हुए प्रवास किया था; किसी स्थान पर गणित पढ़ाया, तो कहीं पर समाजकार्य किया, माँ की सहायता की और वे जिस समाज की थीं उसमें संघटन का काम

किया। वे राजनीति में नहीं थीं, क्योंकि उन्हें लगता था कि राजनीति का अर्थ है व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा का पीछा करना और समय का मूर्खतापूर्ण अपव्यय। उन्होंने इस सबको स्पष्ट रूप से देख लिया था और अब वे विवाह करने जा रही थीं।

किसके साथ विवाह करना यह आपने स्वयं निश्चित किया है, अथवा आपके माता-पिता इसकी व्यवस्था कर रहे हैं?

"बहुत करके मेरे माता-पिता ही इस बात को देख लेंगे। शायद ही अच्छा मार्ग होगा।"

क्या मैं पूछ सकता हूँ कि ऐसा आपको क्यों लगता है?

"दूसरे देशों में लड़का और लड़की में प्रेम हो जाता है; प्रारंभ में सब ठीक चलता भी होगा, किन्तु कुछ ही समय बाद विरोध, कलह और क्लेश आरम्भ हो जाते हैं, झगड़ा करके फिर उसे मिटाना, सुख की नीरसता, जीवन का नित्यक्रम चालू हो जाता है। आयोजित किये हुए, इस देश के विवाहों का भी यही परिणाम होता है। उसमें से रसकेलिका मजा निकल जाता है। अतः इन दो पद्धतियों के बीच चुनाव करने जैसा कुछ है नहीं। दोनों ही बड़े भयंकर होते हैं, लेकिन कोई कर भी क्या सकता है? अन्ततः, विवाह तो करना ही पड़ता है, सारे जीवनभर कोई अकेले नहीं रह सकता। यह सारा बहुत विषादपूर्ण है, फिर भी कम से कम एक तरह की सुरक्षा तो पति देता ही है, और बच्चे आनन्द का ही विषय है; किन्तु एक के बिना दूसरे की प्राप्ति संभव नहीं है।"

किन्तु आपने स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करने में जो वर्ष बिताये हैं उनका क्या होगा?

"मैं समझती हूँ कि उसके साथ खेल कर सकते हैं, किन्तु बच्चे और गृहकार्य अधिकतर समय ले लेते हैं।"

तब फिर आपके तथाकथित शिक्षण ने क्या साध्य किया? तो किसलिए इतना समय, संपत्ति और प्रयास खर्च करती हैं यदि इन सबकी गति रसोईघर में ही हो? क्या विवाह के बाद कोई अध्यापन या समाजकार्य करने की इच्छा आपको नहीं होती?

"जब अवकाश होगा तभी केवल। सम्पन्नता न हो तो नौकर-चाकर तथा अन्य सभी सुविधाएँ जुटाना असंभव है और मुझे भय है कि एक बार विवाह हो गया कि फिर वे पुराने दिन समाप्त हो जायेंगे—और मुझे तो विवाह करना है। क्या आप विवाह के विरोधी हैं?"

क्या आप परिवार को स्थापित करनेवाली एक संस्था के रूप में विवाह को मानती हैं? क्या परिवार एक समाज-विरोधी इकाई नहीं है? क्या वह एक ऐसा

केन्द्र नहीं है, जिसमें से सभी कार्य प्रस्फुटित होते हैं, एक ऐसा व्यावर्तक संबंध जो अन्य सभी संबंधों पर हावी हो जाता है? क्या वह अपने भीतर घेरनेवाली एक ऐसी क्रिया नहीं है, जो विभाजन और अलगाव, उच्च और निम्न, बलवान और कमजोर इत्यादि भेद निर्माण करती हैं? एक सामाजिक संस्था के रूप में परिवार अखण्ड समग्रता का प्रतिरोधी होता है, प्रत्येक परिवार अन्य समूहों का विरोध करता है। क्या संपत्ति के स्वामित्व की भावना से मण्डित परिवार युद्ध का एक कारण नहीं है?

"यदि आप परिवार-विरोधी हैं, तो फिर जिस व्यवस्था में बच्चे राज्य के आधीन होते हैं, ऐसे स्त्री-पुरुषों के स्पष्टीकरण के आप समर्थक होंगे।"

कृपा करके निष्कर्ष पर पहुँचने की उतावली मत कीजिये। सूत्रात्मक और विशिष्ट प्रणाली की परिभाषा में विचार करने से केवल कलह और विरोध उत्पन्न होते हैं। आपके लिए अपनी प्रणाली या व्यवस्था पद्धति है, और दूसरे के लिए उसकी है। दोनों प्रणालियाँ लड़ती हैं और एक-दूसरे को मिटाना चाहती हैं, फिर भी समस्या जैसी की तैसी ही रहती है।

"परन्तु यदि आप परिवार के विरोधी हैं, तो समर्थक किसके हैं?"

प्रश्न को इस तरह क्यों उपस्थित करती हैं? यदि कोई समस्या है, तो अपने पूर्वाग्रह के आधार पर किसी एक पक्ष का समर्थन करना क्या मूढ़ता नहीं है? विरोध तथा शत्रुत्व-निर्माण करके समस्याओं को शतगुणित करने के स्थान पर समस्या का स्वरूप समझ लेना क्या अधिक अच्छा नहीं है?

आजकल जैसा परिवार है, वह मर्यादित संबंधों की एक इकाई है और वह है स्वसीमाबद्ध तथा वर्जनकारी। समाज सुधारक और तथाकथित क्रान्तिकारियों ने सभी समाज-विरोधी क्रियाकलापों को जन्म देनेवाली निषेधक पारिवारिक भावना को दूर करने की चेष्टा की है; किन्तु वह असुरक्षा के विरोध में स्थैर्य प्रदान करनेवाला एक केन्द्र है और आज सम्पूर्ण विश्व में जो समाजरचना विद्यमान है, उसका अस्तित्व इस सुरक्षा के बिना टिक नहीं सकता। परिवार केवल आर्थिक इकाई नहीं है, और आर्थिक स्तर पर उसकी गुत्थी सुलझाने का कोई भी प्रयास निश्चितरूप से विफल होगा। सुरक्षा की कांक्षा केवल आर्थिक नहीं है, वह बहुत गहरी और जटिल है। यदि मनुष्य परिवार का विनाश करेगा तो राज्य के द्वारा, सामूहिकता के या आस्था इत्यादि के द्वारा विभिन्न सुरक्षा के प्रकार वह खोज लेगा और ये अन्य सुरक्षा प्रबंध भी आगे चलकर अपनी विशेष समस्याएँ उत्पन्न करेंगे। सुरक्षा की एक व्यवस्था के स्थान पर केवल दूसरी व्यवस्था का रोपण करके कार्य सधेगा नहीं, हमें इस आंतरिक, मानसिक सुरक्षा की कांक्षा को समझना होगा।

अत: परिवार समस्या नहीं है, समस्या है सुरक्षा की कांक्षा। क्या यह सुरक्षा की कांक्षा, किसी भी स्तर पर, व्यावर्तक नहीं है? यह व्यावर्तन की भावना परिवार के, स्वामित्व के, राज्य, धर्म इत्यादि के रूप में अपने-आप को व्यक्त करती है। आंतरिक सुरक्षा की यह कांक्षा क्या सर्वदा व्यावर्तक रहनेवाले बाह्यरूप खड़े नहीं करती है? सुरक्षा की आकांक्षा की सुरक्षितता को विनष्ट करती है। व्यावर्तन, पृथकता निश्चितरूप से विघटन को जन्म देती है; राष्ट्रीयता, वर्गविरोध तथा युद्ध—ये उसके लक्षण हैं। आंतरिक सुरक्षा के साधन के रूप में परिवार अव्यवस्था और सामाजिक अनर्थ का एक मूलस्रोत है।

"तब यदि परिवार के रूप में नहीं तो फिर किस प्रकार कोई जीवन जीये?"

मन नित्य किसी पद्धति की, किसी रूपरेखा की कैसे अपेक्षा करता है, यह बात कितनी विलक्षण है न? हमारा शिक्षण सूत्रों में और निष्कर्षों में दिया जाता है। 'किस तरह?' यह पूछना अर्थात् सूत्र की माँग करना, किन्तु सूत्र समस्या को सुलझा नहीं सकते। इस बात का सत्य कृपया समझ लीजियें। जब आंतरिक सुरक्षा की खोज हम नहीं करते, तभी केवल बाह्यत: सुरक्षित जी सकते हैं। जब तक परिवार सुरक्षा का केन्द्र रहेगा, तब तक सामाजिक विघटन होता ही रहेगा; जब तक आत्म-सुरक्षा के हेतु से परिवार का उपयोग किया जाता है, तब तक संघर्ष तथा विपत्ति निश्चित है। कृपया संभ्रमित मत होइये, यह तो बड़ी सरल बात है; जब तक अपनी आंतरिक, मानसिक सुरक्षा के लिए मैं आपका या अन्य किसीका उपयोग करता हूँ, तब तक मैं व्यावर्तक ही रहूँगा। 'मैं' सबसे महत्त्व का हूँ, 'मैं' सबसे अधिक मान्य हूँ; यह 'मेरा' परिवार, मेरी संपत्ति है। उपयुक्तता का संबंध हिंसा पर आधृत है; परिवार जब तक पारस्परिक आंतरिक सुरक्षा का एक साधन है, तब तक वह संघर्ष और संभ्रम का जन्मदाता रहेगा।

"आप जो कह रहे हैं, उसका बौद्धिक आकलन मुझे होता है, किन्तु सुरक्षा की इस आंतरिक कांक्षा के बिना रहना क्या संभव है?"

बौद्धिक आकलन वस्तुत: आकलन है ही नहीं। आपका कहना है कि आपने शब्द सुने और उनका अर्थ ग्रहण किया; बस इतना ही; परंतु इतने से कर्म उत्पन्न नहीं होता। अपनी सृष्टि और सुरक्षा के लिए दूसरे का साधनरूप में उपयोग करें तो यह प्रेम नहीं है। प्रेम कभी भी सुरक्षा नहीं है; प्रेम एक ऐसी स्थिति है, जिसमें सुरक्षा की कांक्षा उत्पन्न नहीं होती। उस स्थिति में सब तरह के आघातों का, खुले तौर पर, स्वीकार है; वही केवल एक ऐसी स्थिति है, जिसमें व्यावर्तन, शत्रुत्व और विद्वेष असंभव है। उस स्थिति में परिवार आकार ले सकता है, परन्तु वह कभी व्यावर्तक, अहंकाराबद्ध होता नहीं।

"किन्तु हम तो ऐसे प्रेम को जानते ही नहीं, फिर कोई कैसे ····· ?"

अपनी विचार-प्रक्रिया के उपायों का भान होना अच्छा है। सुरक्षा की आंतरिक कांक्षा अपने-आप को व्यावर्तन और हिंसा के रूप में बाह्यतः अभिव्यक्त करती है, और उसकी प्रक्रिया पूर्णतः हम समझेंगे नहीं, तब तक प्रेम संभव नहीं। सुरक्षा की खोज करते-करते पाया जानेवाला एक अन्य आश्रयस्थान नहीं है प्रेम। प्रेम के प्राकट्य के लिए सुरक्षा की आकांक्षा संपूर्णरूप से समाप्त होती होगी। प्रेम कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे जबरदस्ती से उत्पन्न कर सकें। किसी भी स्वरूप की जबरदस्ती, किसी भी स्तर की क्यों न हो, प्रेम की निषेधक है। आदर्शवाद को लेकर चलनेवाला क्रान्तिकारी, क्रान्तिकारी है ही नहीं; वह केवल एक विकल्प, एक भिन्न प्रकार की सुरक्षा, एक नयी आशा प्रस्तुत करता है; और आशा मृत्यु ही है। प्रेम ही केवल संबंधों में मूलभूत क्रान्ति या परिवर्तन ला सकता है; और प्रेम मन की वस्तु नहीं है। विचार योजनापूर्वक आशा की भव्य रचना कर सकता है, किन्तु विचार केवल अधिक संघर्ष, संभ्रम तथा दुःख और आपत्तियों में परिणत होगा। प्रेम केवल तभी होता है, जब चालाक किन्तु अपनी ही बनायी कारा का बंदी मन नहीं होता।

२६. अहम्

"ध्यान मेरे लिए सबसे महत्त्व की वस्तु है, गत पचीस वर्षों से प्रत्येक दिन, नियमितरूप से, दो समय मैं ध्यान करता आया हूँ। प्रारम्भ में उसमें बहुत कठिनाई रही, मेरे विचारों पर मेरा तनिक भी नियन्त्रण नहीं रह पाता था और कितने ही विक्षेप आते रहते; किन्तु धीरे-धीरे, करीब पूर्णतः, उन्हें मैं हटा सका। अन्तिम लक्ष्य के लिए मैं अधिकाधिक समय और शक्ति लगाता रहा। भिन्न-भिन्न आचार्यों के पास मैं जाता रहा और असंख्य ध्यान-पद्धतियों का अध्ययन करता रहा। परन्तु उनमें से एक भी मुझे कभी सन्तुष्टि नहीं दे सकी—शायद 'सन्तुष्टि' शब्द इस सन्दर्भ में उचित नहीं है; अपनी-अपनी विशिष्ट पद्धति के अनुसार वे सब ध्यान मार्ग मुझे एक बिन्दु तक ले गये, और मेरी अपनी अवस्था, उनमें से प्रत्येक पद्धति के केवल परिणामरूप बनती गयी, किन्तु वह तो अन्तिम लक्ष्य था ही नहीं। फिर भी इन सब प्रयोगों के कारण मैं अपने विचारों को नियन्त्रित करना सीख गया, और मेरी भावनाओं का भी सम्पूर्ण नियमन हुआ। शरीर तथा मन को शान्त करने के लिए मैंने गहरे प्राणायाम का अभ्यास किया। पवित्र शब्द —ॐ— का मैंने जप किया

और लम्बे समय के उपवास भी किये। नैतिक दृष्टि से मैं बहुत ईमानदार हूँ, और सांसारिक वस्तुओं का मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं है। किन्तु इतने वर्षों के प्रयास और संघर्ष के बावजूद, अनुशासन और आत्मदमन करते रहने पर भी, महात्मा लोग जिस शान्ति और आनन्द की बात करते हैं, वह प्राप्त नहीं कर सका। कुछ विरल प्रसंगों में गहरे आनन्द विभोरता के प्रकाशक्षण में उच्चतर अनुभूतियों के आन्तरिक आश्वासन अवश्य प्राप्त होते रहे, फिर भी अपने ही मन के भ्रम को चीर कर पार होना मेरे लिए सम्भव नहीं हुआ, और मैं निरन्तर उसी में फँसता रहा हूँ। संभ्रमपूर्ण निराशा का मेघ मुझ पर उतरता आ रहा है और दुःख बढ़ता ही जा रहा है।"

एक विस्तीर्ण नदी के तट पर, जल के निकट हम बैठे थे। नगर नदी से ऊपर की ओर, कुछ दूरी पर था। एक लड़का उस पार के किनारे गा रहा था। सूरज हमारे पीछे अस्ताचल पर खड़ा था और जल पर घनी छाया फैली हुई थी। संध्या बहुत सुन्दर, निस्तब्ध थी। पूरब की ओर असंख्य घने बादल छाये हुए थे, और गहरी नदी बहुत मन्द गति से प्रवाहित हो रही थी। इस व्याप्त सौन्दर्य की ओर उनका तनिक भी ध्यान नहीं था; अपनी ही समस्या में वे डूबे हुए थे। हम निस्तब्ध थे और उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर ली थीं; उनका कठोर चेहरा शान्त था, परन्तु आन्तरिक संघर्ष तीव्रता से चल रहा था। पंछियों का एक समूह पानी के किनारे उतर आया; उनकी चिल्लाहट नदी के उस पार पहुँची होगी, क्योंकि अभी एक दूसरा पंछी समूह भी उस किनारे से आकर इनके साथ मिल गया। एक कालातीत शान्ति से धरित्री व्याप्त हो गयी।

इतने वर्षों से आप अन्तिम लक्ष्य के लिए प्रयास करते आये हैं, क्या इस बीच कभी यह प्रयास आपने छोड़कर भी देखा? क्या संकल्प और प्रयास मिलकर ही 'अहम्'—मैं—की निर्मिति नहीं करते हैं? और क्या काल की प्रक्रिया कभी अनन्त तक ले जा सकती है?

"जिस लक्ष्य की प्राप्ति मेरे हृदय को और मेरे समूचे अस्तित्व को है, उसके लिए प्रयास करना, समझ-बूझकर, मैंने कभी भी छोड़ा नहीं। उसे छोड़ने की हिम्मत मैंने नहीं की, यदि की होती तो मेरी अवनति होती। नित्य ऊर्ध्व गति की ओर प्रयत्नशील रहना यह सभी चीजों का सहज स्वभाव होता है, और संकल्प तथा प्रयास नहीं होंगे तो प्रगति कुण्ठित होगी; हेतुपूर्वक किये प्रयास को बिना, मैं अपने से ऊँची स्थिति, अपनी मर्यादा से परे की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता।"

क्या स्वयं के बंधन और भ्रमों से अहम् अपने-आप को कभी मुक्त कर सकता है? अनामी की अभिव्यक्ति हो, इसलिए क्या 'अहम्' को पूर्ण विराम नहीं

मिलना चाहिए ? और लक्ष्य की ओर सातत्यपूर्ण प्रयास करने से क्या अहम् ही केवल बलवान् नहीं बनती, भले उसकी कांक्षा चाहे जितनी एकाग्र क्यों न हो ? आप अपने अन्तिम लक्ष्य के लिए प्रयत्नशील हैं, और अन्य कोई व्यक्ति भौतिक वस्तुओं के पीछे पड़ा हुआ है; आपका प्रयास कितना ही अधिक उदात्त क्यों न हो, फिर भी वह अधिक लाभ की ही कांक्षा है, है न ?

"इस एकमात्र कांक्षा को छोड़कर बाकी सभी वासनाएँ, सारी इच्छाएँ मैंने जीत ली हैं; और यह केवल एक इच्छाभर नहीं है; बस यही एक वस्तु है, जिसके कारण मैं जी रहा हूँ।"

तब आपको इस कांक्षा के लिए भी मृत हो जाना चाहिए, जैसे अन्य सभी इच्छाओं और तड़पनों के लिए आप मृत हैं। इतने वर्षों के कठिन प्रयास और सतत साधे हुए आत्मनिरसन के द्वारा आपने अपने को इस एकमात्र उद्देश्य में दृढ़ किया है, फिर भी यह अहम् के क्षेत्र में ही समाविष्ट है। और आप तो चाहते हैं नामातीत अनुभूति—यही आपकी तीव्र कांक्षा है, है न ?

"निश्चितरूप से। अन्तिम लक्ष्य को जानूँ, भगवान् की अनुभूति पाऊँ, निस्संशय यह मेरी अभिलाषा है।"

अनुभविता सदा अपनी अनुभूति से संस्कारबद्ध होता रहता है। यदि अनुभवकर्ता को अनुभवन का ध्यान हो तब तो अनुभव उसकी अपनी प्रक्षेपित कांक्षाओं का परिणाम है। यदि आप भगवान् का अनुभव कर रहे हैं, इसका आपको भान है, तब वह भगवान् आपकी आशा और भ्रमों का प्रक्षेपणमात्र है। अनुभविता को मुक्ति है ही नहीं, वह नित्य स्वयं के अनुभवों में जकड़ा रहता है; वह काल का निर्माता है और वह कालातीत अनन्त का अनुभव ले नहीं सकता।

"आपके कहने का क्या यही अर्थ है कि जिसे मैंने बड़े अध्यवसाय से, बड़े परिश्रम से तथा विवेकपूर्वक चुनकर खड़ा किया, उस लक्ष्य को विनष्ट करना होगा ? और क्या उसके विनाश का मैं ही साधन बनूँ ?"

'अहम्' प्रत्यक्षरूप से कभी अपने-आप का परित्याग कर सकता है ? यदि वह स्वयं को अस्वीकार करता है, तो उसका हेतु अप्राप्य को प्राप्त करने का रहता है। उसकी क्रिया कोई भी हो, उसका ध्येय चाहे जितना उदात्त क्यों न हो, 'अहम्' की ओर से होनेवाला प्रत्येक प्रयास फिर भी उसी के अपने घेरे में ही होता रहता है, जो घेरा उसकी अपनी स्मृतियों से, स्वभावगत विवशताओं से और प्रक्षेपणों से बनता है, चाहे वह चेतन हो या अचेतन। 'अहम्' स्वयं चाहे तो अपना शारीरिक अहम् और नकारात्मक अहम् या अतिभौतिक अहम्—ऐसे दो भागों में विभाजित करे, किन्तु यह द्वैतवादपूर्ण विभाजन एक मृगजल है, जिसमें मन डूब जाता है। मन

की—इस 'अहम्' की गति कैसी भी क्यों न हो, वह अपने को मुक्त कर नहीं सकता; वह चाहे तो एक से दूसरे स्तर की ओर, मूढ़ चुनाव से प्रज्ञायुक्त चुनाव की ओर चलता चले, किन्तु उसकी गति अविरत अपने बनाये हुए अनुभव वर्तुल में ही रहेगी।

"आपने तो सारी आशा समाप्त कर डाली। तब कोई करे तो क्या करे ?"

आपको पूर्णतः अनावृत होना होगा, अतीत के भार से शून्य या भविष्य की आशा रूपी शृंखला से मुक्त—किन्तु इसका अर्थ निराशा नहीं। यदि आप निराश हों तो वह रिक्तता नहीं, अनावरण नहीं। आप कुछ भी 'कर' नहीं सकते। आपको किसी भी आशा, अभिलाषा अथवा कांक्षा से शून्य, अत्यन्त निस्तब्ध होना होगा—और आप हो सकते हैं; परन्तु सारे कोलाहल का दमन करके आप निस्तब्ध बन जाने का निश्चय नहीं कर सकते, कारण, उस प्रयास में ही कोलाहल निहित है। नीरवता कोलाहल की विरोधी स्थिति नहीं है।

"किन्तु अपनी वर्तमान स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए ?"

यदि आपके ध्यान में एक बात लाऊँ तो यही कहना होगा कि आप आगे बढ़ने के लिए इतने उत्कण्ठित हैं, कोई प्रत्यक्ष दिशा पाने के लिए इतने उतावले हैं, कि वास्तव में आप श्रवण कर ही नहीं रहे हैं।

प्रशान्त स्थिर नदी में सायंतारा प्रतिबिंबित था।

× × ×

दूसरे दिन ब्राह्मवेला में वे वापस आये। सूर्य की प्रथम किरणें वृक्षों के माथे पर चमक रही थीं और नदी पर कुहरा छाया हुआ था। विस्तृत पाल तनी हुई इंधन से लदी एक नौका, नदी प्रवाह के साथ, धीरे-धीरे तैर रही थी। पतवार सम्हालने वाला एक आदमी जाग रहा था, शेष सभी नौका के पृथक्-पृथक् खण्डों में सोये हुए थे। सर्वत्र एक गहरी स्तब्धता छायी हुई थी, और नदी के किनारे चलने-वाले दैनिक मानवीय व्यवहार अभी आरंभ नहीं हुए थे।

"कल आप जो कह रहे थे, उसे सुनते समय मैं बाह्यतः भले उतावला और चिन्ताग्रस्त था, फिर भी आंतरिक दृष्टि से मैं निश्चित ही सजग, सावधान रहा, ऐसा महसूस होता है, क्योंकि आज सवेरे जागने पर एक तरह की मुक्ति की भावना और स्पष्टता जो आकलन के साथ आती है, मैंने अनुभव की। सूर्योदय से पूर्व एक घण्टा मैंने सामान्य प्रातःकालीन ध्यान किया। मैं निश्चयपूर्वक कह नहीं सकता कि मेरा मन फैलते हुए कितने ही भ्रम जालों में भटका नहीं। कल जहाँ से विषय छूट गया था, क्यों न वहीं से हम आगे की चर्चा शुरू करें।"

कल जहाँ से चर्चा का छोर हमने छोड़ दिया, ठीक वहीं से हम शुरू नहीं कर सकते, किन्तु अपनी समस्या की ओर नयी दृष्टि से हम अवश्य देख सकते हैं।

बाह्य और आंतरमन संवेदन स्वीकारते हुए अविराम क्रियारत रहता है; अपनी स्मृतियों के और प्रतिक्रियाओं के जाल में फँसा यह मन असंख्य कांक्षा और संघर्षों का संकलित स्वरूप है। वह मात्र कालक्षेत्र के अंतर्गत ही क्रियाशील रहता है और कालक्षेत्र में संकल्पों का और कांक्षाओं का परस्पर विरोध बना ही रहता है, इसी से नित्य दौड़धूप वहाँ जारी रहती है। 'अहम्' की यह मनोवैज्ञानिक क्रिया, 'मैं' और 'मेरे' की यह आंतरक्रिया समाप्त हो जानी चाहिए, कारण इस क्रिया से समस्याएँ निर्माण होती हैं और अशांति, क्षोभ तथा अव्यवस्था के विविधरूप आकार लेते रहते हैं। परन्तु इस क्रिया को प्रयत्नपूर्वक रोकने से और अधिक क्रिया और विक्षोभ उत्पन्न होते हैं।

"मेरी समझ में आया है कि यह सत्य है। मन को स्थिर करने का जितना अधिक प्रयास करें, उतना ही अधिक प्रतिरोध प्रकट होता है। इस प्रतिरोध पर विजय पाने में ही अपने सब प्रयत्न लगे होते हैं, अतः यह एक अटूट दुष्टचक्र बन जाता है।"

यदि आपमें इस चक्र की दुष्टता का भान जागा है, और 'आप' इसे तोड़ नहीं सकते ऐसा अनुभव आपको हुआ है, तो इस प्रत्यक्ष दर्शन के साथ ही नियंत्रक निरीक्षक विलीन हो जाते हैं।

"निरीक्षक का दमन करना, सबसे कठिन कार्य दीखता है। मैंने प्रयत्न किया, किन्तु अब तक मुझे इसमें कभी सफलता नहीं मिली। इसमें सफलता कैसे मिले?"

क्या अभी भी आप 'अहम्' तथा 'न-अहम्'—इन्हीं के सन्दर्भ में नहीं सोच रहे हैं? क्या इसी द्वैत को आप शब्द, अनुभव तथा आदतों के निरंतर दोहराव द्वारा मन में कायम नहीं रख रहे हैं? वस्तुतः विचारक और उसका विचार ये दो भिन्न प्रक्रियाएँ नहीं हैं, फिर भी इच्छित लक्ष्य प्राप्त करने के लिए हम उन्हें बनाये रखते हैं। इच्छा के साथ ही परीक्षक जन्म लेता है। इस परीक्षक का दमन कैसे करें, यह हमारी समस्या नहीं है, समस्या है कांक्षा का, इच्छा का आकलन।

"अज्ञान से पृथक् ऐसी एक स्थिति, एक अस्तित्व अत्यंत आवश्यक है, जो आकलन करने के योग्य हो।"

जो अस्तित्व 'मैं आकलन करता हूँ' ऐसा कहता है, वह मानसिक क्षेत्र के अन्तर्गत ही है; वह अभी भी निरीक्षक, परीक्षक है, है न?

"अर्थात्, है ही; किन्तु इस निरीक्षक को जड़ से निकाल फेंकना कैसे संभव है, मेरी समझ में नहीं आता। और क्या यह संभव है भी?"

देख लेते हैं। हम कह रहे थे कि कांक्षा को समझना आवश्यक है। कांक्षा अपने-आप को सुख और दुःख में, प्रज्ञता और अज्ञता में विभाजित कर सकती है और

कर देती है; एक कांक्षा दूसरी का विरोध करती है, अधिक लाभकारी का कम लाभकारी के साथ संघर्ष चलता है, इस तरह विरोध चलते रहते हैं। यद्यपि अनेक कारणों से कांक्षा स्वयं को विभाजित करती है, फिर भी वस्तुतः वह है एक अविभाज्य अखण्ड प्रक्रिया, है न ?

"यह बात समझने में बड़ी कठिन है। मैं एक कांक्षा से दूसरी कांक्षा के विरोध का, कांक्षा के दमन और परिवर्तन का इतना अभ्यस्त हो चुका हूँ कि अभी एकरूप, एकात्म प्रक्रिया के रूप में कांक्षा का अवबोध पूर्णरूप से मुझे हो नहीं सकता; किन्तु अब जब आपने इसका निर्देश किया है, इसकी सचाई मैं देख रहा हूँ।"

कांक्षा स्वयं को अनेक परस्पर विरोधी और संघर्षरत प्रेरणाओं में भले विभाजित कर ले, फिर भी वह है तो कांक्षा ही। ये असंख्य प्रेरणाएँ मिल करके 'अहम्' का पुंज निर्माण करती हैं—उनमें स्मृतियाँ, चिन्ताएँ, भय समाये रहते हैं। और इस 'अहम्' की समूची क्रिया कांक्षा के घेरे के अन्तर्गत ही होती है; उसका अपना भिन्न क्षेत्र होता नहीं। यही वास्तविकता है, है न ?

"कृपापूर्वक आगे कहिये। अपने समग्र अस्तित्व से मैं सुन रहा हूँ, शब्दों से परे गहराई में और अनायास जाने का प्रयत्न कर रहा हूँ।"

तब, अपनी समस्या यह है: स्वयं बंधनमुक्त होकर बिना किसी तरह की जोर जबरदस्ती से, क्या कांक्षा की क्रिया का समापन संभव है? जब यह घटित होता है, तभी केवल मन निस्तब्ध हो सकता है। यदि इसका अवबोध एक वास्तविक घटना के रूप में आपको हुआ हो, तो क्या कांक्षा की क्रिया समाप्त नहीं हुई है ?

"केवल बहुत थोड़े समय के लिए; और फिर से नित्य आदत की क्रिया प्रारंभ होती है। इसे कैसे रोका जा सकता है?······किन्तु जैसे ही यह बात मैं पूछ रहा हूँ, पूछने की अर्थहीनता मेरे ध्यान में आ रही है।"

हम कितने लोभी हैं, यह आप देख रहे हैं। हमें सदा अधिक और अधिक की अपेक्षा रहती है। 'अहम्' की परिसमाप्ति की माँग 'अहम्' की नयी क्रिया बन जाती है; किन्तु यह नयी है नहीं, यह तो केवल कांक्षा का एक अन्य रूप है। जब मन स्वतः सहज निस्तब्ध हो जाता है, तभी केवल वह प्रकट होता है, जो मन का नहीं है।

२७. कामना का स्वरूप

वह एक शान्त सन्ध्या थी, फिर भी सरोवर पर अनेक श्वेत पाल तने हुए थे। सुदूर आकाश में मानो टँगा हुआ-सा हिमाच्छादित शिखर दीख रहा था। पूर्वोत्तर दिशा से आनेवाली मन्द बयार अब तक बह नहीं रहा था, किन्तु उत्तर की ओर जल पर लहरें उठ रही थीं, और अनेक नौकाएँ निकल रही थीं। जल गहरा नीला था और आकाश सर्वथा स्वच्छ निर्मल था। वह एक विस्तीर्ण सरोवर था, फिर भी धूप के दिनों में उस पार के नगर दिखाई देते थे। इस छोटी-सी छिपी हुई और विस्मृत खाड़ी में बड़ी शान्ति थी। वहाँ पर कोई मौजी प्रवासी नहीं थे और अग्निबोट सरोवर का चक्कर लगाती हुई कभी इधर फटकती नहीं थी। पास ही मच्छीमारों का एक गाँव था; और जब मौसम साफ रहने के लक्षण दीखते, तब अपनी लालटेनों को लिये, उनकी छोटी नौकाएँ देर रात तक मछलियाँ पकड़ती रहतीं। उस जादूभरी संध्या में वे अपने जाल और नौकाएँ तैयार कर रहे थे। घाटियों में गहरी छाया व्याप्त थी, किन्तु पर्वतों की चोटियों पर अभी भी सूरज चमक रहा था।

हम कुछ देर से टहल रहे थे; और साथ आये भाई कुछ बात करना चाहते थे, अतः पगडण्डी के पास हम बैठ गये।

"जहाँ तक अतीत का स्मरण मैं कर सकता हूँ, मेरे जीवन में अखण्ड संघर्ष चलता रहा है, अधिकतर आंतरिक ही, यद्यपि कभी वह बाह्यतः भी व्यक्त होता है। किसी बाह्य संघर्ष को लेकर मैं अधिक चिंतित नहीं होता हूँ, क्योंकि परिस्थिति के साथ अपना मेल बैठाना मैंने सीख लिया है। यह समझौता मेरे लिए दुःखदायी रहा है, कारण, मैं सहज राजी नहीं हो सकता, न मुझ पर कोई आदेश चला सकता है। जीवनभर मुश्किलें रहीं, फिर भी अच्छी तरह से जीवनयापन करने जितनी कार्यकुशलता मुझमें है। किन्तु मेरी समस्या इस सन्दर्भ में नहीं है। मेरी समझ से बाहर है यह आंतरिक संघर्ष, जिस पर काबू पाना मेरे लिए सम्भव नहीं होता। कितनी बार, मध्यरात्रि के समय, भयानक स्वप्नों के कारण मैं जग जाता हूँ, और एक क्षणभर के लिए भी मेरे संघर्ष से मुझे छुट्टी नहीं मिलती, दिनभर के सभी कार्यकलापों के अभ्यंतरी स्तर पर वह प्रवाहित रहता है, और मेरे निकट के संबंधों में वह बारम्बार विस्फोटित होता है।"

संघर्ष का आप क्या अर्थ करते हैं? उसका स्वरूप क्या है?

"बाह्यतः मैं एक कार्यव्यस्त व्यक्ति हूँ। मेरे कार्य में एकाग्रता और सावधानी की अपेक्षा रहती है। मेरा मन जब इस तरह से व्यग्र रहता है, तब

अपने आंतरिक संघर्ष में भूल जाता हूँ; लेकिन कार्य से कुछ अवसर पाते ही अपने संघर्षों में मैं लौट आता हूँ। ये संघर्ष अलग-अलग स्वरूप के और विभिन्न स्तरों के हैं। मैं चाहता हूँ कि अपने कार्य में मैं सफल होऊँ, अपने व्यवसाय में मैं शिखर पर होना चाहता हूँ, जिसमें विपुल सम्पत्ति तथा अन्य सब बातें आती हैं। मैं जानता हूँ कि मेरे लिए यह सम्भव है। एक अन्य स्तर पर अपनी महात्वाकांक्षा की नासमझी का मुझे ज्ञान है। जीवन की अच्छी वस्तुओं से मुझे प्रेम है और उसके ठीक विपरीत, मैं चाहता हूँ एक सीधा, सरल, करीब तपस्वी जैसा जीवन बिताऊँ। कितने ही लोगों से मैं घृणा करता हूँ, फिर भी सब कुछ भूलकर क्षमा कर देना भी चाहता हूँ। इस तरह के कितने ही उदाहरण मैं दे सकता हूँ, किन्तु भरोसा है कि मेरे संघर्षों का स्वरूप आप समझ सकेंगे। मूलतः मैं एक शान्तिप्रिय व्यक्ति हूँ; किन्तु क्रोध भी मेरे लिए सहज है। मैं अत्यन्त स्वस्थ हूँ, जो शायद मेरे सन्दर्भ में दुर्भाग्य कहा जा सकता है। बाहर से मुझमें शान्ति और स्थिरता का आभास होता है, परन्तु अपने आंतरिक संघर्षों के कारण मैं विक्षुब्ध और संभ्रमित हूँ। मेरी आयु तीस वर्षों से कुछ अधिक ही है, और अब मैं सचमुच चाहता हूँ कि अपनी इच्छाओं के संभ्रम-जाल से निकल पड़ूँ। देखिये, मेरी एक दूसरी कठिनाई यह है कि किसीसे भी इन बातों की चर्चा करना मेरे लिए करीब-करीब असम्भव है। अनेक वर्षों में अभी पहली बार मैं कुछ थोड़ा खुला हूँ। मैं कोई संगोपनशील व्यक्ति नहीं हूँ, फिर भी अपने बारे में बात करना मुझे अच्छा नहीं लगता, और मानस-शास्त्री से तो मैं बात कर ही नहीं सकता। यह सब जानते हुए, क्या आप मुझे बता सकते हैं कि किसी प्रकार की आन्तरिक विक्षोभरहित स्थिति मेरे लिए संभव है या नहीं?"

संघर्ष को हटाने के बदले, चलिये, हम कामना का—याने इच्छाओं—के समूह का—आकलन कर सकते हैं या नहीं, यह देखें। हमारी समस्या केवल संघर्ष के पार जाने की नहीं है, कामना का स्वरूप समझाने की है; क्योंकि यह कामना ही संघर्ष की जननी है। स्मरण और साहचर्य के कारण कांक्षा प्रेरित होती है; स्मृति है कामना का ही एक अंग। सुखदायक और दुःखदायक अनुभवों का पुनः स्मरण कामना को पुष्ट करना है, और उसे परस्पर विरोधी तथा संघर्षमय इच्छाओं में विभाजित करता है। मन सुखदायक अनुभवों के साथ एकरूप होता है और दुःख-दायक अनुभूति का विरोध करता है। सुख और दुःख के चुनाव के द्वारा कांक्षा को विभिन्न लक्ष्य तथा मूल्यों के वर्गों में विभाजित करके मन उसे अलग-अलग खड़ा करता है।

"यद्यपि अनेक संघर्षरत और परस्पर-विरोधी इच्छाएँ होती हैं तो भी मूलतः इच्छा, कांक्षा एक ही है यही आप कहते हैं; न?"

ठीक ऐसा ही है, है न? और इसे समझना बहुत आवश्यक है, अन्यथा विरोधी इच्छाओं का संघर्ष अन्तहीन ही है। मन द्वारा निर्माण किया हुआ यह कामना का द्वैत एक भ्रम है। कामना में द्वैत नहीं है, कामना के केवल प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। काल और अनन्तता के बीच ही मात्र द्वैत है। हमारे लिए महत्त्व की बात यही है कि हम कामना के द्वैत का असत्य देख लें। कामना स्वयं को चाह और अनचाह में अवश्य विभाजित करती है, किन्तु एक का वर्जन और दूसरे का अनुसंधान—है तो कामना ही। कामना के विरोधी रूपों में से किसी एक के द्वारा संघर्ष से छुटकारा तो होता नहीं है; क्योंकि कामना स्वयं विरोधी स्वरूप उत्पन्न करती है।

"मैं कुछ धुँधले रूप में देख रहा हूँ कि आपका कहना सही है, किन्तु यह भी वस्तुस्थिति है कि मैं अभी भी अनेक कामनाओं के द्वंद्व में ग्रस्त हो रहा हूँ।"

सारी कामना एकमेव, अद्वितीय है, इस वास्तविकता को हम बदल नहीं सकते; इसे हम अपनी सुख-सुविधा के लिए तोड़-मरोड़ सकते हैं अथवा इसका साधनरूप में उपयोग करके कामना के संघर्षों से अपने-आप को मुक्त भी करा सकते हैं; किन्तु इसके सत्य को हम पहचान लें तो यह अपनी शक्ति से मन को भ्रम-निर्माण से मुक्ति दिलाती है। अतः विभिन्न और संघर्षमग्न विभागों में स्वयं को विभाजित करनेवाली कामना का अवबोध हमें होना अत्यावश्यक है। हमारे अस्तित्व का ताना-बाना इन परस्पर-विरोधी, संघर्षमय कामनाओं से बना है, हम हैं केवल इन सबका बना एक पुलिन्दा, जिसमें प्रत्येक कामना पृथक् दिशा में खींचती रहती है।

"हाँ, किन्तु इस विषय में हम कर क्या सकते हैं?"

सबसे पहले कामना की अद्वितीयता की झाँकी हमारी दृष्टि में आये बिना, हम जो भी करें या न करें, उसका महत्त्व बहुत कम है, कारण कामना केवल अपने को ही अनेक गुणित करती है और इनके संघर्ष जाल में मन कैदी बना बैठता है। जिससे स्मृतियाँ और पहचान के सहित 'अहम्' उत्पन्न होता है—वह कामना—वह तृष्णा की प्रेरणा परिसमाप्ति होती है, तभी केवल संघर्ष से मुक्ति मिलती है।

"जब आप कहते हैं कि कामना के अन्त के साथ ही संघर्ष शान्त होता है, तो क्या इसका यह अभिप्राय है कि व्यक्ति के क्रियात्मक जीवन की इतिश्री होगी?"

होगी अथवा नहीं भी होगी। कामना-शून्य जीवन किस प्रकार का रहेगा इस पर सोचना हमारे लिए एक मूढ़ता होगी।

"आपके कहने का ऐसा तो अर्थ कतई नहीं होगा कि शारीरिक आवश्यकताओं की भी परिसमाप्ति होनी चाहिए।"

मानसिक कामनाओं के कारण ही शारीरिक आवश्यकताएँ परिवर्तित और परिवर्धित होती हैं; हम इन्हीं कामनाओं की चर्चा कर रहे हैं।

"इन आंतरिक कामनाओं की कार्यशैली क्या अधिक गहराई से हम देख सकते हैं।"

खुली और छिपी, चेतन तथा अचेतन—दोनों प्रकार की कामनाएँ होती हैं। आवृत कामनाएँ अनावृत, प्रकट कामनाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। किन्तु यदि ऊपरी स्तर की कामनाओं को समझकर हमने उन्हें सौम्य न बनाया हो, तो गहरी कामनाओं का परिचय पाना हमारे लिए सम्भव नहीं है। ऐसा नहीं कि चेतन कामनाओं का दमन, उदात्तीकरण या उन्हें किसी नमूने के अनुरूप ढालना चाहिए, प्रत्युत् उनका निरीक्षण करके उपशमन करना होगा। ऊपरी स्तर की विक्षुब्धता का शमन होने पर, गहरी कामनाएँ, हेतु और उद्देश्य ऊपरी स्तर पर आने की संभावना है।

"सतही विक्षुब्धता का शमन कैसे करें? आपके कहने का महत्त्व मैं समझ रहा हूँ, किन्तु समस्या तक पहुँच कैसी हो, उसके साथ प्रयोग कैसे करें—यह मेरी समझ में ठीक से नहीं आ रहा है।"

प्रयोगकर्ता जिसका प्रयोग करता है, उससे पृथक् नहीं होता है। इस तथ्य को पहचानना बहुत आवश्यक है। आप अपनी कामनाओं के साथ जो प्रयोग करते हैं, वह आपकी अस्तित्व उन इच्छाओं से पृथक् नहीं है, नहीं है न? इस कामना का दमन करूँगा और उस कामना के पीछे जाऊँगा, ऐसा जो अहम् 'मैं' कहता है, वह स्वयं सभी कामनाओं का परिणाम है, है न?

"मुझे महसूस होता है कि ऐसा ही है, किन्तु इसे प्रत्यक्ष साक्षात् करना सर्वथा पृथक् बात है।"

प्रत्येक कामना के उद्भव के साथ ही इस सत्य का अवबोध भी जागृत होगा, तो इच्छा से असम्बन्धित, पृथक् अस्तित्व के रूप में प्रयोगकर्ता का भ्रम रहेगा नहीं, 'अहम्' की भ्रमपूर्ण कल्पना से तब विमुक्ति है। जब तक कामना से मुक्त होने के प्रयत्न में 'अहम्' लगा रहता है, तब तक वह दूसरी दिशा में कामना की केवल पुष्टि ही करता है और इससे संघर्ष का सातत्य कायम रखता है। यदि प्रतिक्षण इस तथ्य का अवबोध रहेगा, तो परीक्षक का संकल्प विलीन होगा; और जब अनुभवकर्ता अनुभूति ही है, तब आप देखेंगे कि अपने असंख्य संघर्षात्मक रूपों के साथ कामना का अन्त होता है।

"क्या इन सबसे एक प्रशमित और भरपूर जीवन जीने में सहायता मिलेगी?"

निश्चित ही प्रारम्भ में यह सम्भव नहीं होगा। इस अवबोध के साथ अधिक विक्षेप जागृत होंगे और गहराई में सामंजस्य बैठाना होगा; परन्तु जैसे-जैसे कामना और संघर्ष की जटिल समस्या में गहरे और व्यापकरूप में कोई उतरता है, वैसे-वैसे वह तरल, सुलभ बन जाती है।

२८. जीवन का उद्देश्य

घर के सामने की राह छोटी दुकानों, बड़े मकान, मोटर गराज, मंदिर तथा एक उपेक्षित धूलिधूसर बगीचे के बीच में से मुड़ती हुई सागर तक गयी है। सागर के निकट पहुँचने पर उसका यातायात के बड़े मार्ग में परिवर्तन हुआ है, इस पर टैक्सियाँ, खड़खड़ करती बसें तथा आधुनिक शहर का सारा कोलाहल उपस्थित है। इस बड़े मार्ग से पृथक्, कुछ दूरी पर, प्रचंड वर्षावर्धित वृक्षों से आच्छादित एक प्रशांत कुंज है। परन्तु प्रातःकाल और संध्याकाल में गोल्फकोर्स एवं सुव्यवस्थित सुन्दर बगीचों से शोभित एक क्लब की ओर जानेवाली मोटरों के कारण व्यस्त रहता है। इस कुंज की ओर से जब मैं निकला, तब वहाँ अनेक प्रकार के भिखारी फर्श पर लेटे हुए थे। वे कोई आवाज नहीं करते थे, यहाँ तक कि आने-जानेवालों के सामने अपने हाथ भी नहीं पसारते थे। करीब दस साल की एक लड़की टिन के एक पात्र पर अपना सिर रखकर लेटे-लेटे, खुली आँखों से विश्राम कर रही थी। वह मैली-कुचैली थी और उसके बाल उलझे हुए थे। फिर भी जब मैंने उसकी तरफ मुस्कराकर देखा, तब उसने भी मुस्करा दिया। आगे चलकर मुश्किल से तीन साल की एक छोटी बालिका जादूभरी मुस्कराहट लेकर हाथ फैलाती आगे आयी। उसकी माँ नजदीक के एक वृक्ष के पीछे से झाँक रही थी। मैंने उसका फैला हुआ हाथ पकड़ा और हम साथ-साथ कुछ कदम आगे बढ़े। फिर उसकी माँ के पास उसे पहुँचाया। उस समय मेरे पास पैसे नहीं थे, तब दूसरे दिन एक सिक्का लेकर मैं लौट आया, किन्तु वह छोटी बालिका उसे ले ही नहीं रही थी। वह खेलना चाहती थी। इसलिए हम खेले और पैसे उसकी माँ को दिये। जब कभी मैं उस कुंज के पास से गुजरता, वह छोटी कन्या हमेशा लजीली मुस्कराहट और तेजस्वी आँखों से देखती दृष्टिगत होती।

उस फैशनेबल क्लब के फाटक के सामने जमीन पर एक भिखारी बैठा रहता। उसके बदन पर गन्दा टाट का कपड़ा लपेटा होता और उसके जटा बने बाल धूल से सने हुए होते थे। मैं वहाँ से आगे बढ़ता, तब किसी दिन, टाट से ढँका

हुआ उसका नग्न शरीर, सिर धूल में रखकर जमीन पर लेटा हुआ दिखाई पड़ता। और कभी, प्रचंड वृक्षों के तले, बिना देखे खुली दृष्टि से, एकदम स्थिर बैठा हुआ दीख जाता। एक शाम क्लब में खुशियाँ छायी थीं; सब ओर दीपक जले थे, और हँसते लोगों से भरी, चमचमाती मोटरें हार्न बजाती अन्दर जा रही थीं। क्लब के भवन से वायुमण्डल व्याप्त करनेवाला, तार सप्तक का सुगम संगीत प्रसारित हो रहा था। द्वार पर अनेक सिपाही खड़े थे और उन फैशनेबल पोशाकवाले तुष्ट-पुष्ट लोगों को मोटरों में जाते हुए देखने के लिए असंख्य लोगों की भीड़ वहाँ एकत्र थी। इस सबकी ओर उस भिखारी ने अपनी पीठ फेर ली थी। एक आदमी उसे कुछ खाने को दे रहा था और दूसरे एक ने उसे सिगरेट देनी चाही, किन्तु कोई हलचल न करते हुए उसने शान्तिपूर्वक दोनों का अस्वीकार कर दिया। दिन-ब-दिन वह धीरे-धीरे मृत्यु की ओर बढ़ रहा था और लोग निकट से निकलते जाते थे।

संध्या समय के घने होते आकाश की पार्श्वभूमि पर वे महाकाय, अद्भुत आकार के वर्षावृक्ष एक भव्य दृश्य खड़ा करते थे। उनके पर्ण बहुत छोटे थे, परन्तु उनकी शाखाएँ प्रचण्ड दीखती थीं और कोलाहल एवं वेदनाभरे उस विलक्षण भीड़-वाले नगर में इन वृक्षों का एक अनोखा, अलिप्त और शाही ऐश्वर्य था। परन्तु सदा चचल, अशांत और अनंत सागर वहाँ था। उस अनंत में वे श्वेतपाल केवल बिन्दु समान लगते थे; और चन्द्रकिरणों के कारण नृत्यमग्न जल पर मानो रजतपथ ही बन गया था। धरित्री का वैभव सम्पन्न सौन्दर्य, दूरवर्ती तारागण और अमर मानव जाति। सीमाहीन व्यापकता ने सभी वस्तुओं पर मानो आवरण डाल दिया था।

वह एक युवक ही लगता था और देश के दूसरे कोने से थकानेवाली यात्रा करता हुआ आया था। जीवन का अर्थ और उद्देश्य का पता लगाये बिना विवाह न करने का उसने व्रत लिया था। निश्चयी और उत्साही वह युवक किसी दफ्तर में काम करता था। अब कुछ समय के लिए छुट्टी लेकर अपनी खोज का उत्तर पाने के प्रयास में था। उसका मन व्यग्र और विवादप्रिय था, और उसके अपने तथा अन्य लोगों के उत्तरों में वह इतना उलझा हुआ था कि सुनने के लिए तैयार ही नहीं था। शब्द उसके मन के अनुकूल शीघ्र गति पकड़ नहीं पाते थे और जीवन के प्रयो-जन के विषय में तत्वज्ञ तथा आचार्यों के उद्गार वह लगातार उद्धृत करता जाता था। वह गहरी चिन्ता से ग्रस्त था, पीड़ित था।

"जीवन का हेतु जाने बिना मेरा अस्तित्व ही अर्थशून्य हो जाता है, और मेरे कर्म विनाशक बनते हैं। किसी तरह जीवन-यापन कर सकूँ, इतना मैं कमाता हूँ; पीड़ा, वेदना सहता हूँ और मृत्यु मेरी राह देख रही है। जीवन का यही स्वरूप है; किन्तु इस सबका क्या प्रयोजन है, मेरी समझ में नहीं आता। मैं विद्वानों के पास

गया हूँ, अनेक गुरुओं के पास भी गया, कोई एक बात कहते, तो कोई दूसरी ही बात बोलते। बताइये, आप क्या कहते हैं?"

क्या आप इसलिए पूछ रहे हैं कि यहाँ जो कहा जायेगा, उसकी तुलना अन्यत्र कही हुई बात के साथ की जाय?

"जी हाँ, तब मैं चुनाव कर सकूंगा, और अपनी सत्य की मान्यता पर मेरा चुनाव निर्भर करेगा।"

क्या आप ऐसा सोचते हैं कि सत्य का आकलन वैयक्तिक मत की बात है और चुनाव पर निर्भर है? क्या चुनाव के द्वारा आप सत्य को खोज पायेंगे?

"यदि विवेक या चुनाव के द्वारा सत्य को न खोजें तो फिर उसे कैसे पायेंगे? आपका कहना मैं बहुत ध्यानपूर्वक सुनूंगा और यदि मेरे चित्त को वह स्पर्श करेगा तो दूसरों के मत-मतांतर त्याग कर आपके दर्शाये ध्येय के अनुरूप मैं अपना जीवन ढालूंगा। जीवन का सच्चा उद्देश्य, लक्ष्य क्या है, इसे जानने की मुझे बड़ी तीव्र उत्कंठा है।"

महोदय, आगे बढ़ने से पहले, क्या यह महत्वपूर्ण नहीं है कि आप स्वयं से यह पूछें कि आपमें सत्य की खोज करने की योग्यता है भी? आपको यह बात समादर के साथ सुझायी जा रही है, किसी हीनभावना से नहीं। सत्य क्या किसी मत की, सुख या कामनातृप्ति की वस्तु है? आप भले कहें कि जो आपको जँचेगा उसे आप स्वीकार करेंगे, इसका अर्थ यह हुआ कि आपको सत्य में रुचि नहीं है, किन्तु जो आपको सबसे अधिक तुष्टिदायी लगता है, उसी के पीछे आप लगे हैं। अन्त में जो सुखदायी है उसे प्राप्त करने आप जबरदस्ती और वेदना भी सहने की तैयारी रखते हैं। आपको सत्य की चाह नहीं है, आपका प्राप्तव्य है कामनातुष्टि का सुख। सत्य होता है पसंदगी और नापसंदगी के परे, ऐसा ही उसे होना होगा न? सभी शोध के प्रारंभ में, प्रथम चरण के रूप में, विनम्रता आवश्यक है।

"इसीलिए तो मैं आपके पास आया हूँ, श्रीमन्। मैं सचमुच सत्य-शोधक हूँ। मेरी ऐसी ही अपेक्षा रहती है कि सत्य क्या है, यह आचार्य लोग मुझे बता दें; तब नम्रता तथा अनुताप के भाव से मैं उनका अनुसरण करूँ।"

अनुसरण करने का अर्थ है विनम्रता से इन्कार करना। आप अनुसरण करते हैं लक्ष्य प्राप्ति के लिए या यश की आकांक्षा से। महत्त्वाकांक्षा कितनी ही सूक्ष्म या छिपी हुई क्यों न हो, जो मनुष्य उसके जाल में अटक गया, वह कभी विनम्र हो नहीं सकता। अधिकारी को ढूंढ़कर उसे मार्गदर्शक के रूप में स्वीकार करने का अर्थ है—समझदारी और आन्तर्दृष्टि को मिटा देना। किसी आदर्श का अनुसंधान करने से विनम्रता निरुद्ध होती है, क्योंकि आदर्श 'अहम्' को, 'मैं' पना

को महिमान्वित करता है। विभिन्न प्रकार से जो व्यक्ति 'मैं' को महत्त्व प्रदान करता है, वह कभी विनम्र कैसे हो सकता है? विनम्रता न हो, तो जीवन के सत्य का साक्षात् काट नहीं होता।

"परंतु यहाँ आने का मेरा उद्देश्य पूर्णत: यही है, कि जीवन का सच्चा प्रयोजन मैं खोज लूँ।"

स्पष्टरूप से बात कहने की अनुमति आप यदि मुझे देंगे, तो यही कहूँगा, कि आप केवल एक कल्पना के जाल में फँस गये हैं और यह कल्पना एक ग्रन्थि बन रही है। इस बात के संबंध में मनुष्य को सतत सावधान रहना होगा। जीवन का सही उद्देश्य जानने के लिए आपने अनेक दार्शनिकों के ग्रंथों का अध्ययन किया है और कितने ही आचार्यों से परामर्श कर डाला है। कोई कुछ कहते हैं; कोई और कुछ कहते हैं; और आप तो सत्य जानना चाहते हैं। अब यह बताइये कि आप इन सबकी बातों का सत्य जानना चाहते हैं या आपकी अपनी जो जिज्ञासा है उसका सत्य जानना चाहते हैं?

"जब आप इस प्रकार का सीधा प्रश्न पूछते हैं, तो उत्तर देने में मुझे थोड़ी हिचक होती है। मुझसे अधिक अध्ययन किये हुए और अनुभूतिसम्पन्न कितने ही व्यक्ति हैं और उनके कहने को तिरस्कृत करने में मेरी निरी मूढ़ अहंता व्यक्त होगी; कारण जीवन का अर्थ उद्घाटन में उनकी बातें मेरी सहायता कर सकती हैं। परंतु प्रत्येक व्यक्ति समझ और अनुभूति के अनुरूप बोलता है, और कभी-कभी उनमें परस्पर आन्तरविरोध होता है। मार्क्सवादी एक बात कहते हैं और धर्मनिष्ठ लोग सर्वथा भिन्न बात करते हैं। इस सबसे सत्य का अन्वेषण करने में कृपापूर्वक मेरी सहायता कीजिये।"

मिथ्या को मिथ्यारूप में देखना, मिथ्या में निहित सत्य को और सत्य के रूप में सत्य को दृष्टिगोचर करना सरल नहीं है। दर्शन स्पष्ट, स्वच्छ होने के लिए, मन को संस्कारित, विकृत करनेवाली कामना से मुक्ति आवश्यक है। जीवन का सच्चा अर्थ ढूंढ़ने के लिए आप इतने उत्कंठित हैं कि आपकी उत्कंठा ही अपनी खोज का स्वरूप समझने में बाधा डालती है। आपने जो अध्ययन किया है, और आपके आचार्यों ने जो कहा है, उसका सत्य जानना आप चाहते हैं: चाहते हैं न?

"जी हाँ, निश्चितरूप से।"

तब तो आपको स्वयं ही देख लेना होगा कि इन सारे विधानों में सत्य क्या है। आपका मन सीधे निरीक्षण के लिए, दर्शन के लिए समर्थ होना चाहिए; यदि वह समर्थ नहीं होगा तो कल्पनाओं के, मतमतान्तर और मान्य विश्वासों के जंगल में वह खो जायेगा। सत्य क्या है, इसे देखने का सामर्थ्य आपके मन में नहीं

होगा, तो हवा में उड़नेवाले एक पत्ते के समान आपकी स्थिति होगी। अतः, चाहे जितने महान् व्यक्तियों के निष्कर्ष और विधान क्यों न हो, वे महत्त्व के नहीं हैं, किन्तु सत्य क्या है, इसे पहचानने की स्पष्ट आंतर्दृष्टि आप में हो, यह महत्त्वपूर्ण है। क्या यही सबसे आवश्यक बात नहीं है ?

"मैं सोचता हूँ कि यही बात महत्त्व की है, किन्तु इस महान् दिव्य भेंट को मैं किस तरह पा सकूंगा ?"

आकलन की योग्यता कुछ चुने हुए व्यक्तियों के लिए उपलब्ध वरदान नहीं है, परन्तु जो व्यक्ति आत्म-ज्ञान में गम्भीरता से और उत्कटता से लगे हैं, उनके पास वह स्वयं आती है। आकलन तुलना से उत्पन्न नहीं होता; तुलना तो विक्षेप का ही एक अन्य रूप है, जैसे निर्णय या मूल्यांकन टाल देने का ही प्रकार है। सत्य की उपस्थिति हो, इसलिए तुलना की और मूल्यांकन की वृत्ति से मन मुक्त होना जरूरी है। जब मन तुलना में और मूल्यांकन में व्यग्र रहता है, तब वह शान्त नहीं, व्यस्त होता है। क्रियाकलापों में व्यस्त मन सरल, स्वच्छ अवलोकन के लिए असमर्थ है।

"तब क्या आपके कहने का अर्थ ऐसा है कि अब तक जो मूल्य मैं जुटाता आया, जो ज्ञान मैंने संग्रहीत किया, अपने पर से उनके आवरण हटा दूं ?"

अन्वेषण के लिए मन मुक्त हो, क्या यही आवश्यक नहीं है ? अपने और दूसरों के निष्कर्ष तथा अनुभूतियों का ज्ञान संभार, यह प्रचंडरूप में एकत्रित की गयी जानकारी का अर्थात् स्मृतियों का बोझ, क्या कभी मुक्ति प्रदान करता है ? जब तक मूल्य निर्णय करनेवाला, निषेध और तुलना करनेवाला परीक्षक उपस्थित रहेगा तब तक मुक्ति प्राप्त होगी ? मन यदि सर्वदा अर्जनशील, लोभी, हिसाबी हो तो वह कभी शान्त, शमित होगा ही नहीं; और सत्य के प्रकट होने के लिए क्या मन की निःस्तब्धता आवश्यक नहीं है ?

"आपकी बात सही है, यह मैं समझ गया हूँ किन्तु मेरे जैसे सरल और अज्ञानी मन से क्या आप बहुत अधिक अपेक्षा नहीं कर रहे हैं ?"

क्या आप सरल और अज्ञानी हैं ? यदि आप सचमुच ऐसे होते तो सच्ची खोज को प्रारम्भ करने में बड़ा आनन्द आता; परन्तु दुर्भाग्य से आप सरल नहीं हैं। प्रज्ञता और सत्य उसी के पास आते हैं जो मनुष्य सचाई से कहता है, 'मैं अज्ञानी हूँ, मैं जानता नहीं।' जो व्यक्ति जानकारी से, तथाकथित ज्ञान से बोझिल हैं, वे नहीं; जो सरल, निष्पाप हैं, वे ही प्रकाश देखेंगे, क्योंकि वे विनम्र हैं।

"मुझे केवल एक ही वस्तु की प्यास है, जीवन का सत्य हेतु जानना, और आप मुझ पर ऐसी बातों की बौछार कर रहे हैं, जो मेरी समझ की सीमा से परे

है। क्या आप मुझे कृपापूर्वक सरल शब्दों में बता नहीं सकेंगे कि जीवन की सच्ची सार्थकता क्या है ?''

महाशय, दूर जाने के लिए आपको बहुत नजदीक से प्रारम्भ करना होगा। निकट क्या है, उसे देखे बिना ही आप अपार-असीम को पाना चाहते हैं। आप जीवन का अर्थ समझना चाहते हैं। जीवन का कहीं प्रारम्भ नहीं, न कोई अन्त; वह मृत्यु और जीवन —दोनों है। हरा-भरा पत्ता भी वह है, और हवा से उड़नेवाला जीर्ण पत्ता भी वही है। वह प्रेमस्वरूप है, और उस प्रेम का असीम सौन्दर्य वही है; एकाकीपन का दुःख वह है, और एकान्त का आनन्द घनरूप वह है। उसका ओर-छोर पाना, उसे नापना, सम्भव नहीं है, न मन उसकी थाह पा सकेगा।

२९. अनुभव का मूल्यांकन

सूरज की तीव्र धूप में तपे हुए पत्थर पर देहाती स्त्रियाँ अपने कोठारों में रखे धान को फैला रही थीं। उतरते समतल पत्थर तक वे धान को बड़ी-बड़ी पूलियों में ले आयी थीं, और अब पेड़ से बँधे हुए दो बैल उस पर चलकर अनाज के दानें अलग करनेवाले थे। बड़े शहरों से यह घाटी बहुत दूर थी और उस पर इमली के प्रचंड वृक्षों की घनी छाया फैली हुई थी। घाटी में एक कच्चा, धूलभरा मार्ग देहात की ओर और उससे परे जाता था। पहाड़ी की ओर का क्षेत्र मवेशी और असंख्य बकरियों ने व्याप्त कर लिया था। धान के खेत पानी में डूबे थे, और धान पर मँडरानेवाले शुभ्र पक्षी अलसाये पंखों से एक खेत से दूसरे की ओर उड़ रहे थे। वे थे तो निर्भय किन्तु लजीले होने से किसीको पास नहीं आने देते थे। आम्र वृक्षों पर बौर आने का आरम्भ हो गया था, और अपने गतिमान, स्वच्छ जल के साथ नदी प्रसन्न कलकल ध्वनि कर रही थी। वह सारा प्रदेश रमणीय, सुखद था। फिर भी उस पर महामारी के जैसा दारिद्र्य छाया हुआ था। स्वेच्छा से स्वीकृत दारिद्र्य एक वस्तु है, परन्तु अनिच्छा से, परिस्थितिवश सहन करना पड़े. ऐसा दारिद्र्य बिलकुल पृथक् है। उस देहात के लोग गरीब और रोगग्रस्त थे, और यद्यपि अब वहाँ एक दवाखाना खोला था और अनाज बाँटा जा रहा था, तो भी शतकों की अभावग्रस्त स्थिति से जो हानि हुई थी, उसे थोड़े वर्षों में मिटा देना सम्भव नहीं था। भुखमरी की समस्या केवल समुदाय या एक देश की ही नहीं है, वह समूचे मानवविश्व की है।

सूरज अस्ताचल की ओर मुड़ा और पूरब की ओर से सौम्य वायुलहरी आयी और पहाड़ियों से शक्तिस्रोत वहता आया। ये पहाड़ियाँ बहुत ऊँची नहीं थीं, परन्तु मैदानों में न होनेवाली एक तरह की हलकी शीतलता हवा में उँडेल देने जितनी ऊँचाई उनमें अवश्य थी। पहाड़ियों के माथे पर, बहुत निकट, टँगे हुए से, तारे चमकते थे और प्रसंगवश कभी तेंदुए की हलकी-सी गुर्राहट सुनाई पड़ती थी। उस शाम, घनी होती पहाड़ियों के पीछे से निकलनेवाले सांध्यप्रकाश के कारण चारों ओर के प्राकृतिक वातावरण में एक तीव्र गहरा अर्थ और अनोखा सौंदर्य जागता-सा लग रहा था। जैसे ही हम पुल पर बैठ गये, अपने घर की ओर जानेवाले देहात के लोगों ने बोलना अचानक बन्द कर दिया और अंधेरे में ओझल होने पर ही अपना संवाद पुनः चालू किया। मन के बने-बनाये दृश्य कितने रिक्त और रसहीन होते हैं; किन्तु स्मृति और काल के अपने ही बनाये मसाले से मन जब किले बाँधना छोड़ देता है, तब वह, अनाभी उपस्थित होता है।

जलती लालटेन लटकायी हुई एक बैलगाड़ी रास्ते पर चढ़ती आ रही थी; हलके हलके उसके लोहे से लपेटे चाकों का एक-एक अंग कठिन जमीन का स्पर्श कर रहा था। सारथी सोया था, किन्तु बैल घर का रास्ता जानते थे; पास से वे गुजरते गये और थोड़े समय में अंधकार में विलीन हो गये। अब वहाँ गहरी निस्तब्धता छा गयी। पहाड़ी पर सांध्य तारा दृष्टिगोचर हो रहा था, परन्तु थोड़े ही समय में वह भी आँखों से ओझल होनेवाला था। सुदूर एक उल्लू पुकार रहा था, और चारों ओर रात्रि के कीट-पतंग आदि जीव-विश्व जीवन्त तथा कार्यव्यस्त हुआ था; तथापि इससे निस्तब्धता का भंग नहीं होता था। उस निस्तब्धता ने, वे तारे, वह एकाकी उल्लू अगणित नन्हें जीव, सभी को अपने में समा लिया था। यदि कोई उसे सुन ले, तो वह खो जाती थी; किन्तु उसी के होकर रहे, तो वह निस्तब्धता आपका स्वागत करती थी। द्रष्टा कभी इस निस्तब्धता का हो नहीं सकता; वह केवल एक पराया रहकर उसमें झाँकनेवाला होता है, उसी का नहीं बनता। निरीक्षक अनुभव ही केवल लेता है, वह कभी अनुभवरूप, स्वयं वस्तु नहीं बनता।

उन्होंने विश्व में सर्वत्र प्रवास किया था, कई भाषाएँ वे जानते थे, और वे प्राध्यापक तथा राजनयिक रह चुके थे। युवावस्था में आक्सफोर्ड में रहे थे और जीवन में कुछ कष्ट से ही उन्होंने अपनी राह बनायी थी और अब आयु से पूर्व ही अवकाश प्राप्त कर लिया था। वे पाश्चात्य संगीत से अच्छे परिचित थे, किन्तु उन्हें अपने ही देश का संगीत अधिक पसन्द था। उन्होंने विभिन्न धर्मों का अध्ययन किया था और बौद्ध धर्म ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया था। किन्तु अन्ततः सब धर्मों की अपनी-अपनी अंधश्रद्धाएँ, सिद्धान्त और कर्मकाण्ड यदि अलग रखें, तो उन सबने

मूलतः एक ही बात कही है, ऐसा उनका कहना था। कुछ विधियों का अपना एक सौंदर्य होता है, परन्तु संपत्ति और कल्पना रम्यता अधिकतर धर्मों पर हावी हुई है, मात्र वे स्वयं सभी प्रकार के कर्मकाण्ड और तर्कशून्य सैद्धांतिक बोझ से मुक्त थे, ऐसा उनका कहना था। विचार संक्रमण और संमोहन विद्या से कभी क्या उन्होंने खेल करके देखा था, अतीन्द्रियदर्शन आदि सिद्धियों से वे परिचित थे, परन्तु ये सब बातें अन्तिम साध्य हैं, ऐसा वे मानते नहीं थे। कोई चाहे तो अवलोकन द्वारा शक्ति का विस्तार या जड़ सृष्टि का अधिक परिमाण में नियमन इत्यादि कर सकता है किन्तु ये सब बातें उन्हें मामूली प्राथमिक और सुगम लगती थीं। उन्होंने कुछ नशीले द्रव्यों का, औषधियों का, अद्यतन रूपों में भी प्रयोग करके देख लिया था और उनके कारण क्षणकाल के लिए सामान्य संवेदनशक्ति से सूक्ष्म तथा प्रबल शक्तियाँ अवलोकन तथा अनुभूति के क्षेत्र में पायी थी, परन्तु इन अनुभवों को उन्होंने अधिक महत्त्व नहीं दिया क्योंकि उनको ऐसा लगा कि सभी क्षणभंगुर चीजों से परे जो सत्व है, उसका स्वरूप तथा मूल्य इन अनुभूतियों के द्वारा किसी भी तरह उद्घाटित नहीं होता है।

उन्होंने कहा—"अनेक ध्यान पद्धतियों को मैंने आजमाया है, और एकान्त में ध्यानावस्था अनुभव करूँ, अतः एक पूरे सालभर बाह्य क्रियाकलापों से निवृत्त होकर भी रहा। अनेक बार आपका ध्यान के सन्दर्भ में कही बातें मैंने पढ़ी हैं और उसका मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा है। किशोरावस्था से ही 'ध्यान' शब्दमात्र से मुझ पर विलक्षण परिणाम होता आया है। सदैव ही ध्यान में मुझे अत्यन्त सौन्दर्य और आनन्द की उपलब्धि हुई है; और ध्यान जैसे गहन-गंभीर विषय के लिए इस तरह का शब्द प्रयोग करना उचित होगा तो मैं कहना चाहूँगा कि जीवन में जो थोड़ी वस्तुएँ मेरे लिए अत्यन्त रुचिकर, सुखद रही हैं, उनमें ध्यान का स्थान रहा है। यह आनन्द की भावना अब तक कम तो हुई ही नहीं, बल्कि इतने वर्षों में वह अधिक गहरी, विस्तृत बनती आयी है। आपने ध्यान के विषय में जो कहा है, उससे मेरे लिए नये क्षितिज खुल गये हैं। आपने इस सन्दर्भ में जो-जो कहा है, करीब सारा ही मैं पढ़ चुका हूँ; अतः अधिक कुछ पूछने की आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती है। किन्तु यदि आप आज्ञा दें तो अभी हाल की ही जो घटना घटित हुई है, उस पर आपसे बात करना मैं चाहूँगा।" किंचित्काल रुककर वे आगे बोलने लगे—

"अभी तक मैंने आपसे जो कहा, उस पर से आपके ध्यान में आया होगा कि प्रतीकात्मक प्रतिमाएँ बनाकर उनकी पूजा करनेवाला व्यक्ति मैं नहीं हूँ। स्वयं प्रक्षेपित धार्मिक संकल्पनाओं से और प्रतिमाओं से तादात्म्य मैंने सावधानीपूर्वक टाला है। मैंने पढ़ा अथवा सुना है कि कुछ सन्तों को—कम से कम जिन्हें लोगों ने संत

माना है उनको—कृष्ण, ख्रिस्त, माँ काली, कुमारी मेरी इत्यादि के दर्शन हुए हैं। मुझे मालूम है कि मनुष्य किसी मान्य विश्वास के माध्यम से अपने को सहज सम्मोहित करके कोई दृश्य आमंत्रित कर सकता है और उससे उसके जीवन का स्वरूप मूलतः परिवर्तित हो जाता है। परन्तु मैं किसी भ्रम में रहना नहीं चाहता; और अब, इतना सब कहने के बाद एक घटना का वर्णन मैं करना चाहता हूँ, जो कुछ हफ्ते पहले घटी है।

"हम लोगों की एक मण्डली गंभीरता से कुछ विषयों की चर्चा करने अनेक बार मिलती रहती है। एक शाम हम सब साम्यवाद और रोमन कैथोलिक धर्म में जो ध्यानाकर्षण करके इतना अधिक साम्य है, उसकी चर्चा कुछ गरम होकर कर रहे थे। इतने में अचानक उस कमरे में मुझे मुंडन किया हुआ पीतवस्त्रधारी मानवरूप बैठा दिखाई पड़ा। मैं एकदम चौंक गया। अपनी आँखें मलकर मैंने अपने मित्रों की ओर देखा; उन्हें उस मूर्ति का बिलकुल ही भान नहीं था और वे अपनी चर्चा में इतने व्यस्त थे कि मेरी चुप्पी की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। मैंने अपना सिर हिलाया, खाँस दिया, और फिर आँखें मल दीं, फिर भी वह आकृति वहीं थी। उसका चेहरा कितना सुन्दर था, मैं आपको बता नहीं सकूँगा; वह सौंदर्य केवल आकार का नहीं था, अपार महानता का था। उस चेहरे पर से मैं अपनी दृष्टि हटा नहीं सका; यह मेरी संयम की शक्ति से परे की बात हो रही थी, और मेरी नीरवता तथा चकित, तल्लीनता मेरे मित्रों के ध्यान में न आवे, अतः मैं उठकर बाहर बरामदे में चला गया। रात्रि की हवा शीतल और प्रसन्न थी। थोड़ी देर मैंने चहलकदमी की और फिर अन्दर चला गया। वे सब अभी भी वार्तालाप कर रहे थे; परंतु कमरे का वातावरण बदल गया था और असामान्य कांति से शोभित वह मुंडित मूर्ति उसी स्थान पर जमीन पर बैठी थी। अब उस चर्चा में मैं सम्मिलित न हो सका और कुछ समय में हम सब निकल पड़े। घर की ओर मैं चल रहा था और वह आकृति मेरे आगे चलती गयी। यह बात कुछ सप्ताह पहले की है, और आज तक मुझसे यह दूर नहीं हुई है, यद्यपि इसका प्राथमिक प्रबल प्रत्यय अब नहीं रहा है। जब मैं आँखें बन्द करता हूँ, तब अंतःचक्षु के सामने वह प्रकट होती है; इस सारे प्रसंग से मेरे चित्त पर एक विचित्र, अनोखा प्रभाव पड़ा है। परन्तु इसकी चर्चा करने से पहले, यह बताइये कि इस तरह की अनुभूति का क्या अर्थ है, इसका क्या स्वरूप है? क्या यह, मेरी इच्छा और ज्ञान न रहते हुए भी, अचेतन अतीत में से स्वयं प्रक्षेपित हुई है, अथवा यह मेरी जागृत चेतना से कोई संबंध न रखनेवाली, मुझसे पूर्णतः स्वतंत्र ऐसी कोई घटना है? इस सन्दर्भ में मैंने बहुत चिन्तन किया, परंतु इसका सत्यस्वरूप मैं अभी तक समझ नहीं पाया।"

अब आपने यह अनुभव ले ही लिया है, तो बताइये, क्या यह आपको अमूल्य लगता है ? क्या मैं पूछ सकता हूँ कि यह अनुभव आपके लिए क्या महत्त्वपूर्ण है ? क्या आप इसे पकड़कर रख रहे हैं ?

"यदि प्रामाणिकता से उत्तर दूँ तो मैं इसे एक प्रकार से महत्वपूर्ण ही मानता हूँ। इस अनुभूति ने मुझमें सृजनशीलता का स्रोत बहा दिया है—इसका अर्थ यह नहीं कि मैं कविता करने लगा हूँ या मैंने चित्रकारी शुरू की है, परन्तु इसने एक गहरी मुक्ति का, शांति का भाव ला दिया है। मुझमें इस अनुभूति के कारण एक गंभीर परिवर्तन आया है, अतः मैं इसे मूल्यवान् मानता हूँ। सच कहूँ, तो यह मेरे लिए आंतरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की अनुभूति है, और मैं इसे किसी भी कीमत पर खोना नहीं चाहता।"

क्या इसे खो देने का भय आपको नहीं लगता ? क्या उस आकृति के पीछे आप समझ-बूझकर लगे हैं, अथवा वह एक सर्वदा जीवंत वस्तु है ?

"मैं समझता हूँ कि उसे खो देने का भय मुझमें रहता है, क्योंकि मैं सतत उसी का विचार रखता हूँ और अपने में एक अपेक्षित अवस्था लाने के लिए मैं उसका उपयोग सदैव करता रहता हूँ। इस सन्दर्भ में मैंने इसके बारे में कभी पहले सोचा ही नहीं, परन्तु अभी आपके पूछने पर ध्यान में आ रहा है कि आ मैं क्या कर रहा हूँ।"

क्या यह आकृति जीवन्त है, या एक बार आकर निकल गयी—ऐसे एक आकार की स्मृतिमात्र है ?

"आपके प्रश्न का उत्तर देते मुझे डर-सा लग रहा है। कृपापूर्वक मुझे भावुक नहीं मानिये, परन्तु इस अनुभूति का मेरे लिए बहुत अधिक महत्त्व रहा है। इस बात पर आपसे चर्चा करने और इसका सत्य समझने में आया था, परन्तु अब मैं कुछ संकोच महसूस करता हूँ और इसके अन्वेषण की मुझमें अनिच्छा-सी निर्माण हुई है; फिर भी मुझे यह करना ही होगा। कभी-कभी एक जीवन्त मूर्ति होती है, परन्तु अधिकतर यह पूर्व अनुभूति का पुनः स्मरण ही है।"

आप समझ लीजिये कि, जो वस्तुतः 'है' उसका अवबोधन कितना आवश्यक है, और जो हमें पसंद है ऐसी कल्पना के जाल में न फँसे, इसके लिए कितनी साव-धानी रखनी होगी। एक भ्रान्ति रचकर उसमें रहना कितना आसान है। बहुत धीरज के साथ इस विषय में हम प्रवेश करेंगे। 'अतीत में रहना कितना ही सुखद, कितना ही उदास क्यों न हो, उससे वर्तमान 'है' का अनुभव अवरुद्ध होता है। जो 'है' वह सदा नया है, और हजारों बीते कल के इतिहास में डूबकर न रहने की बात मन के लिए अत्यन्त कष्टप्रद और कठिन लगती है। चूँकि आप उस स्मृति से चिपके

हैं, अत: जीवन्त अनुभव का अस्वीकार हो गया है। भूतकाल का अन्त है, और जीवन्त वर्तमान अनन्त है। उस आकृति की स्मृति में आपके लिए अद्‌भुत जादू-भरी है, वह आपको प्रेरित करती है, एक विमोचन का भाव आपमें जाग्रत करती है; वह मृत वस्तु एक जीवन्त व्यक्ति को जीवन दे रही है। हममें से अनेकों व्यक्तियों को जीना क्या है, यह ज्ञात ही नहीं है, क्योंकि हम मृत् के साथ ही जीते हैं।

महाशय, एक बात का निर्देश करना चाहूँगा कि किसी अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु की हाथ से छूट जाने की आशंका ने आपके चित्त में प्रवेश किया है। आपमें भय का संचय हुआ है। उस एक अनुभव में से आपने कई समस्याओं को निमंत्रित किया है; जैसे—संग्रह की प्रवृत्ति, भय, अनुभव का बोझ और अपने स्वयं के अस्तित्व में रिक्तता का भाव—ये सब प्रादुर्भूत हुए हैं। संग्रह की सभी प्रेरणाओं से मन स्वयं को मुक्त कर सकेगा तो अनुभवन को एक सर्वथा पृथक् अर्थवत्ता प्राप्त होती है और तब भय समग्ररूप से विलीन हो जायगा। भय केवल एक छाया है वह अपने में कोई ठोस वस्तु नहीं है।

"इतने समय से मैं क्या करता रहा, इसे मैं वस्तुत: अभी ही देख सका हूँ। मैं अपने को क्षमा नहीं कर रहा हूँ, परन्तु वह अनुभूति अत्यन्त उत्कट होने के कारण उसे पकड़ रखने की अभिलाषा भी उतनी ही तीव्र रही है। किसी गहरी भावपूर्ण अनुभूति के फंदे में न अटकना कितना कठिन है। अनुभूति के समान उसकी स्मृति भी उतनी ही प्रवल लुभावनी होती है।"

अनुभवन तथा स्मरण में विभेद करना अत्यन्त कठिन है, है न? अनुभवन का स्मृति में, अतीत की वस्तु में, कब रूपान्तरण होता है? यह सूक्ष्म अन्तर कहाँ पर है? क्या यह काल सापेक्ष है? जब अनुभवन है, तब काल है ही नहीं। प्रत्येक अनुभव अतीत में प्रविष्ट होनेवाली गति का रूप लेता है; वर्तमान स्थिति अनुभवन की स्थिति अदृश्यरूप से अतीत में प्रवाहित होती रहती है। प्रत्येक जीवन्त अनुभव एक क्षण के बाद स्मृति में प्रविष्ट हो जाता है, भूतकाल की एक वस्तु बन जाता है। यह प्रक्रिया हम सबको ज्ञात है, और यह अटल है, ऐसा दीखता है। परन्तु क्या यह सही है?

"आप जो बात खोलकर समझा रहे हैं, उसे मैं बहुत ध्यानपूर्वक सुन रहा हूँ, और आप इस पर बोल रहे हैं, इसकी मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है, कारण मेरे अस्तित्व का प्रत्येक स्तर केवल स्मृतिओं की शृंखला का ही बना हुआ दृष्टिगोचर होता है। मैं स्मृतिरूप हूँ। अनुभवन की अवस्था में जीना क्या मनुष्य के लिए संभव है? यही आप पूछना चाहते हैं, ठीक है न?"

हम सबके लिए शब्दों के सूक्ष्म अर्थ होते हैं, और यदि क्षणभर के लिए इन सन्दर्भों से और उनकी प्रतिक्रियाओं से हम परे जा सकते हैं, तो शायद सत्य तक हमारी पहुँच होगी। हममें से अधिकांश व्यक्तियों के लिए अनुभवन सतत स्मृति में रूपान्तरित होता रहता है। इसका क्या कारण है? क्या मानवी मन की सातत्य-पूर्वक यही दोहरी प्रक्रिया नहीं चलती है—संवेदनों का स्वीकार करके उन्हें आत्मसात् करना और कुछ संवेदनों को तिरस्कृत करके उनका अस्वीकार करना—? जो सुखद, उदात्त-भव्य, महत्त्वपूर्ण है, उसे स्वागतार्ह मानकर जो उपयुक्त न लगता हो उसका निरसन करना—क्या हमारा मन यही कार्य नहीं करता रहता है? और क्या वह कभी इस प्रक्रिया को छोड़कर रह सकता है? निश्चितरूप से यह प्रश्न व्यर्थ का है, और इसे पूछते समय इस बात का पता अपने को लग ही जाता है।

अब आइये, आगे बढ़ते हैं। यह भावात्मक या अभावात्मक संग्रह, यह मूल्यांकन की मानसिक प्रक्रिया—यही परीक्षक बन जाती है। यही निरीक्षक, अनुभविता, विचारक और 'अहम्' बनता है। अनुभवन के क्षण में अनुभवकर्ता होता नहीं; परन्तु जब चयन आरम्भ होता है, अर्थात् जब जीने की समाप्ति होती है और संग्रह वृत्ति का प्रारम्भ होता है, तब अनुभवकर्ता उत्पन्न होता है। प्राप्ति की प्रेरणा अनुभवन को, जीने की स्थिति को रोकती है और उसे अतीत की, स्मृति की वस्तु बना डालती है। जब तक द्रष्टा है, अनुभवकर्ता है, तब तक अनिवार्यरूप से लोभी वृत्ति, संग्राहक प्रक्रिया अवश्य रहेगी। जब तक चुनाव करनेवाली, निरीक्षक अस्तित्व पृथक् अस्तित्व रखती है, तब तक अनुभव का स्वरूप कुछ बनने की प्रक्रिया का ही रहेगा। जब पृथक् इकाई समाप्त होती है; तभी अनुभवन की अथवा केवल 'होने' की स्थिति जागती है।

"यह पृथक् इकाई कैसे मिटेगी?"

यह प्रश्न आप क्यों पूछ रहे हैं? यह 'कैसे' ही संग्रह का नया द्वार खोलता है। हम अभी लोभी वृत्ति का विचार कर रहे हैं, लाभ से मुक्ति कैसे पायें, इसका नहीं। मुक्ति यदि 'किसी से' हो, तो वह मुक्ति है ही नहीं, वह तो है एक प्रतिक्रिया, एक अवरोध, जिससे विरोध-भाव वृद्धिगत होता है।

परन्तु आपके मूल प्रश्न की ओर हम वापस चलते हैं। वह आकृति क्या स्व-प्रक्षेपित थी, अथवा आपसे प्रभावित न होकर स्वतः ही उपस्थित हुई? क्या वह आपसे स्वतन्त्र थी? चेतना एक जटिल मामला है, और निश्चित उत्तर देना शायद मूढ़ता होगी, होगी न? परन्तु इतनी बात तो स्पष्ट है कि पहचान मन के संस्कार पर आधृत है। आपने बौद्धधर्म का अध्ययन किया था, और जैसा आपने कहा, उसका आप पर अधिक प्रभाव पड़ा था, इसलिए संस्कार की प्रक्रिया हो चुकी

थी। उस संस्कार के कारण ही वह मूर्ति प्रक्षेपित हुई होगी, यद्यपि आपका चेतन मन सर्वथा पृथक् बात में व्यस्त था। साथ ही आपकी जीवन-पद्धति ने आपका मन अधिक संवेदनशील और तीक्ष्ण बना दिया है, और मित्रों के साथ आपकी जो चर्चा हो रही थी, उस कारण से भी आपने विचार 'देखा'—जो बौद्धरूप में आवृत था, जैसे अन्य किसी व्यक्ति को ख्रिस्त की आकृति में दृष्टिगोचर हो सकता है। परन्तु वह आकार स्वप्रक्षेपित था या नहीं यह विशेष महत्त्व की बात नहीं है, नहीं है न?

"शायद नहीं है परन्तु उसने मुझे बहुत कुछ दिखा दिया है।"

सचमुच? उसने आपके मन की कार्यप्रक्रिया आपके सामने प्रकट नहीं की, और आप उस अनुभव के कैदी बन गये! अनुभव का मूल्य तभी है जब उसके साथ स्वयं का ज्ञान साक्षात् होता है, और केवल यह स्व-ज्ञान मुक्तिदायी होता है, उसी से व्यक्तित्व समग्र होता है; परन्तु इस आत्म-ज्ञान के बिना जो अनुभव होगा, वह सभी प्रकार का भ्रम निर्माण करनेवाला मात्र एक बोझ ही है। ●

३०. प्रेम की समस्या

तने हुए पाल से शोभायमान किसी जहाज के ठाठ में एक नन्हा बत्तख उस विशाल नहर के प्रवाह में ऊपर की ओर आ रहा था—टर टर्, टर् टर् करता, शेखी से फूला वह बढ़ता आ रहा था। नहर नगर के मध्य में से सर्प के समान मोड़ लेती हुई बहती थी। अन्य कोई बत्तख दृष्टिपथ में नहीं थे, परन्तु यह अकेला ही अनेक बत्तख हों, इतना कोलाहल मचा रहा था। उसकी चिल्लाहट सुननेवालों ने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया, परन्तु इससे बत्तख के लिए कोई अन्तर नहीं पड़ा। वह तनिक भी डरा नहीं था, इतना ही नहीं, उस नहर पर अपने-आप को अत्यन्त महत्त्व का आसामी मानता था; उसका वह स्वामी था। नगर के बाहर का खुला प्रदेश, हरे-भरे चरागाह तथा धवल-काली मोटी गायों के कारण मनोरम, सुखद था। क्षितिज पर बादलों के समूह थे और आकाश धरती को छूने के लिए नीचे उतर आया-सा लगता था। उस आकाश की आभा विश्व के केवल इसी भाग में दिखाई देती है। जमीन तलवे जैसी सपाट थी और मार्ग केवल ऊँची नहरों को पार करते पुलों के ऊपर ही चढ़ाई का था। संध्या बड़ी प्यारी थी; उत्तरी समुद्र में सूर्यास्त हो रहा था और उसके रंगों से घटाएँ रंग गयी थीं। विद्युल्लता की नीली-गुलाबी प्रकाश की प्रचण्ड किरणें आकाश को छेद रही थीं।

वह महिला एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति की पत्नी थी। उनके पति सरकार में सर्वोच्च तो नहीं, परन्तु लगभग शिखरस्थ अधिकारी थे। सुयोग्य सुन्दर पोशाक पहने हुई वह महिला वृत्ति से शांत थी और उनका व्यक्तित्व सत्ता और सम्पत्ति से आनेवाली विशिष्ट आभा से मण्डित था। उनमें एक ऐसा आत्मविश्वास दीख पड़ता था, जो लम्बे समय से आज्ञा पालन तथा कार्य करवाने के अभ्यास से आता है। उनकी एक, दो बातों से स्पष्ट हुआ कि उनके पति में बुद्धिमत्ता थी और इनमें प्रेरक शक्ति थी। दोनों के कारण वे ऊँची प्रतिष्ठा पा सके थे, परन्तु जब उनके हाथ में श्रेष्ठ सत्ता और पद आ ही रहे थे; ठीक उसी समय उनके पति भयंकर बीमारी से ग्रस्त हुए थे। इस बात की चर्चा करते-करते शब्द उनके गले में अटक रहे थे और गालों पर अश्रुधारा बहने लगी थी। आयी थीं तो वे विश्वासपूर्वक, मुस्कराती हुई परन्तु कुछ ही क्षणों में वह निश्चिन्तभाव अदृश्य हो गया। पीछे हटकर वे कुछ समय मौन बैठी रहीं और फिर बोलना प्रारम्भ किया।

"आपके कुछ प्रवचन मैंने पढ़े हैं, और एक-दो सुने भी हैं। आपकी बातें सुनते समय हमें आपकी बात बहुत मर्मस्पर्शी लगी, परन्तु ऐसी बातें बहुत शीघ्र भुला जाती हैं, अब आज के सचमुच के बड़े संकट से गुजरते हुए लगा कि आपसे आकर मिलना चाहिए। हम पर क्या बीती है, आप जानते ही होंगे। मेरे पति अस्वस्थ हैं, और जिन कार्यों के लिए हमने जीवन बिताया, सारी खटपट की, वे छिन्न-विच्छिन्न हो रहे हैं। हमारा राजनीतिक दल और उसका कार्य चलता रहेगा, परन्तु ......। नर्सें और डाक्टर होते हुए भी मैं स्वयं उनकी देखभाल कर रही हूँ, और कितने ही महीनों से मैंने बहुत कम नींद ली है। वे नहीं रहेंगे, यह कल्पना भी मैं सहन नहीं कर सकती, परन्तु डाक्टरों का कहना है कि उनके स्वास्थ्य में सुधार होना लगभग असम्भव है। मैं इस पर चिन्तन कर-करके थक गयी हूँ और चिन्ता ने मुझे बीमार ही बना दिया है। आप जानते हैं कि हमें बाल-बच्चे नहीं हैं, और हम एक-दूसरे के लिए सब कुछ हैं। और अब ··· ।"

क्या आप सचमुच गम्भीरता से बात करके गहराई में उतरना चाहती हैं?

"मैं इतनी अधिक निराश और संभ्रमित हूँ कि गम्भीर विचार की शक्ति मुझमें है, ऐसा विश्वास नहीं होता। परन्तु मेरे चित्त में किसी प्रकार की स्पष्टता होनी भी आवश्यक है।"

क्या आप अपने पति पर प्रेम करती हैं, अथवा उनके द्वारा जो मान-सम्मान, पद इत्यादि प्राप्त हुए, उन पर आपका प्रेम है?

"मैं प्रेम······—" उन्हें प्रश्न सुनकर इतना धक्का लगा था कि वे आगे बोल ही न सकीं।

कृपा करके यह मत सोचिये कि यह प्रश्न निर्दयतापूर्ण है, परन्तु इसका सत्य उत्तर आपको खोजना होगा, अन्यथा दुःख सर्वदा बना रहेगा। इस प्रश्न का सत्य उद्घाटित करने में शायद प्रेम क्या है, इसका पता लगेगा।

"अभी की अपनी विकल अवस्था में मैं इस पर सोच ही नहीं पाऊँगी।"

परन्तु प्रेम की यह समस्या क्या आपके मन में कभी उठी ही नहीं?

"शायद एक बार उठी, परन्तु मैं तत्काल उससे दूर भाग निकली। उनके बीमार होने से पहल मेरे पास निरन्तर कितना काम रहता था; और अब तो कोई प्रश्न ही नहीं, विचारमात्र दर्द ही है। क्या मैं उनके साथ आनेवाले पद और सत्ता के कारण उन पर प्रेम करती थी, अथवा केवल उन्हीं के कारण उन पर प्रेमवर्षा करती थी? मैं अभी से उनके बारे में ऐसे बोल रही हूँ, जैसे कि वे हैं ही नहीं। सचमुच मैं नहीं जानती कि उन पर मेरा किस तरह का प्रेम है। अभी तो मैं बहुत संभ्रम में हूँ और मेरा मस्तिष्क सोचने से इनकार करता है। यदि आप 'हाँ' कहें तो किसी अन्य समय मैं फिर से आऊँ, शायद अनिवार्य भावी को स्वीकार करने के बाद ही।"

एक बात बताऊँ, स्वीकार भी एक प्रकार की मृत्यु है।

× × ×

कई महीनों के पश्चात् हमारी पुनः भेंट हुई अखबारों में उनके पति की मृत्यु के सन्दर्भ में कितना कुछ लिखा गया था, और अब वे भुलाये भी गये थे। उनकी मृत्यु का परिणाम उनकी पत्नी के चेहरे पर स्पष्ट दिखाई देता था और अब उनकी बातों में कटुता तथा रोष प्रकट हो रहे थे।

अपनी बात स्पष्ट करती हुई वे कहने लगीं—"यह सब मैंने किसी से नहीं कहा; पूर्वकालीन सारे कार्य छोड़कर मैं निवृत्त हुई और गाँव की ओर निकल गयी। मेरे लिए यह सारा ही भयावह अनुभव था, और मैं मानती हूँ कि मैं थोड़ा-सा बोलती रहूँ तो आपको आपत्ति नहीं होगी। जीवनभर मैं अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी रही हूँ, और विवाह के पहले हर प्रकार के भले कामों में मैं लग जाती थी। विवाह के तुरन्त बाद, मुख्यरूप से मेरे पति के कारण ही, मैंने मामूली अच्छे कामों के सारे झमेले छोड़ दिये और राजनीति में अपने-आप को पूर्णरूप से झोंक दिया। राजनीति का क्षेत्र संघर्ष के लिए बहुत विस्तृत था और उसमें आनेवाले चढ़ाव-उतार, साजिशें, द्वेष-मत्सर सभी में मैं प्रतिक्षण खुशी से गुजरती रही। मेरे पति अपने शांत तरीके से अद्भुत प्रतिभावान् थे और मेरे पास प्रेरक महत्त्वाकांक्षा थी। इस तरह हम दोनों मिलकर दिन-दिन उन्नति करते गये। हमारे बाल-बच्चे न होने से मेरा सारा समय और विचार मेरे पति की प्रगति के लिए ही लगते थे। हम असामान्यरूप से

एक-दूसरे के पूरक थे और साथी बनकर उत्कृष्ट कार्य करते थे। हमारी योजना के अनुरूप सब कुछ चलता रहा, परन्तु मेरे चित्त को—इस तरह की अच्छाई के संदर्भ में हरदम कतरनेवाला कुछ भय सदा ही कुरेदता रहा। अन्ततः दो वर्ष पहले, एक दिन, मेरे पति की किसी मामूली बीमारी के लिए जाँच करते समय डाक्टर ने बताया कि घातक फोड़े की आशंका है, तुरन्त परीक्षण करना होगा। वह विषाक्त फोड़ा—कैन्सर - ही निकला। कुछ समय तक इस तथ्य को हम गुप्त रख सके, परन्तु छह महीने पूर्व उसका फिर से उद्रेक हुआ और वह अग्नि-परीक्षा ही सिद्ध हुआ। पिछली बार जब मैं आपसे मिलने आयी थी, मैं इतनी निराश और दुःखी थी कि विचार करने की शक्ति भी मुझमें नहीं थी, परन्तु अब शायद कुछ अधिक स्पष्टता से परिस्थिति की ओर देख सकूँगी। आपके प्रश्न ने मुझे कितना बेचैन किया, मैं बता नहीं सकती। आपको स्मरण होगा कि आपने मुझसे पूछा था कि मैं अपने पति पर प्रेम करती हूँ या उनके द्वारा प्राप्त वस्तुओं पर ? इस पर मैंने बहुत सोचा है, किन्तु क्या यह प्रश्न स्वयं उत्तर देने के लिए कुछ अधिक जटिल नहीं है ?"

शायद; किन्तु प्रेम का स्वरूप क्या है, यह समझेंगे नहीं तो वेदना तथा उदास विफलताएँ ही सदा मार्ग में आयेंगी। प्रेम की अन्तिम सीमा कहाँ पर है और संभ्रम कब शुरू होता है, कहना कठिन है, है न ?

"आप पूछ रहे हैं, कि क्या मेरा पति-प्रेम, पद और सत्ता के प्रेम से अमिश्रित शुद्ध था ? क्या मैं अपने पति पर इसलिए प्रेम करती थी कि उनसे मेरी महत्त्वाकांक्षा की सफलता के साधन मुझे प्राप्त होते थे ? यह आंशिक तथ्य हैं, साथ-साथ उनके व्यक्तित्व के लिए भी मुझे प्रेम था। प्रेम अनेक वस्तुओं का सम्मिश्रण है।"

किसीके साथ सम्पूर्ण तादात्म्य हो, तो क्या उसे प्रेम कहेंगे ? और क्या यह तादात्म्य स्वयं को महत्त्व देने का केवल एक घुमावदार लम्बा रास्ता ही नहीं है ? जिस स्थिति में एकाकीपन का दुःख समाया है, और जीवन को तथाकथित सार्थकता देनेवाली वस्तुओं से वंचित रहने से आनेवाली वेदना की अनुभूति है, क्या उस स्थिति को प्रेम मानेंगे ? अहं-तुष्टि के मार्ग बन्द हो गये, जिन वस्तुओं पर अहंता पुष्ट होती है, वे हाथ से चली गयीं, इसका अर्थ—स्वमाहात्म्य की इतिश्री हो गयी। इससे अशान्ति की स्थिति आ जाती है, कटुता आ जाती है, एकाकीपन का दुःख उभरता है। क्या इस दुःखद स्थिति का नाम प्रेम है ?

"मैंने अपने पति से बिलकुल प्रेम किया ही नहीं, यही बात आप कहने का प्रयत्न कर रहे हैं, है न ? आप ऐसी बात करते हैं, तब अपने ही विचार से मैं सचमुच दुःख और आश्चर्य में डूब जाती हूँ। इससे भिन्नरूप में यह बात रखी भी तो

नहीं जाती, नहीं जायेगी न ? इस पर मैंने कभी सोचा ही नहीं, और जब यह कुठाराघात हुआ तभी केवल प्रत्यक्ष दुःख का अनुभव मेरे जीवन में आया। यद्यपि बच्चों का न होना बड़ी निराशा की बात थी, परन्तु मेरे लिए पति और कार्य दोनों होने से वह दुःख सौम्य हुआ। मैं समझती हूँ कि वे ही मेरे बच्चे बने। मृत्यु के विषय में एक भयावह अन्तिम अवस्था होती है। एकाएक मैंने अपने-आप को एकाकी पाया। करने को कोई काम नहीं। जैसे एक किनारे पर छोड़ दी गयी होऊँ। पूरे तौर पर मेरा अस्तित्व भूला दिया गया ! आपके कहने का अर्थ अब मेरे सामने प्रकट हुआ है; परन्तु ये ही बातें यदि अन्य तीन चार साल पहले मुझसे कहते, तो मैं कभी सुन ही नहीं सकती। अभी भी मुझे निश्चय नहीं है कि मैं आपकी बात सुन रही हूँ या केवल आत्म-समर्थन के लिए कारण खोज रही हूँ। क्या मैं फिर कभी आपके पास आकर बात कर सकती हूँ ?"

३१. शिक्षक का सही धर्म

उस छोटी-सी घाटी में वट और इमली के असंख्य वृक्ष थे, और वर्षा के कारण वह हरीभरी, जीवन्त हो गयी थी। खुले आकाश के नीचे सूर्य का ताप विलक्षण तेज था, परन्तु छाया में सुखद ठंडक थी। छायाएँ घनी थीं, और नील आकाश की पार्श्वभूमि पर प्राचीन वृक्षों की आकृतियाँ सुभग सुन्दर दीखती थीं। विस्मयकारी इतनी संख्या में, विविध प्रकार के पंछी उस घाटी में थे। वे वृक्षों की ओर उड़ते हुए आते और पलभर में उनमें अदृश्य हो जाते। अब कई महीनों तक शायद वर्षा नहीं होगी, परन्तु देहातों के सारे क्षेत्र में हरियाली और शान्ति व्याप्त थी, कुँओं में जल भरपूर था और भूमि में सर्वत्र आशा अंकुरित हुई थी। चारित्र्यहीनता फैलानेवाले नगर पहाड़ियों से परे दूर थे, परन्तु निकट के देहात गन्दगी से भरे थे और लोग भूखे और कंगाल थे। सरकार केवल आश्वासन देती थी और लोग उदासीन थे। इन देहाती लोगों के चारों ओर प्राकृतिक सौन्दर्य और उल्लास का वातावरण था, परन्तु इसे पहचानने की दृष्टि ही उनमें नहीं थी, न उन्हें अपने आंतरिक ऐश्वर्य का एहसास था। इतने रमणीय वातावरण में लोग जड़ और रिक्त थे।

वे एक अल्पवेतन पानेवाले शिक्षक थे, और उनका परिवार था बहुत बड़ा। फिर भी उन्हें शिक्षण में गहरी आस्था थी। उन्होंने बताया कि इतने कम वेतन में बड़ा परिवार चलाना बहुत कठिन था। परन्तु जैसे-तैसे गुजार हो रही थी

और दारिद्रय के कारण वे अशान्त नहीं थे। खाने-पीने की बहुतायत तो नहीं थी, फिर भी पेटभर तो हो ही जाता था, और वे जहाँ पढ़ाते थे उसी स्कूल में उनके बच्चों का शिक्षण मुफ्त में हो जाने से उनका कैसे-वैसे निभ जाता था। अपने विषय में वे निष्णात थे, और साथ ही अन्य विषय भी पढ़ाते थे। किसी भी बुद्धिमान् शिक्षक के लिए यह बात सहज है, ऐसा उनका कहना था। उन्हें शिक्षण विषय में रुचि गहरी थी, यह बात उन्होंने फिर से दुहरायी।

"शिक्षक का कार्य होता है ?" उन्होंने पूछा।

क्या शिक्षक केवल जानकारी देनेवाला, ज्ञान को संप्रेषित करनेवाला व्यक्ति होता है ?

"कम से कम ऐसा तो उसे होना ही चाहिए। किसी भी समाज में लड़के-लड़कियों को उनकी शक्ति के अनुसार रोजी-रोटी कमाने की शिक्षा तो देनी ही पड़ती है। शिक्षक के कार्य का यह एक अंग है कि विद्यार्थी को जो ज्ञान दिया जायेगा, उससे समय आने पर उसे कोई उद्योग मिल सके। इसके साथ ही शिक्षक को शायद उत्तम समाज रचना निर्माण में सहायता करनी होती है। जीवन का सामना करने को प्रस्तुत हों, ऐसे विद्यार्थी होने चाहिए।"

महाशय, आपकी बात तो ठीक है, किन्तु हम तो शिक्षक का कार्य क्या है, इसे समझने की चेष्टा में लगे हैं न ? विद्यार्थी जीविका कमाने में सफल हो, इस हेतु से कार्य करता रहे, क्या उतना ही शिक्षक का कार्य रहेगा ? क्या इससे ऊँची और व्यापक महत्त्व की शिक्षक की सार्थकता नहीं होगी ?

"क्यों नहीं होगी ? प्रमुख बात यह है कि वह एक आदर्श उदाहरण बन सकता है—अपनी जीवन-पद्धति से, अपने आचरण से, वृत्ति और दृष्टि से वह विद्यार्थी को प्रभावित तथा प्रेरित कर सकता है।"

क्या विद्यार्थी के समक्ष एक आदर्श बन जाना ही शिक्षक का कार्य है ? अब तक के वीरपुरुषों, नेताओं की लम्बी सूची तो पहले से ही उपलब्ध है, उनकी संख्या बढ़ाने से कौन-सा अधिक लाभ होगा ? बताइये, क्या उदाहरण उपस्थित करने से शिक्षण होता है ? वास्तव में विद्यार्थी को मुक्त, सर्जनशील बनने में सहायता करना—यही शिक्षण का कार्य है, है न ? आंतरिक या बाह्य अनुकरण तथा अनुरूपता में मुक्ति कहाँ है ? आदर्श व्यक्तित्व का अनुकरण करने के लिए जब विद्यार्थी को प्रोत्साहित किया जाता है, तब क्या गहरी और सूक्ष्म भयभावना पुष्ट नहीं की जाती ? यदि शिक्षक एक आदर्श उदाहरण बनता है तो उसी आदर्श के आधार से विद्यार्थी का जीवन मोड़ा और मरोड़ा जाता है न ? और इसका परिणाम क्या होता है ? विद्यार्थी ऐसा 'है' और उसे जैसा 'होना चाहिए'—इन दो स्थितियों के मध्य जो सतत संघर्ष

चलता है, उसे अधिक प्रोत्साहन मिलता है। क्या शिक्षक का यह कार्य नहीं है कि विद्यार्थी को स्वयं का आकलन करने में उसकी सहायता करें?

"किन्तु विद्यार्थी को श्रेष्ठतर, उत्कृष्टतर जीवन की ओर अग्रसर होने के लिए मार्गदर्शन करना भी तो शिक्षक का कार्य है।"

मार्गदर्शन के लिए आपको ज्ञानी होना आवश्यक है, किन्तु क्या आपको ज्ञान है? आप क्या जानते हैं? पूर्वग्रह के परदे में से छनकर आप तक जो आया है, उतना ही तो आप जान और सीख सके हैं, और ये पूर्वग्रह उन्हीं संस्कारों के अविष्कार हैं, जो आपने एक हिन्दू, एक ख्रिस्ती अथवा एक साम्यवादी के रूप में पाये। इस प्रकार का मार्गदर्शन अधिक दुःख-कष्ट उपजाता है, खून की नदियाँ बहाता है, यही सारे मानव विश्व में दीख पड़ता है। क्या शिक्षक का यह कार्य नहीं है, कि इस प्रकार प्रभावित करनेवाली संस्कारबद्धता से विद्यार्थी स्वयं को बुद्धिपूर्वक मुक्त कर सके, इसमें उसकी सहायता करे? और फिर वह विद्यार्थी निर्भयता से, आक्रामक असंतोष को तिलांजलि देकर, गहराई से परिपूर्ण जीवन का मिलन अनुभूत करे? असंतोष प्रज्ञा का अंग है; परन्तु इस असन्तोष को जो सहज बुझा दे, वह प्रज्ञा नहीं है। लोभ की तुष्टि के लिए जो असन्तोष होगा, उसका शमन अल्पकाल में होता है, क्योंकि इस उथले असंतोष की गति है संग्राहक-कर्म के घिसे-पिटे पथ पर ही। क्या शिक्षक का यह कार्य नहीं है कि वह विद्यार्थियों के सामने मार्गदर्शक, आदर्श उदाहरण और नेता इत्यादि के से नाम खड़े हुए अहंतुष्टि-दायक भ्रम का निवारण करे?

"तब कम से कम, उच्च आदर्शों की ओर विद्यार्थी प्रेरित हो सके, इतना तो शिक्षक को करना ही होगा।"

महाशय, आप समस्या की ओर फिर गलत ढंग से ही नहीं देख रहे हैं क्या? यदि आप एक शिक्षक के नाते विद्यार्थी में विचार और भावना प्रविष्ट कराते हैं तो क्या इस प्रकार आप उसे मानसिक दृष्टि से शिक्षक-निर्भर नहीं बनाते हैं? जब आप उसके प्रेरणास्रोत बनते हैं, जब वह विद्यार्थी आपको किसी नेता या आदर्श मान कर देखेगा, तो निश्चित ही वह आप पर निर्भर होगा। क्या इस तरह के अवलम्बन से भय निर्माण नहीं होता? और भय से प्रज्ञा अपंग बनेगी न?

"परन्तु यदि शिक्षक को प्रेरणास्रोत नहीं बनना है, न उसे आदर्श उदाहरण अथवा मार्गदर्शक ही बनना है, तो फिर, भगवान् के लिए इतना बताइये कि उसका सच्चा कार्य क्या है?"

जिस क्षण इनमें से एक भी भूमिका आपकी नहीं बनती है, तब बताइये आप कौन हैं? विद्यार्थी के साथ के आपके सम्बन्ध का स्वरूप क्या है? इससे पहले

विद्यार्थी के साथ आपका कभी सम्बन्ध था भी ? इसके लिए क्या अच्छा है, इसको ऐसा होना चाहिए, वैसा होना चाहिए, इत्यादि कल्पना के ही आधार पर आपका उसके साथ सम्बन्ध था। आप शिक्षक थे और वह था विद्यार्थी; आपने उसके व्यक्तित्व को आकार देने के लिए कार्य किया, आपने स्वयं की संस्कारबद्धता के अनुरूप उसे प्रभावित किया; इस तरह जाने-अनजाने, आपने उसे अपनी प्रतिभा के अनुरूप ढाला। परन्तु उसे आकार देने का काम आप छोड़ देते हैं, तब वह स्वयं महत्त्वपूर्ण बन जाता है, और इसका अर्थ यह है कि आपको उसका व्यक्तित्व समझ लेना चाहिए, और वह आपको तथा आपके खोखले आदर्शों को समझे, ऐसी माँग नहीं करनी चाहिए। तब जो वास्तविक 'है', उससे आपका सम्बन्ध आयेगा, न कि जो 'होना चाहिए' उससे।

जब शिक्षक प्रत्येक विद्यार्थी को अद्वितीय व्यक्ति मानता है, और अतः उसकी अन्य किसी से तुलना नहीं करता, तब वह किसी पद्धति या परिपाटी की चिन्ता नहीं करता। उसकी एकमात्र चिन्ता यही रहती है कि विद्यार्थी को आन्तर्बाह्य, संस्कार बनानेवाले प्रभावों को समझने में 'सहायता' करूँ, जिसके परिणामस्वरूप वह निर्भयता से जीने की जटिल प्रक्रिया का बुद्धिपूर्वक सामना कर सके और पहले से ही उपस्थित जंजाल में अधिक समस्याओं की भरभार नहीं करे।

"क्या आप शिक्षक से उसकी शक्ति से बहुत अधिक कार्य की अपेक्षा नहीं कर रहे हैं?"

यदि आप अपने सच्चे कार्य के लिए असमर्थ हैं तो शिक्षक बने ही क्यों ? यदि पढ़ाना आपके लिए केवल एक व्यवसाय है — जैसे अन्य व्यवसाय होते हैं, तभी आपका पूछा प्रश्न उपस्थित हो सकता है, कारण, मुझे लगता है कि सच्चे शिक्षक या विद्यादाता के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।

३२. आपकी सन्तान और उसकी सफलता

वह संध्या विलक्षण जादूभरी थी। पहाड़ियों के शिखर अस्तमान सूर्य की किरणों से प्रकाशित थे। घाटी से जानेवाले मार्ग पर रेत ही रेत थी, और इसमें चार कठफुड़वे स्नान कर रहे थे। अपनी लम्बी चोचों से वे अपने नीचे की रेत निकाल देते थे और जैसे-जैसे वे अपने बदन गहराई में उतारते जाते, वैसे-वैसे साथ ही पंख फड़फड़ाते चलते। इस तरह अपनी स्नान विधि का फिर से प्रारंभ करते। उनके सिर पर की कलँगी ऊपर-नीचे नाचती रहती। एक-दूसरे को पुकारते हुए वे

स्नान का पूरा आनन्द लूट रहे थे। उनके एकान्त आनन्द में बाधा न पड़े, अतः मार्ग के परे, अभी के वर्षा से निकली छोटी, घनी घास पर हम उतर आये। तब हमने देखा, कुछ ही अन्तर पर एक पीला-सा लम्बा और शक्तिशाली नाग। उसका फन चमकीला, चित्रित और पैना था। उन पंछियों पर आक्रमण करने के लिए वह पूर्णतः तैयार था। हमारी आहट से वह विचलित नहीं हुआ। उसकी काली आँखें तनिक भी हिलती नहीं थीं और उसकी गहरी तेज जिह्वा अन्दर-बाहर लप्-लप् करती थी। लगभग अदृश्य रहकर वह उन पंछियों की ओर बढ़ रहा था और अपनी गति से वह घास पर जरा-सी भी आवाज होने नहीं देता था। वह काला नाग था और उसके चारों ओर मृत्यु छायी हुई थी। भयावह किन्तु सुन्दर ऐसी उसकी आकृति सांध्य प्रकाश में चमक रही थी, ऐसा लगता था कि मानो अपनी पुरानी केंचुली उसने अभी छोड़ी है। अचानक भयसूचक चीख के साथ वे चारों पक्षी आकाश में उड़ गये, और उस समय हमने एक असामान्य घटना देखी : नाग शिथिल हो गया। अभी तक वह उत्सुकता से तना हुआ था और अब ऐसा लगता था कि मानो जमीन का ही एक भाग हो गया, एकदम मृतवत्—किन्तु क्षणभर में फिर से घातक बन गया। वह सहजता से सरकता था, और हमारी ओर से कोई हलकी-सी आवाज होने पर ही अपना मस्तक ऊपर उठाता। परन्तु उसके साथ एक विशिष्ट स्तब्धता—भय और मृत्यु की स्तब्ध शान्ति, आगे बढ़ती रही।

वे एक छोटे कद की वयस्क महिला थीं, उनके सारे बाल सफेद थे, परन्तु उनका उत्तम स्वास्थ्य था। उनकी वाणी सौम्य, सौजन्यपूर्ण थी, फिर भी उनकी आकृति, उनका चलना, हावभाव और उनके उत्तमांग का ढब—सभी से गहराई में छिपी आक्रमणशीलता व्यक्त होती थी, और उनकी आवाज में भी वह छिप नहीं सकी थी। उनका परिवार बड़ा था, कई बेटे और बेटियाँ थीं। किन्तु उनके पति का देहान्त कुछ समय पहले हो चुका था और उनको अकेले ही बच्चों का पालन-पोषण करना पड़ा था। उन्होंने गर्व के साथ बताया कि उनका एक बेटा यशस्वी डाक्टर था। उसकी काफी अच्छी प्रैक्टिस थी और वह एक अच्छा शल्य-चिकित्सक भी था। बेटियों में एक बुद्धिमान और सफल राजनयिक थी और बिना कठिनाई के वह अपने मार्ग पर आगे बढ़ रही थी; यह बात उस महिला ने इस तरह मुस्कराहट के साथ कही, जिसका गर्भित अर्थ था—"आप जानते हैं कि स्त्रियाँ कैसी होती हैं।" आगे बात स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि इस राजनयिक कन्या में आध्यात्मिक आकांक्षाएँ थीं।

आध्यात्मिक आकांक्षाएँ कहने से आपका क्या तात्पर्य है ?

"वह किसी धार्मिक या दार्शनिक समुदाय की प्रमुख बनना चाहती है।"

किसी संघटन के द्वारा दूसरों पर सत्ता चलाना निश्चित ही कुकृत्य है, है न ? सभी राजनयिकों की यही पद्धति है, चाहे वे राजनीति में हों या न हों। आप इस बात को सुखद भुलावे में डालनेवाले शब्दों में भले छिपा दें, परन्तु क्या सत्ता की आकांक्षा सर्वदा कुकृत्य नहीं होती ?

उन्होंने सुन तो लिया, परन्तु कही हुई बात का उनके लिए कोई अर्थ ही नहीं था। उन्हें जिस बात की चिन्ता थी, वह उनके चेहरे पर अंकित थी और अब वह प्रकट होनेवाली थी। अपने अन्य अपत्यों के क्रियाकलापों के बारे में वे कहती गयीं, जिससे स्पष्ट हुआ कि जिस बेटे पर उनका सचमुच प्रेम था, उसे छोड़कर बाकी सब बड़े उत्साह से अपने कार्यों में लगे हुए थे।

"दुःख क्या होता है ?" उन्होंने एकाएक पूछा। मेरे सारे जीवनभर, पार्श्वभूमि में कहीं पर उसकी अनुभूति मुझे है, ऐसा लगता है। यद्यपि केवल एक का अपवाद छोड़कर मेरे सभी अपत्य संतुष्ट और अच्छे-खासे हैं, तो भी दुःख मेरे साथ सतत चलता रहा है। उस पर अंगुली रखकर मैं दिखा नहीं सकूँगी, परन्तु वह मेरा पीछा करता ही आया है, और मैं सदैव, रात के समय जागती हुई, लेटे-लेटे इसका चिन्तन करती आयी हूँ। अपने सबसे छोटे पुत्र के लिए मैं चिन्तित भी हूँ। देखिये, वह तो जीवन में सर्वत्र असफल रहा है। जिस काम को वह स्पर्श करता है; वह मिट्टी में मिल जाता है; उसका विवाह, अपने भाई-बहनों के साथ के उसके सम्बन्ध; अपने मित्रों से सम्बन्ध—सभी में यही बात दिखी। अब तक कभी उसने नौकरी की ही नहीं, कभी मिलती भी है तो कुछ घटना घटती है और वह काम छोड़कर रास्ते पर आ जाता है। ऐसा लगता है कि वह किसी की सहायता के अयोग्य है। उसकी चिन्ता मुझे अवश्य है। यद्यपि वह मेरा दुःख बढ़ाता है, फिर भी मेरे दुःख की जड़ में वह है ऐसा मुझे नहीं लगता। दुःख क्या है ? मुझे चिन्ताएँ लगी रही हैं, निराशा भी होती है, शारीरिक वेदनाएँ भी मैंने अनुभव की हैं, परन्तु यह आन्तरव्याप्त दुःख इन सबसे परे की कोई वस्तु है। इसका कारण अब तक मैं समझ नहीं पायी हूँ। क्या हम इसकी चर्चा कर सकते हैं ?"

आपको अपनी सन्तानों पर और विशेषरूप से उनकी सफलता पर बड़ा गर्व है, है न ?

"किसी भी माता को गर्व होगा, ऐसा मैं मानती हूँ, क्योंकि केवल अन्तिम बेटे को छोड़कर शेष सभी सफल ही रहे हैं। वे सब समृद्ध और सुखी हैं। परन्तु यह प्रश्न आप मुझे क्यों पूछ रहे हैं ?"

शायद आपके दुःख के साथ इसका सम्बन्ध हो। क्या आपको निश्चय है कि उनकी सफलता के साथ आपके दुःख का कोई सम्बन्ध नहीं है ?

"निश्चय ही; ठीक विपरीत, मुझे उनकी सफलता से बहुत खुशी है।"

आपके दु:ख का मूल क्या है? एक बात आप बतायेंगी? आपके पति की मृत्यु का आप पर क्या बहुत गहरा असर हुआ था? आज भी उसका असर आप पर है?

"मेरे लिए वह बहुत बड़ा आघात था, और उनकी मृत्यु के बाद मैं एकदम एकाकी हो गयी थी, परन्तु अल्पकाल में ही अपने अकेलेपन को और दुख को मैं भूल गयी, क्योंकि मुझे अपने बच्चों की देखभाल करनी थी और अपने बारे में विचार करने का भी अवकाश मेरे पास नहीं था।"

क्या एकाकीपन और दु:ख का नाश काल से होता है, ऐसा आप सोचती हैं? आपने उन्हें भुला दिया हो, तो भी मन के अन्तस्तल में क्या वे अभी भी दबे हुए नहीं हैं? जो जाग्रत दु:ख आप अनुभव करतीं हैं, उसमें शायद यही कारण हो सकते हैं?

"जैसा मैंने निवेदन किया, मेरे पति की मृत्यु से मुझे बड़ा दु:ख पहुँचा, परन्तु वह तो अपेक्षित था और आँसू बहाकर मैंने उसका स्वीकार किया। विवाह के पूर्व एक कन्या के रूप में मेरे पिता की मृत्यु मैंने देखी थी। कुछ वर्ष बीतने पर मेरी माता का भी देहान्त हुआ; किन्तु प्रस्थापित मान्य धर्मों मे मुझे कभी आस्था नहीं रही और चिल्ला-चिल्लाकर किया गया मृत्यु तथा परलोक का स्पष्टीकरण मेरे लिए खास महत्त्व नहीं रखता था। मृत्यु अनिवार्य है और अधिक निनाद न करते हुए उसे हम स्वीकारें यही अच्छा।"

मृत्यु की ओर देखने की यह आपकी एक दृष्टि हो सकती है, परन्तु इस तरह तर्क देकर क्या आप अकेलेपन को हटा सकेंगी? मृत्यु तो कल की बात है, जब आयेगी तब शायद उसका सामना करेंगी; परन्तु एकाकीपन क्या नित्य का साथी नहीं है? आप सोच-समझकर-इसके लिए द्वार भले बन्द कर दें, परन्तु द्वार के पीछे वह उपस्थित ही है। इस एकाकीपन को नियंत्रित करके क्या उसके दर्शन नहीं करने चाहिए?

"इस विषय में मुझे कुछ मालूम नहीं। एकाकीपन अत्यन्त दु:खद है, और उस भयंकर भावना को निमंत्रण देने जितना साहस मुझमें होगा, इसकी शंका ही है। वह सचमुच अत्यन्त भयावह है।"

वह आपके दु:ख का कारण हो सकता है, अत: उसका पूर्णरूप से आकलन आपको करना चाहिए न?

"परन्तु उसका आकलन मैं कर ही कैसे सकती हूँ, जब ठीक वही बात मुझे वेदना देती है?"

एकाकीपन आपको दर्द नहीं देता है, किन्तु एकांकिता की कल्पना भय का कारण बनती है। आपने एकाकी स्थिति का कभी अनुभव ही नहीं किया है। सदैव

आपने उसकी ओर आशंका की, आतंक की दृष्टि से देखा, उससे दूर भागने की प्रेरणा से अथवा उस पर विजय पाने की वृत्ति से उसे देखा है; इस प्रकार आपने उसे टाला ही है, है न ? आप प्रत्यक्ष उसके सीधे सम्पर्क में कभी आयी ही नहीं। अपने से इस एकाकीपन को दूर रखने के लिए आपने अपने बच्चों के कार्यकलाप और उनकी सफलता में अपना बचाव खोज लिया। उनकी सफलता आपकी सफलता बन गयी है; परन्तु सफलता की इस पूजा के पीछे क्या कोई गहरी चिन्ता छिपी हुई नहीं है ?

"आपको कैसे मालूम ?"

जिस वस्तु में मनुष्य अपने-आप को छिपाता है, वह अत्यन्त महत्त्व की बन जाती है, जैसे शराब शराबी के लिए आवश्यक होती है; फिर ये छिपने के स्थान भले रेडियो, समाजकार्य, कोई विशिष्ट सिद्धान्त, तथाकथित प्रेम इत्यादि क्यों न हों। सफलता की पूजा में कोई स्वयं को भुला दे, अथवा किसी प्रतिमा के पूजन में अपने को लीन करें, या किसी आदर्श में खो दें; किन्तु सभी आदर्श मिथ्याजाल है, और अपने को भुला देने में ही चिन्ता का उद्गम है। एक बात आपके ध्यान में ला दूं, आपके बच्चों की सफलता आपके दुःख का कारण है, क्योंकि उनके लिए और अपने लिए भी आपको बहुत गहरी चिन्ता है। उनकी सफलता पर तथा लोकमान्यता पर। उन्हें मिलनेवाली 'सराहना' पर आपको गर्व होते हुए भी इसके पीछे क्या एक प्रकार का लज्जा का भाव, तिरस्कार या निराशा का भाव छिपा नहीं है ? एक बात पूछने के लिए मुझे क्षमा कीजिये, परन्तु उनकी सफलता के लिए भी क्या आप गहराई में व्यथित नहीं हैं ?

"आप जानते ही हैं कि इस व्यथा का स्वरूप अपने मन से भी स्वीकार करने का साहस मुझमें कभी आया नहीं, परन्तु वह है, यह आपकी बात सही है।"

आपके इस विषय में उतरने की इच्छा है ?

"अब तो निश्चित ही इसे मैं समझना चाहूँगी। देखिये, किसी भी धर्म में निष्ठा न रखते हुए भी मैं सदा धार्मिक रही हूँ। कहीं-कहीं मैंने धर्म के सम्बन्ध में पढ़ा है, परन्तु किसी भी तथाकथित धर्म-संघटन में मैं अटकी नहीं। संगठित धर्म मुझे कभी निकट नहीं लगा और न मुझे उसके लिए अपनापन लगा। मेरे ऐहिक जीवन के अन्तस्तल में सर्वदा एक धुंधली-सी धर्म-विषयक खोज रही है और जब से मुझे बच्चे होने लगे, मुझमें इस खोज की प्रेरणा ने एक अलग गहरी आशा का रूप लिया कि मेरी एक सन्तान तो धर्म की ओर झुकाव रखनेवाली होगी। परन्तु उनमें से एक भी वैसा नहीं निकला; वे सबके सब ऐश्वर्य सम्पन्न और सांसारिक बन गये, अपवाद केवल छोटे का है, जो सभी चीजों का मिश्रण है। मेरे सारे अपत्य सचमुच

बिलकुल सामान्य हैं, और यही बात दुःखद है। अपने भौतिक जीवन में वे व्यस्त हैं। यह सारा इतना छिछला और मूर्खतापूर्ण लगता है, परन्तु मैंने किसी भी लड़के से इसकी चर्चा नहीं की है। यदि मैं चर्चा करती भी तो मेरी बात वे समझेंगे भी नहीं। मैंने सोचा था कि कम से कम एक तो उनसे भिन्न और निराला बनेगा, परन्तु उनकी और अपनी भी सर्वमान्यता देखकर मैं भय से चकित हूँ। मुझे लगता है कि यही बात मेरे दुःख का कारण है। इस मूर्खतापूर्ण अवस्था से उबरने का मार्ग कैसे खोजें?"

अपने में या दूसरे में? मनुष्य केवल स्वयं ही सामान्यता मिटा सकता है, और तब शायद दूसरों के साथ सम्बन्ध भिन्न स्वरूप ले सकते हैं। स्वयं सामान्य है, इस बात का ज्ञान होना ही परिवर्तन का प्रारंभ है, है न? किन्तु एक क्षुद्र मन जब स्वयं के विषय में जागृत होने लगता है, तब वह परिवर्तन के लिए, अपने सुधार के लिए उत्तेजित होकर दौड़-धूप करने में व्यग्र होता है और उसकी यही प्रेरणा सामान्यता है। अहं-सुधार की कोई भी आकांक्षा क्षुद्र है। जब मन समझता है कि वह सामान्य है और फिर भी अपने सुधार की किसी प्रक्रिया में फँस नहीं जाता तब सामान्यता टूटने लगती है।

"आपके, 'अपने पर ही प्रक्रिया करना', इस उद्‌गार का क्या अभिप्राय है?"

अपने क्षुद्रत्व को पहचानकर कोई अल्पमन स्वयं को बदलने का प्रयास करता है, तो क्या इस प्रयास में भी वह क्षुद्र ही नहीं है? संकीर्ण मन से ही परिवर्तन का प्रयास जन्म लेता है, इसलिए यह प्रयास भी संकीर्ण, क्षुद्र ही है।

"जी हाँ, यह मैं समझ रही हूँ, किन्तु कोई कर क्या सकता है?"

मन के सभी कर्म अल्प और सीमित होते हैं। मन को कर्म करने से पूर्णतः विरत होना होगा, निवृत्त होना होगा, तभी केवल सामान्यता का अन्त होता है।

३३. प्राप्त करने की प्रेरणा

प्रतिदिन प्रभात के समय उस बाग में दो सुनहरे-हरे, लम्बी पूँछवाले पंछी आते थे, और एक विशिष्ट टहनी पर बैठकर एक-दूसरे को पुकारते हुए खेलते थे। वे कितने चंचल थे, उनके तन सदा थरथराते, उड़ान भरने के लिए तत्पर रहते, परन्तु थे वे बड़े प्यारे और लगता था कि अपनी उड़ान तथा खेल से वे कभी थकते ही नहीं होंगे। वह एक छायादार उद्यान था, और विभिन्न प्रकार के अन्य पंछी भी वहाँ सतत आते-जाते रहते थे। दो चिकने और चपल बाल-नेवले, सूरज के प्रकाश में अपनी पीली-सी ऊनी त्वचा चमकाते, छोटी -सी दीवार पर एक-दूसरे का पीछा

करते दौड़ते रहते और फिर एक छेद में से निकलकर बाग में दाखिल हो जाते। परन्तु अपने खेल में भी वे कितने चौकस और जागृत रहते थे, दीवाल से सटकर दौड़ते और अपनी लाल आँखें तत्परता से देखने को तैयार रखते। कभी-कभी एक गोल-मटोल बूढ़ा नेवला उसी छेद में से बाग में आता था, वह उन दोनों का पिता या माता होगा, क्योंकि एक बार वे तीनों साथ-साथ थे। उस विवर में से एक के पीछे एक बगीचे में आकर उन्होंने एक साथ पूरी हरियाली की लम्बाई पार कर दो और निकट की झाड़ियों में अदृश्य हो गये।

"हम नित्य कुछ न कुछ प्राप्त करने में क्यों लगे रहते हैं?" पी० ने प्रश्न किया।" प्राप्त करने की इस प्रेरणा के पीछे क्या हेतु होगा? यह सतत चलनेवाली शोध की प्रक्रिया कितनी थकानेवाली होती है! क्या इसका कोई अंत नहीं है?"

"जिस चीज को पाने की चाह है, उसी की खोज हम करते हैं," एम० ने उत्तर दिया, "और वह चीज पाने पर हम नयी खोज प्रारंभ करते हैं। यदि हममें प्राप्त करने की प्रेरणा न हो तो जीने की सारी प्रक्रिया समाप्त हो जायेगी और जीवन निष्क्रिय होगा, साथ-साथ निरर्थक भी।"

"खोजो और तुम पाओगे," आर० ने उद्धृत किया। "जाने-अनजाने हम जिसके लिए तड़पते हैं, जिसे चाहते हैं, उसे पाते हैं। इस प्राप्त करने की प्रेरणा के लिए हमारे मन में कभी शंका या प्रश्न नहीं उठता; हम सर्वदा खोजते ही रहे हैं और स्पष्ट है कि सदैव खोजते रहेंगे।"

"प्राप्त करने की आकांक्षा अनिवार्य है," एल० ने निवेदन किया। "हम श्वास क्यों लेते हैं, अथवा हमारे बाल क्यों बढ़ते हैं, ऐसा भी पूछ सकते हैं। प्राप्त करने की प्रेरणा, दिन और रात के समान ही अटल है।"

जब आप यह निश्चित विधान करते हैं कि प्राप्त करने की प्रेरणा अनिवार्य है, तब इस विषय में सत्य समझने का मार्ग ही बन्द हो जाता है, होता है न? जब आप किसी बात को अंतिम और निश्चितरूप में स्वीकार कर लेते हैं, तब सारा शोधकार्य क्या समाप्त नहीं होता?

"परन्तु गुरुत्वाकर्षण के जैसे कुछ नियम निश्चित होते हैं और उनसे बौद्धिक टक्कर लेकर सिर खपाने के बदले उनका स्वीकार करना ही समझदारी है," एल० ने उत्तर दिया।

कुछ सिद्धान्त और मान्य-विश्वास विविध मानसिक कारणों से हम स्वीकार कर लेते हैं, और इस तरह स्वीकृत किया हुआ विश्वास, काल की प्रक्रिया में अनिवार्य बन जाता है, वह मनुष्य की तथाकथित आवश्यकता कहलाती है।"

"यदि प्राप्त करने की प्रेरणा को एल० अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हैं,

तो वे प्राप्तव्य के लिए शोध करते ही रहेंगे, और उनके लिए यह कोई समस्या ही नहीं है", एम० ने कहा।

वैज्ञानिक, चालाक राजनयिक, दु:खी, रोगी—ये सभी लोग अपनी-अपनी पद्धति से प्राप्तव्य के पीछे लगे रहते हैं और अपनी खोज की वस्तु समय-समय पर बदलते रहते हैं। हम सब प्राप्त करने में लगे रहते हैं, परन्तु ऐसा दीखता है, कि हमने अपने-आप से यह कभी नहीं पूछा कि हम शोध में क्यों लगे रहते हैं। हम अभी अपनी खोज के लक्ष्य की, चाहे वह उदात्त हो या अनुदात्त, चर्चा नहीं कर रहे हैं, हम इस प्रयत्न में हैं कि अन्तत: हम प्राप्तव्य के पीछे लगते ही क्यों हैं? इस प्रेरणा का, इस सतत चलनेवाली विवशता का स्वरूप क्या है? क्या यह अनिवार्य है? क्या इसका अंतहीन सातत्य बना ही रहेगा?

"यदि हमारे मन में पाने की प्रेरणा नहीं होगी, तो क्या हम आलसी और निष्क्रिय नहीं बन जायेंगे?" वाय० ने पूछा।

किसी न किसी रूप में संघर्ष चलता ही रहे, ऐसी अपनी जीवन-पद्धति हो गयी है, और संघर्ष के बिना जीवन अर्थशून्य है, ऐसा हम सोचते हैं। अधिकतर लोगों की दृष्टि में संघर्ष की समाप्ति का अर्थ है मृत्यु। खोज में संघर्ष, दौड़-धूप निहित है। क्या यही प्रक्रिया मनुष्य के लिए आवश्यक है, अथवा इससे भिन्न, खोज तथा संघर्ष विरहित जीवन का कोई 'मार्ग' भी है? हम किसलिए और क्या सोचते हैं?

"मैं अपने स्वयं के सुरक्षित जीवन के लिए नहीं, किन्तु अपने राष्ट्र की सुरक्षित भवितव्यता के लिए साधनों की खोज करता रहता हूँ।" एल० ने कहा।

क्या राष्ट्रीय और वैयक्तिक सुरक्षित अस्तित्व में इतना अधिक अंतर है? व्यक्ति राष्ट्र के या किसी विशिष्ट समाज के साथ एकरूप होता है, और वह राष्ट्र या समाज शाश्वत बना रहे, ऐसा चाहता है। किसी राष्ट्र का शाश्वत अस्तित्व उस व्यक्ति का भी भावी अस्तित्व शाश्वत बनाता है। क्या व्यक्ति भी स्वयं से किसी महान् या उदात्त वस्तु के साथ एकरूप होकर शाश्वत अस्तित्व में रहने की चेष्टा नहीं करता है?

एम० ने पूछा, "क्या कभी ऐसा एक क्षण या एक ऐसी स्थिति नहीं आती, जब अचानक हम अपने-आप को संघर्षशून्य या खोज की प्रेरणा से विरहित पाते हैं।"

"वह क्षण शायद केवल थकान का परिणाम भी हो सकता है, केवल क्षण-भर रुकना—जिसके बाद पुन: शोध और भय के दुष्ट चक्र में हम स्वयं प्रविष्ट हो जाते हैं।" आर० ने उत्तर दिया।

शायद वह क्षण काल से परे भी हो सकता है।" एम० ने बताया।

जिस क्षण की हम बात कर रहे हैं, क्या वह कालातीत है, अथवा पुनश्च शोध का प्रारम्भ करने से पूर्व की केवल एक विश्राम की स्थिति है ? हम किसलिए खोज करते हैं ? और इस खोज का अन्त आना क्या कभी सम्भव है ? जब तक हम स्वयं के लिए इस सत्य का साक्षात्कार नहीं करते कि अन्ततः हम किसलिए खोजते और संघर्षरत रहते हैं, तब तक जिस स्थिति में खोज का अन्त होता है, वह हमारे लिए एक अर्थशून्य भ्रम रहेगी।

"क्या खोज के विभिन्न उद्देश्यों में कोई अन्तर नहीं होता ? बी० ने पूछा।

अन्तर तो होता ही है, परन्तु सभी खोजों में प्रेरणा तो मूलतः एक ही होती है, होती है न ? हम व्यक्तिशः अथवा राष्ट्र के रूप में जीवित रहने की अभिलाषा रखें; चाहे हम किसी आचार्य के पास, किसी गुरु या किसी तारनहार के पास चले जायँ; हम भले किसी विशिष्ट साधना-पद्धति का अनुसरण करें अथवा अन्य किसी मार्ग से अपने को उत्तम बनाने की सोचें, क्या हम में से प्रत्येक अपनी-अपनी सीमित या विशाल पद्धति से एक प्रकार का सन्तोष, सातत्य या नैरन्तर्य नहीं खोजते हैं ? तो अब हम स्वयं से यह नहीं पूछ रहे हैं कि हम क्या खोजते हैं, किन्तु यह पूछना चाहते हैं कि हम खोजते ही क्यों हैं ? और क्या यह सम्भव है कि हमारी सारी खोज समाप्त हो जाय, किसी दबाव के अथवा विफलता के कारण नहीं, अथवा जिसकी खोज थी, वह वस्तु प्राप्त हुई इसलिए भी नहीं, परन्तु जो प्रेरणा थी, वह पूर्णरूप से शान्त; शमित हो गयी, इसलिए ?

"शोध की आदत में हम फँसे हुए हैं, और मुझे लगता है कि हमारे असंतोष का वह परिणाम है।" बी० ने कहा।

असमाधानी, असंतुष्ट होने से हम समाधान, सन्तोष प्राप्त करने की चेष्टा में रहते हैं। जब तक संतुष्टि या सार्थकता प्राप्त करने की यह प्रेरणा रहेगी, तब तक खोज और संघर्ष रहेंगे ही। सार्थकताप्राप्ति की यह प्रेरणा सदा ही भय के सान्निध्य में रहती है, रहती है न ?

"इस भय से हम किस तरह अपना बचाव कर पायेंगे ?" बी० ने प्रश्न किया।

आपको भय के डंक के बिना सार्थकता, जीवन-साफल्य चाहिए; परन्तु शाश्वत साफल्य नाम की कोई वस्तु कभी होती है ? निश्चित ही साफल्य की आकांक्षा ही विफलता और भय का कारण है। साफल्य का अर्थ ध्यान में आयेगा, तभी केवल कामना का अन्त होता है। कुछ न कुछ 'बनते रहना' और केवल 'होना' ये दो अत्यन्त भिन्न स्थितियाँ हैं; और आप कभी एक से दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकते, परन्तु बनते रहने की अवस्था का समापन होते ही, दूसरी स्वयंसिद्ध है।

३४. श्रवण

पूर्णिमा का चन्द्र नदी के पास क्षितिज पर अभी-अभी आ रहा था। कुहरे के कारण वह लाल-सा दीखता था। शीतकाल होने के कारण अनेक देहातों से आकाश में धुआँ उठ रहा था। नदी पर एक भी लहर दिखाई नहीं देती थी, परन्तु अन्दर ही अन्दर प्रवाह गहरा और तीव्र था। अबाबील पंछी जल के निकट से उड़ते थे, उनके पंखों से जल का हलका स्पर्श होने पर शांत जल-पृष्ठ किंचित्-सा आन्दोलित होता था। सायंतारा नदी प्रवाह के ऊपर की ओर, दूरवर्ती, भीड़भरे शहर के मीनार पर चमक रहा था। तोते मानव बस्ती के पास वापस आ रहे थे। उनकी उड़ान कभी सीधी नहीं होती थी। चिल्लाते हुए वे एकदम नीचे उतरते, अनाज का दाना लेते और बाजू से उड़ निकलते, परन्तु नित्य वे एक विशिष्ट हरे-भरे घने वृक्ष की ओर बढ़ते जाते, जहाँ पर वे अगणित संख्या में एकत्रित हो जाते; और तब फिर वहाँ से अधिक सघन वृक्ष की ओर वे उड़ते। जैसे ही अंधकार छा जाता, सारा वातावरण शान्त होता जाता था। वृक्षों के माथे पर अब चन्द्र चढ़ आया था; उसकी किरणों से प्रशान्त जल पर रूपहला पथ ही बन गया था।

उन्होंने कहा, "श्रवण का महत्त्व मेरी समझ में नहीं आता है, परन्तु आपकी बात मैं सचमुच सुनता हूँ या नहीं, इसमें मुझे शंका है। पता नहीं क्यों, श्रवण करने के लिए मुझे बहुत प्रयास करना पड़ता है।"

जब श्रवण करने के लिए आप प्रयास करते हैं, तब क्या आप श्रवण करते हैं? क्या प्रयास ही श्रवण में बाधा डालनेवाला विक्षेप नहीं बनता? आनन्ददायक बात आप सुनते हैं, तब क्या आप श्रवण के लिए प्रयत्न करते हैं? निश्चितरूप से, श्रवण के लिए यह प्रयत्न एक प्रकार का दबाव ही है। और दबाव है प्रतिरोध, है न? प्रतिरोध समस्याओं को जन्म देता है; इसलिए श्रवण उनमें से एक समस्या बनता है। श्रवण अपने में कभी समस्या नहीं होता।

"परन्तु मेरे लिए वह समस्या है। मुझे ठीक-ठीक सुनने की इच्छा है, कारण मुझे लगता है कि आपकी बात में गहरी सार्थकता है, परन्तु मैं उसके शाब्दिक अर्थ से परे जा ही नहीं सकता।"

आपसे एक बात कहना चाहूँगा कि अभी जो कहा जा रहा है, उसे आप सुन नहीं रहे हैं। श्रवण को आपने एक समस्या बना डाला है, और यह समस्या आपको

श्रवण में रुकावट डालती है। हम जिसको स्पर्श करते हैं, वह समस्या बन जाती है। एक प्रश्न अनेक प्रश्नों को जन्म देता है। इस तथ्य को देखने पर, क्या यह सम्भव होगा कि समस्याओं को उत्पन्न ही न होने दें?

"यह तो उत्तम ही होगा, परन्तु इस सुखद स्थिति तक हम कैसे पहुँचे?"

फिर से देखिये, यह 'कैसे' का प्रश्न, विशिष्ट स्थिति को प्राप्त करने की रीति, और एक समस्या बनकर आयी है। समस्याओं को जन्म न देने की चर्चा हम कर रहे हैं। एक मुद्दे की ओर आपका ध्यान आकर्षित करूँ। समस्या निर्माण करने की मन की जो विशिष्ट रीति है, उसका बोध आपको होना आवश्यक है। सम्यक् श्रवण की स्थिति को आप प्राप्त करना चाहते हैं; दूसरे शब्दों में कहें, तो आप सुन नहीं रहे हैं, किन्तु आपको एक स्थिति को प्राप्त करना है, और उस स्थिति को या अन्य किसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए आपको समय तथा रुचि या आस्था की आवश्यकता है। समय और रुचि की आवश्यकता समस्याओं को पनपाती है। आप श्रवण नहीं कर रहे, इस तथ्य का आपको सीधा, सरल बोध नहीं है। यह सरल बोध होगा, तब आपके श्रवण न करने के तथ्य की अपनी एक क्रिया होती है; उस तथ्य का सत्य ही कर्म करता है, आप स्वयं उस पर कोई कर्म नहीं करते। परन्तु आप चाहते हैं कि उस पर आप ही क्रिया करें, उसको परिवर्तित कर दें, उसकी विरोधी स्थिति विकसित करें, एक वांछित अवस्था निर्माण करें, इत्यादि। तथ्य पर कुछ प्रक्रिया करने का आपका प्रयास समस्याओं को जन्म देता है, वस्तुतः तथ्य के सत्य का दर्शन मात्र करने से मुक्तिदायी क्रिया स्वयं अपने-आप घटित होती है। जब तक आपका मन किसी प्रयास में, तुलना में, समर्थन या निषेध में लगा रहता है; तब तक आपको सत्य का बोध नहीं होता, न आप मिथ्या को मिथ्यारूप में देख पाते हैं।

"यह सब सही होगा, परन्तु अन्तःकरण में यदि सारे संघर्ष और आन्तर्विरोध उभड़ते रहते हैं, तो मुझे लगता है कि श्रवण करना लगभग असम्भव है।"

श्रवण अपने में ही एक परिपूर्ण कर्म है; श्रवण का कर्म ही स्वयं अपनी मुक्ति लाता है। परन्तु आप सचमुच श्रवण की चिन्ता करते हैं, अथवा आपके आंतरिक विक्षोभ में परिवर्तन लाने के प्रयास में आप व्यस्त हैं? महाशय, आपके संघर्ष और आन्तर्विरोध का केवल बोध के अर्थ में यदि आप श्रवण करेंगे, और किसी विशिष्ट विचार के ढाँचे में उन्हें जबरदस्ती ढालने की कोशिश नहीं करेंगे, तो शायद वे पूर्णतः विलीन हो जायेंगे। देखिये, आप सतत कुछ न कुछ बनने के प्रयत्न में हैं, किसी विशिष्ट स्थिति को प्राप्त करने में, किसी प्रकार की अनुभूति को पाना और अन्य किसी को टालना—इस प्रक्रिया में लगे हैं, इसलिए मन अविराम किसी न

किसी क्रिया में व्यस्त है। वह कभी अपने संघर्ष और वेदनाओं के कोलाहल को सुनने के लिए स्थिर, स्वस्थ नहीं है। आप सरल हो जाइये, कुछ बनने की कोशिश न कीजिये, अथवा किसी अनुभूति को प्राप्त करने के पीछे नहीं लगिये।

३५. असंतोष की अग्नि

अनेक दिनों से मूसलाधार वर्षा हो रही थी और जल स्रोत खूब उमड़कर कलकल ध्वनि करते बह रहे थे। कितनी गलियों से निकले वे भूरे, गन्दे स्रोत घाटी के मध्य से दौड़नेवाले विशाल स्रोत से मिलते थे और आगे चलकर यह भी नदी के साथ एकरूप हो जाता था। फिर यह नदी कुछ मील दूर सागर में मिल जाती थी। नदी ने बहुत बढ़कर तीव्र गति ली थी और उद्यान तथा खुले प्रदेश में से घुमाव लेती हुई वह बहती थी। ग्रीष्म ऋतु में भी वह कभी शुष्क नहीं होती थी, यद्यपि उसे पुष्ट करनेवाले सभी स्रोतों में सूखी रेती और रूखे पत्थर दिखाई देते थे। अब नदी की गति मनुष्य के चलने की गति से अधिक थी और दोनों किनारों पर उसका कीचड़भरा जल देखने के लिए लोग खड़े हो जाते थे। इस तरह ऊँचाई तक बढ़ा नदी का रूप सदैव नहीं होता था। लोग उत्तेजित थे, उनकी आँखें चमक रही थीं, क्योंकि तीव्र गति से दौड़नेवाला जल-प्रवाह आनन्द का विषय था। सागर के निकटवर्ती नगर में शायद कष्ट की अनुभूति होगी, नदी किनारों को लाँघ कर बाढ़ आयेगी, खेतों और कुंजों में जल भर देगी और मकानों को हानि पहुँचायेगी। किन्तु यहाँ एकाकी पुल के नीचे भूरा जल गा रहा था। कुछ लोग मछलियाँ पकड़ रहे थे, किन्तु वे अधिक नहीं पकड़ पाये होंगे, क्योंकि यहाँ प्रवाह निकट के सारे स्रोतों का पूरा कचरा बहाता हुआ अधिक प्रबल बना था। पुनश्च वर्षा प्रारंभ हुई, फिर भी लोग सादी सीधी चीजों में आनन्द लेते हुए देखते खड़े रह गये थे।

उस महिला ने कहा, "मैं सदा ही अन्वेषिका रही हूँ। अनेक विषयों पर मैंने कितनी ही पुस्तकें पढ़ी हैं। मैं कैथोलिक पंथी थी, परन्तु उस चर्च को छोड़कर मैंने दूसरे पंथ का स्वीकार किया; उसे भी बाद में त्याग कर एक धार्मिक समाज को मैंने अपनाया है। हाल ही में मैं पौर्वात्य दर्शन पढ़ती रही हूँ, विशेषकर बुद्ध का उपदेश. और इन सबके साथ मैंने अपना मानस-विश्लेषण भी करवाया; परन्तु इतना करने के बाद भी मेरा अन्वेषण समाप्त नहीं हुआ, और अब आपसे चर्चा करने के लिए मैं उपस्थित हूँ। गुरु की खोज में मैं भारत पहुँच ही जाती, परन्तु परिस्थिति ने मुझे जाने से रोक दिया।"

वे कहती गयीं कि उन्होंने विवाह किया और उनके दो बच्चे भी हुए, जो तेजस्वी और बुद्धिमान् थे और कालेज में पढ़ रहे थे; उन्हें बच्चों की चिन्ता नहीं थी, वे स्वयं अपनी देखभाल कर सकते थे। अब उनमें कोई सामाजिक अभिरुचि भी शेष नहीं थी। वे गंभीरतापूर्वक ध्यान करने की चेष्टा कर रही थीं, परन्तु कहीं भी पहुँची नहीं, और उनका मन पूर्ववत् ही मूढ़ और चंचल बना हुआ था।

वे आगे बढ़ती रहीं, "आप ध्यान और प्रार्थना के विषय में जो कहते हैं वह, जो मैंने पढ़ा और सोचा है, उससे इतना भिन्न है कि अभी भी मैं उलझन में पड़ी हूँ। परन्तु इस सारे थकानेवाले संभ्रम में से जाते हुए भी मैं वस्तुतः चाहती हूँ कि सत्य पा जाऊँ और उसका गूढ़ रहस्य समझ लूँ।"

सत्य का शोध करने से आप उसे पा जायेंगी, ऐसा ही आप सोचती हैं न? परन्तु क्या यह भी संभव नहीं है कि तथाकथित शोधक सत्य को कभी भी पा न सके? आपने अब तक इस शोध की प्रेरणा को गहराई तक पहुँचकर समझा ही नहीं है, नहीं समझा है न? फिर भी आप शोध करती ही जा रही हैं, एक चीज से दूसरी की ओर। आप जिसे सत्य कहती हैं और जिसका आपने गूढ़ रहस्य बना लिया है, उसे खोजने की आशा में लगी हुई हैं।

"किन्तु मुझे जिसकी चाह है, उसके पीछे जाने में गलत क्या है? मुझे जिस वस्तु की अभिलाषा रही, उसका खोज मैंने सदैव की है और अधिकतर मैंने उसे पाया भी है।"

ऐसा अवश्य हुआ होगा; किन्तु आप क्या ऐसा समझती हैं कि पैसे अथवा रंग-चित्रों के समान ही सत्य को आप एकत्र करके संग्रहीत कर सकेंगी? आप क्या ऐसा मानती हैं कि अपने मिथ्याभिमान के लिए सत्य मात्र एक अलंकार बनकर रहना चाहिए अथवा वास्तविकता यह है, कि जब संग्रहनिष्ठ मन पूर्णतः विराम पायेगा, तभी वह सत्य प्रकट हो सकेगा?

"मैं समझती हूँ। उसे पाने की उत्कटता मुझमें अतिशय तीव्र है।"

सर्वथा नहीं। अपनी उत्कटता में आप जिस वस्तु का शोध करती हैं, उसे पा अवश्य लेंगी, किन्तु वह यथार्थ सत्य नहीं होगा।

"तब फिर मुझे क्या करना चाहिए? क्या केवल पड़े रहकर निष्क्रियता में जीवन बिताना चाहिए?"

आप एकदम निष्कर्ष पर पहुँच जाती हैं, है न? क्या यह आवश्यक नहीं है कि आप शोध क्यों करती हैं, इसे समझ लें?

"अजी, मैं क्यों शोध करती हूँ, मुझे मालूम है। मैं सभी चीजों से पूरी तरह असंतुष्ट हूँ, जिन चीजों को मैंने प्राप्त किया, उनसे भी। असंतोष की वेदना पुनः

लौटकर आती है; मैं सोचती हूँ, कि मैंने कुछ उपलब्ध किया है, परन्तु कुछ ही समय में उसका रंग फीका पड़ जाता है, और पुनश्च असंतोष की वेदना मुझे त्रस्त कर डालती है। उसे जीतने के सारे साधन मैंने प्रयोग करके देखे हैं, परन्तु मेरे अन्दर वह बहुत प्रबल है, और यह निश्चित है कि सत्य को, अथवा जो भी हो—उसे मुझे प्राप्त करना ही होगा, जिसे पाकर मुझे शान्ति और समाधान मिल सके।''

वस्तुतः आपको आभारी होना चाहिए कि इस असंतोष की अग्नि को आप बुझा नहीं पायी हैं। पर विजय पाना—यही आपकी समस्या रही है, रही है न? आपने संतोष प्राप्त करने का प्रयास किया और सौभाग्य से आपको वह नहीं मिला; उसे पाने का ही अर्थ है अवरुद्ध होना, निष्क्रिय बनना।

"मैं समझती हूँ कि इसी बात की मुझे वस्तुतः खोज रही : इस कुरेदनेवाले असंतोष से पलायन।"

बहुत से लोग असंतुष्ट होते हैं, होते हैं न? परंतु जीवन की सहज प्राप्त होनेवाली वस्तुओं से उन्हें समाधान होता है, चाहे वह पर्वतारोहण हो या किसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति। असंतोष की अस्वस्थता को उथलेपन से अहंतुष्टिदायक उपलब्धियों में परिवर्तित किया जाता है। अपनी संतोषदायी स्थिति में यदि किसी आघात के कारण हम हिल जाते हैं, तो कुछ ही समय में उस असंतोष की वेदना को मिटाने के मार्ग हम ढूंढ़ लेते हैं। इस तरह हम सतह पर ही जीते हैं, और असंतोष की गहराई में कभी डुबकी नहीं लगाते।

"असंतोष के स्तर के नीचे गहराई में किस तरह जा सकते हैं?"

आपका प्रश्न कहता है कि असंतोष से बच निकलने की इच्छा आपमें अभी भी है, है न? उस वेदना से बचने की या उसे बदलने की चेष्टा न करते हुए उस वेदना के साथ जीना—इसी का अर्थ है असंतोष की गहराई में पहुँचना। जब तक हम कहीं पर पहुँचने के या कुछ बनने के प्रयास में रहते हैं, तब तक संघर्ष की वेदना बनी रहेगी; इस वेदना को जन्म देकर फिर हम उससे बचना चाहते हैं, और अनेक क्रिया-कलापों में हम आश्रय पा लेते हैं। अवलोकन करनेवाला साक्षी संतोष के घरौंदे में असंतोष को बलपूर्वक बन्द नहीं करेगा, न उस असंतोष को अनिवार्य मानकर स्वीकारेगा, और सम्यक्‌रूप से असंतोष के साथ उसी का अंग बनकर एकरस हो जायेगा तो वह अद्वितीय, अविरोधी जीवन सत्य को अवतीर्ण होने का अवसर देगा।

"आपके कहने का अर्थ मैं समझ रही हूँ, परन्तु इतने वर्षों से मैं असंतोष से लड़ रही हूँ कि अब उसका एक अंग बन जाना मेरे लिए बहुत कठिन है।"

किसी आदत के साथ आप जितना अधिक लड़ेंगी, उतना ही अधिक उसे जिलायेंगी। आदत एक मृत वस्तु है, उसके साथ लड़िये नहीं, उसका प्रतिरोध भी नहीं

कीजिये; परन्तु असंतोष के वास्तवरूप का दर्शन करते ही अतीत की अर्थवत्ता विलुप्त हो जायेगी। अत्यन्त वेदनाभरी होते हुए भी असंतोष की अवस्था अद्‌भुत सुन्दर होती है, केवल उसकी लौ ज्ञान से, परंपरा या आशा से अथवा उपलब्धियों से बुझ न जाय, इतनी सावधानी आवश्यक है। मानवी उपलब्धियों की विलक्षणता से हम चकित रह जाते हैं, चर्च की गूढ़ रहस्यमयता या जेट हवाई जहाज की महान् उपलब्धि हमें भुलावे में डालती है। परन्तु ये सभी उपलब्धियाँ सतही, पोली हैं और अंततोगत्वा वे हमें दुःख और विनाश की ओर ले जाती हैं। परन्तु एक ऐसी भी निगूढ़ रहस्यमयता है, जो मन की शक्तियों से और सामर्थों से परे है। आप उसका शोध नहीं कर सकतीं, न उसका आवाहन कर सकती हैं; बिना अभिलाषा के ही उसका आगमन होता है, और उसके साथ आता है मानव के लिए मंगल आशीर्वाद। ●

३६. परमानन्द की एक अनुभूति

उस दिन बहुत गरमी और नमी थी। पार्क में बहुत-से लोग शरीर फैलाकर घास पर पड़े थे अथवा बेंचों पर घने वृक्षों की छाया में बैठे थे। वे शीतल पेय पी रहे थे और कहीं से स्वच्छ, ताजी हवा आवे, इस अपेक्षा से व्याकुल थे। आकाश धूसर था, तनिक भी वायु का झोंका आ नहीं रहा था, और इस विशाल यांत्रिक शहर के धुएँ ने वातावरण को व्याप्त कर लिया था। ऐसे समय देहातों के खुले प्रदेश में कितनी रमणीयता होगी, क्योंकि वसन्त ऋतु अब ग्रीष्म में प्रवेश कर रहा है। कुछ वृक्षों पर नयी कोपलें फूट रही होंगी, और चमकती, विस्तृत नदी के किनारे, मार्ग पर सभी प्रकार के फूल खिले होंगे। घन वनों के बीच, सुदूर ऐसा प्रगाढ़ शान्त वातावरण होगा, जिसमें प्रकृति की गोद में जन्म लेनेवाले नये-नये आविष्कारों के स्वर सुनाई पड़ते होंगे। और पर्वत अपनी गहरी घाटियों के साथ कैसे नीले और सुगंधित हो उठे होंगे। परन्तु यहाँ, इस शहर में तो······।

कल्पना शक्ति वास्तविकता के दर्शन को विकृत बनाती है, फिर भी अपनी कल्पना तथा तर्कशक्ति का हमें कितना गर्व है। विचारों में उलझा हुआ तर्कप्रवण मन मूलभूत परिवर्तन के लिए समर्थ नही हो सकता; ऐसा मन क्रान्तिकारी होना संभव नहीं। वह स्वयं को क्या होना चाहिए ऐसे आदर्शों से सजाता है और अपने सीमित, कारावद्ध प्रक्षेपणों की लीक पर चलता रहता है। वास्तविकता के आकलन में जो कल्याण है, वह आदर्श बना-बनाकर उनके अनुरूप चलने में कदापि नहीं है। कल्पनाशीलता के साथ-साथ तुलना भी वस्तुस्थिति का दर्शन अवरुद्ध करती है। मन

की समूची कल्पना तथा तर्कप्रवणता किनारे रखी जाती है, तभी वास्तविकता का सत्य प्रकट होता है।

वह नवयुवक था, परन्तु विवाहित था और एक मान्यताप्राप्त उद्योगपति था। वह बहुत चिन्तित और दु:खी लगता था और कुछ कहने के लिए उत्कंठित था।

"कुछ समय पहले मुझे एक अत्यन्त असाधारण अनुभव हुआ, और अब तक मैंने इस विषय में किसी से बात नहीं की है। इसलिए मुझे शंका है कि उसका स्पष्टीकरण मैं आपको दे ही सकूँगा; कारण आपके सिवा अन्य किसीके पास मैं जा नहीं पाऊँगा। मुझे ऐसी आशा है, उस अनुभूति ने मेरे हृदय को आनंदविभोर कर दिया; परन्तु वह अब चली गयी है और मेरे पास रह गयी है केवल उसकी खाली स्मृति। शायद उसको पुन: लौटाने में आप मेरी सहायता कर सकेंगे। उस कल्याण-प्रद आशीर्वाद का स्वरूप कैसा था, मैं आपको पूरी तरह सुनाने का प्रयास करूँगा। इस प्रकार के अनुभवों के विषय में मैंने पढ़ा है, परन्तु वे तो निरे शब्द ही थे, उन्होंने मेरी इन्द्रियों को ही केवल लुभाया; परन्तु जो घटना मेरे साथ घटी, वह तो सारे विचार, कल्पना और इच्छा के परे की वस्तु थी और अब मैंने उसे खो दिया है। उसे मैं फिर से अनुभव कर सकूँ, ऐसी सहायता आप कृपापूर्वक कीजिये।" क्षणभर रुककर उस युवक ने अपनी बात आगे चलायी।

"एक दिन प्रात:काल मैं बहुत जल्दी उठ गया; सारा शहर अभी निद्रावस्था में ही था और उसके प्रात:कालीन व्यवहार अभी प्रारंभ नहीं हुए थे। मुझे भीतर से प्रेरणा हुई कि मुझे बाहर निकल चलना है, इसलिए मैंने शीघ्र कपड़े पहन लिये और मैं नीचे रास्ते पर उतर आया। दूध बाँटनेवाला ट्रक भी अभी नहीं निकला था। वसंत ऋतु के प्रारंभ का वह समय था और आकाश फीका नीला दिखाई पड़ता था। चित्त में भावना प्रबल हुई कि एकाध मील दूरी पर स्थित पार्क में मुझे जाना चाहिए। अपने घर के द्वार से मैं बाहर आया, तब से मुझमें हलकेपन का एक विलक्षण भाव जाग्रत हुआ, मानो मैं हवा पर ही चल रहा हूँ। बेढंगे फ्लैटवाला सामने का मकान अब कुरूप नहीं लग रहा था; उसकी ईंट तक जैसी जीवन्त, स्पष्ट लगती थीं। सामान्यत: जिन छोटी-छोटी वस्तुओं की ओर मैंने कभी ध्यान नहीं दिया, उनका अपना विशेष गुण प्रकट हुआ, और अद्भुत बात यह थी कि प्रत्येक वस्तु मेरा अपना ही अंग है, ऐसा मुझे भासने लगा। एक भी वस्तु मुझसे पृथक् नहीं थी; सच कहें तो निरीक्षण करनेवाला साक्षी 'मैं' अनुपस्थित ही था। मैं मानता हूं मेरा कहने का अर्थ आपने समझा ही होगा। उस वृक्ष से, अथवा नाली में पड़े उस कागज के टुकड़े से, या एक-दूसरे को पुकार रहे उन पक्षियों से भिन्न 'मैं' था ही नहीं। ऐसी चेतना की स्थिति मैंने कभी अनुभव नहीं की थी।"

वह आगे कहता गया, "पार्क के मार्ग पर फूलों की एक दूकान है। उसके सामने से मैं सैकड़ों बार आते-जाते उन फूलों पर एक दृष्टि अवश्य डालता था, परन्तु इस विशिष्ट प्रभात में उसके सामने मैं खड़ा हो गया। खिड़की के काँच पर अन्दर से गरमी और नमी के कारण भाप जमा हुई थी, परन्तु इससे विभिन्न प्रकार के अनेक पुष्पों के दर्शन में बाधा नहीं आती थी। उन्हें देखते हुए जैसे ही मैं खड़ा हुआ मैंने अपने-आप को अननुभूत आनन्द से मुस्कुराता और हँसता हुआ पाया। वे पुष्प और मैं एक-दूसरे से बातें कर रहे थे; मैं उन्हीं में से एक था और वे मेरा अंग थे। मेरा यह कहना सुनकर आपको शायद लगेगा कि मैं अर्धपागल हो गया था या मेरा मस्तक फिर गया होगा; परन्तु ऐसा सर्वथा नहीं था। मैंने बहुत व्यवस्थित पोषाक पहन रखी थी; मुझे इसका भान था कि मैंने साफ-सुथरे वस्त्र पहने हैं, मैं घड़ी पर दृष्टि डाल रहा हूँ, दूकानों के नाम, यहाँ तक कि मेरे दरजी की दूकान की तख्ती भी देख रहा हूँ और पुस्तकों की दूकान की खिड़की में दीखनेवाली पुस्तकों के नाम भी पढ़ रहा हूँ। प्रत्येक वस्तु जीवन्त थी और हरएक के लिए मुझे प्रेम महसूस हो रहा था। उन पुष्पों की सुगंध मैं था, परन्तु उस सुगंध को सूँघनेवाला 'मैं' था ही नहीं। मेरे कहने का अर्थ आप समझ ही लेंगे। उन पुष्पों में और मुझमें कोई पृथक्ता नहीं थी। विविध रंगों के कारण फूलों की दूकान अद्भुत ढंग से जीवन्त हुई थी और उसका सौन्दर्य इतना चकित करनेवाला था कि काल अपने नाप सहित लीन हो गया था। वहाँ बीस मिनट से भी अधिक समय तक मैं खड़ा था, परन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि समय का मुझे किंचित् भी भान नहीं था। बड़ी कठिनाई से मैं अपने-आप को उन पुष्पों से पृथक् कर सका। संघर्ष, दुःख और वेदनाओं से भरपूर दुनिया वहाँ थी, और फिर भी वह थी ही नहीं। देखिये, उस अवस्था में शब्द निरर्थक हो जाते हैं। शब्द होते हैं वर्णनात्मक, पृथगात्मक और तौलनिक, परन्तु उस स्थिति में कोई शब्द थे ही नहीं; 'मैं' अनुभव नहीं कर रहा था, वहाँ थी केवल वह स्थिति, वह अनुभूति। काल रुक गया था; उसके अतीत, वर्तमान तथा भावी—कोई रूप वहाँ थे नहीं। वहाँ केवल—मुझे मालूम नहीं उसे शब्दों में कैसे व्यक्त करूँ, परन्तु वह कोई बात नहीं। वहाँ एक उपस्थिति थी—नहीं, यह शब्द भी ठीक नहीं लगता। मानो सारी पृथिवी सभी वस्तुओं सहित मंगलकामना में अवस्थित थी, मैं पार्क की ओर चला जा रहा मैं उसी का एक अंग था। जैसे ही मैं पार्क के निकट पहुँचा, उन चिरपरिचित वृक्षों के सौन्दर्य से मैं चकित रह गया। फीके पीले से लेकर गहरे रंग तक के सभी पत्ते जीवन्त होकर नृत्य कर रहे थे। प्रत्येक पत्ता अलग दिखाई देता था और सम्पूर्ण पृथिवी का ऐश्वर्य एक-एक पत्ते में समाया जा रहा था। मेरी हृदय गति तीव्र होने का मुझे भान हुआ; वैसे मेरा हृदय बहुत स्वस्थ है, परन्तु पार्क में प्रवेश करते-करते श्वास

लेना भी मेरे लिए कठिन लगा और मैंने सोचा कि मैं मूर्च्छित हो रहा हूँ। एक बेंच पर मैं बैठ गया और मेरे गालों पर अश्रुधारा बहने लगी। वहाँ की निस्तब्ध शान्ति असह्य थी, परन्तु उस शान्ति से प्रत्येक वस्तु का दुःख-दर्द जैसे धुलता जा रहा था। पार्क की गहनता में जैसे ही मैं बढ़ता गया, वातावरण संगीतमय होता गया। मुझे आश्चर्य हुआ, कारण निकट न कोई घर था और न उस प्रभात की वेला में पार्क में कोई रेडियो हो सकता था। वह संगीत समूचे अस्तित्व का एक अविभाज्य अंग था, एक आविष्कार था। विश्व की सम्पूर्ण कल्याणमयता, अखिल करुणा उस पार्क में केन्द्रीभूत हो गयी थी, और प्रत्यक्ष भगवत् अवतरण वहाँ हुआ था।

"मैं न तो धर्मशास्त्री हूँ, न मैं बहुत धार्मिक व्यक्ति हूँ," उसने आगे कहा, "मैंने गिरजाघर में दस-बारह बार प्रवेश किया होगा, परन्तु मेरे लिए कभी इसका कोई भी महत्त्व नहीं रहा। गिरजाघरों में जिस तरह की अर्थहीन बातें होती हैं, उन्हें मैं पचा नहीं सकता। परन्तु उस पार्क में एक ऐसा परम-अस्तित्व था—यदि ऐसे शब्द का उपयोग मैं कर सकता हूँ तो—जिसमें अखिल विश्व के कण-कण का जीवन और प्राण निहित थे। मेरे पैर काँप रहे थे और एक वृक्ष को टेककर मुझे बलपूर्वक पुनः नीचे बैठना पड़ा। मेरे समान ही वृक्ष का तना जीवंत था, और मैं उस वृक्ष का एक अवयव था, उस महान् अस्तित्व का, सारे विश्व का अविभाज्य अंग था। मुझे मूर्च्छा आयी होगी। यह सब मेरी सहनशीलता से परे था; वहाँ के स्पष्ट, जीवंत रंग, वे पत्ते, पत्थर, फूल, प्रत्येक वस्तु का अकल्पनीय सौन्दर्य और इन सबसे अधिक था वह मंगलमय आशीर्वाद······।

"उस मूर्च्छा से मैं जागृत हुआ, तब सूर्य काफी ऊपर चढ़ आया था। सदैव उस पार्क तक आने के लिए मुझे लगभग बीस मिनट लगते हैं, परन्तु घर छोड़ने के बाद अभी दो घण्टे होने आये थे। पैदल चलकर घर वापस जाने की शक्ति मुझमें नहीं थी, इसलिए शक्ति आने तक मैं वहाँ, कुछ भी न सोचते हुए, बैठा रहा। और जैसे ही मैं धीरे-धीरे घर वापस चलता गया, वह सारी अनुभूति मुझमें समायी रही। वह मेरे साथ दो दिन रही और जैसी ही वह आयी थी, वैसी अकस्मात् विलुप्त भी हो गयी। तब से मेरी असह्य पीड़ा शुरू हुई। एक सप्ताह तक मैं अपने दफ्तर के पास तक नहीं गया। वह विलक्षण जीवंत अनुभव मुझे पुनः चाहिए था, उस उदात्त, आनन्दमय विश्व में मैं फिर से और सदा के लिए रहूँ, ऐसी मेरी अभिलाषा थी। इस घटना को दो साल हो चुके हैं। मैंने गम्भीरतापूर्वक सोचा था कि सब कुछ त्याग कर संसार के किसी एकान्त कोने में दूर चला जाऊँ, परन्तु मेरा अन्तःकरण जानता है कि इस तरह वह अनुभूति लौटकर आ नहीं सकती। कोई मठ या मोमबत्ती से प्रकाशित कोई गिरिजाघर उस अनुभव का उपहार मुझे दे नहीं सकता, ये मठ-मंदिर तो केवल मृत्यु और अन्धकार से ही

व्यवहार रखते हैं। भारत जाने का विचार भी मेरे मन में आया, परन्तु उसे भी मैंने एक ओर रख दिया। उसके बाद मैंने किसी नशीली औषधि का प्रयोग भी किया; उससे सभी चीजें अधिक स्पष्ट हो गयीं। यह क्रम चलता रहा। परन्तु मुझे कोई नशा नहीं चाहिए। अनुभव लेने का वह एक सस्ता मार्ग है, वह तो एक युक्तिमात्र है, कोई सच्ची वस्तु नही।''

अपने निवेदन की समाप्ति करते हुए उसने कहा, ''अब मैं आपके पास आया हूँ। मैं सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार हूँ, उस अद्‌भुत विश्व में पुनः रहने के लिए मैं अपना सारा ऐश्वर्य, पूरा जीवन त्यागने को प्रस्तुत हूँ। मुझे क्या करना चाहिए, बताइये ?''

महाशय, आवाहन किये बिना ही वह अनुभूति आपके पास आयी। आपने कभी उसकी तलाश नहीं की। जब तक आप उसका पीछा करते रहेंगे, उसे कभी आप प्राप्त नहीं कर पायेंगे। उस आनन्द विभोर अवस्था में फिर से जीने की इच्छा ही नवीन, ताजे आनन्दानुभव को अवरुद्ध करती है। क्या घटित हुआ है, आप स्पष्टरूप से देख लीजिये : आपने एक बार उस अनुभूति को पा लिया और अब बीते कल की मृत-स्मृति के साथ आप जी रहे हैं। जो बीत गया, वह नये के प्रकटन में बाधा डाल रहा है।

''आपके कहने का अर्थ क्या यही है कि जो प्रसंग घटित हुआ, उसे पूर्णरूप से भुला दूँ और किनारे रखूँ ? और प्रतिदिन हृदय में तरसते हुए अपना क्षुद्र जीवन बिताता चलूँ ?''

यदि आप पीछे मुड़कर देखते हुए अधिक की माँग नहीं करेंगे—जो अपने में बहुत कठिन काम है—तो शायद जिस महान् अस्तित्व पर आपका कोई नियंत्रण नहीं है, वही स्वयं प्रकट होगा। उदात्त वस्तु का भी लोभ दुःखदायी ही होता है; अधिक की आशा से जगी हुई लोभ की प्रेरणा काल का द्वार खोलती है। किसी भी नशीली दवा से, किसी सद्‌गुण से अथवा कितने ही बड़े त्याग का मोल चुकाकर भी वह आनंदानुभूति खरीदी नहीं जा सकती। वह कोई परिणाम या पुरस्कार नहीं है। वह अपनी मर्जी से आती है, उसकी खोज नहीं कीजिये।

''परन्तु क्या वह सत्यानुभूति थी ? क्या वही परम अनुभूति थी ?''

हम चाहते हैं कि कोई दूसरा अनुमोदन करे, जिससे अपने अनुभव के विषय में हम निश्चिन्त हो जायँ, और इस तरह हम उसमें आश्रय प्राप्त करें। अतीत की अनुभूति में—भले वह सत्य क्यों न हो—सुरक्षित या निश्चिन्त हो जाना—इसी का अर्थ है मिथ्या को प्रबल बनाकर भ्रम को जन्म देना। सुखद या दुःखद अतीत को वर्तमान में पुनर्जीवित करने से सत्य का मार्ग कुंठित होता है। सत्य में सातत्य नहीं है। वह क्षण-क्षण में है, कालातीत, मापरहित है।

३७. जनकल्याणकांक्षी राजनीतिज्ञ

रातभर वर्षा होती रही और उससे सुगंधित हो उठी धरित्री अभी गीली थी। नदी के किनारे का मार्ग पुरातन वृक्षों और अमराइओं में से होता हुआ दूर जाता था। हजारों तीर्थयात्री इसी मार्ग पर चलते आये हैं, क्योंकि दो हजार वर्षों से ऐसी परम्परा चलती रही है कि सभी श्रद्धावान तीर्थयात्रियों को इस मार्ग से जाना ही चाहिए। परन्तु यह समय तीर्थयात्रा का नहीं था और आज प्रातःकाल में केवल देहाती लोग ही उस पर चल रहे थे। रंगबिरंगी पोषाक में, घास, सब्जी और इंधन के बोझ सिर पर लेकर सूर्य को पीठ दिये वे जब चल रहे थे, तो वह दृश्य बड़ा सुन्दर लग रहा था। उनका गौरवपूर्ण शान के साथ चलना कितना आकर्षक था, चलते-चलते देहाती विषयों की बात करते, हँसते हुए वे जा रहे थे। मार्ग के दोनों ओर, जहाँ तक दृष्टि पहुँच सकती थी, सर्वत्र शीतकालीन गेहूँ के हरे-भरे खेत फैले हुए थे, बीच-बीच में बाजार के लिए तैयार की हुई अन्य सब्जियाँ और मटर बढ़ रहे थे। वह प्रभात बहुत प्यारा था,। ऊपर स्वच्छ, नीला आकाश विराजमान था और सारे प्रदेश पर, आशीर्वाद बरस रहा था। सम्पूर्ण धरित्री चैतन्यमय, समृद्ध ऐश्वर्यमयी और पवित्र थी। यह पवित्रता मानवनिर्मित मंदिरों की, पुजारियों की या पुस्तकों की नहीं थी; वसुंधरा का वह लावण्य सम्पूर्ण शांति और परिपूर्ण नीरवता का उत्कट आविष्कार था। मानव उसमें सुस्नात हो गया, वहाँ के वृक्ष, हरे तृणांकुर, पुष्ट वृषभ—सभी उस सौन्दर्य से एकरूप थे; धूल में खेलनेवाले बालकों को उसका अबोध प्रत्यय था। वह कोई क्षणिक वस्तु नहीं थी; उसका न कोई आदि था, न अन्त।

वे एक राजनीतिज्ञ थे और उन्हें जन कल्याण की आकांक्षा थी। उन्होंने कहा कि उन्हें लगता था कि वे अन्य राजनीतिज्ञों के जैसे नहीं थे, कारण उन्हें लोगों का कल्याण, उनकी आवश्यकताएँ, उनका आरोग्य, सर्वांगीण वृद्धि—इन सभी की हृदय से चिन्ता रहती थी। अर्थात् उन्हें महत्त्वाकांक्षा थी ही, परन्तु वह किसे नहीं होती? महत्त्वाकांक्षा के कारण वे अधिक कार्यशील थे और उसके बिना वे आलसी बनेंगे और फिर सर्व साधारण का अधिक भला नहीं कर पायेंगे। मंत्रिमंडल के सदस्य बनने की उनकी इच्छा थी और उस लक्ष्य की ओर वे बढ़ रहे थे। जब वे वहाँ पहुँच जायेंगे, तब जनहित की उनकी कल्पना चरितार्थ होगी। विश्व के अनेक देशों का उन्होंने प्रवास किया था और विभिन्न सरकारों की योजनाओं का अध्ययन

किया था। तब पूर्ण विचार करके अपने देश के वास्तविक विकास की उन्होंने एक योजना बनायी थी।

"परन्तु अब उस योजना को मैं धरातल पर ला सकूँगा या नहीं, मुझे मालूम नहीं, "स्पष्ट वेदना के साथ उन्होंने कहा। "देखिये, कुछ दिनों से मेरा स्वास्थ्य भी ठीक नहीं है। डाक्टरों का कहना है कि अब मुझे सारे काम सहज, आराम से करने चाहिए, शायद मुझे बहुत गम्भीर शस्त्रक्रिया करानी पड़ेगी; परन्तु इस बात का स्वीकार मैं कर ही नहीं सकता।"

क्या मैं पूछ सकता हूँ, सहज रूप से काम करने की बात को स्वीकार करना किस कारण से आपको असंभव लग रहा है ?

"मैं जो चाहता हूँ, वह कर नहीं पाऊँगा और जीवनभर अपंग बनकर मुझे रहना पड़ेगा—इस बात की कल्पना तक मैं मान्य नहीं कर सकता। शाब्दिक रूप से ही क्यों न हो, मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि जिस गति से मैं अब तक कार्य करता आया हूँ, उसी तरह आगे भी अनिश्चित काल तक मैं कर नहीं सकूँगा। परन्तु यदि एक बार मैं बिस्तर पर पड़ा तो मेरी योजना कभी भी कार्यान्वित नहीं होगी। स्वाभाविक ही राजनीति के क्षेत्र में दूसरे महत्त्वाकांक्षी लोग भी हैं और यहाँ तो, जिसकी शक्ति उसकी सत्ता, यही कानून चलता है। आपकी अनेक सभाओं में मैं उपस्थित रहा हूँ, इसलिए मैंने सोचा कि आपके पास आकर इन बातों की चर्चा करूँ।"

महाशय, आपकी समस्या क्या विफलता की, निराशा की है ? ऐसी सम्भावना है कि आपको लम्बे समय तक रुग्णावस्था में रहना पड़ेगा, फिर समाज में आपकी उपयुक्तता तथा लोकमान्यता भी कम होने की सम्भावना है, और आपको लगता है कि इस अनिवार्य परिस्थिति को आप स्वीकार नहीं कर सकते; कारण आपकी योजनाओं की परिपूर्ति नहीं होगी तो आपका जीवन एकदम शुष्क अर्थशून्य हो जायेगा; यही बात है न ?

"जैसा मैंने कहा, किसी भी अन्य मनुष्य के समान मैं भी महत्त्वाकांक्षी हूँ, परन्तु जनकल्याण की कामना भी मुझमें है। दूसरी ओर से देखें, तो मैं सचमुच बहुत बीमार हूँ, लेकिन इसे मैं मान्य ही नहीं कर सकता, इसलिए मेरे चित्त में एक तीव्र संघर्ष चल रहा है, और इस संघर्ष के कारण मेरी बीमारी बढ़ जायेगी, यह मैं जानता हूँ। साथ ही साथ एक दूसरा भय भी मुझे सता रहा है, जो मेरे परिवार के लिए नहीं, क्योंकि परिवार की देखभाल अच्छी तरह से हो जायेगी; परन्तु वह ऐसा भय है जिसे अपने लिए भी शब्दों में व्यक्त करना मेरे लिए सम्भव नहीं हुआ है।"

आप का तात्पर्य क्या मृत्यु-भय से है ?

"जी हाँ, मुझे लगता है कि यह मृत्यु का भय ही है; या शायद मैं जो कार्य करनेवाला था उसे पूर्ण किये बिना ही कालवश होने का यह भय होगा। शायद मेरे जीवन में यही सबसे बड़ा भय होगा; इसे कैसे शान्त करूँ यह मुझे मालूम नहीं।

क्या इस बीमारी से आपका सारा राजनीति=क कार्य समाप्त हो जायेगा ?

"आप जानते हैं यह राजनीति का मामला कैसा होता है। यदि परिस्थिति के केन्द्र में मैं न रहूँ तो मुझे भुला दिया जायेगा और मेरी योजनाओं का कोई मूल्य नहीं रहेगा। इसका वास्तविक अर्थ यही होगा कि मैं राजनीति से निवृत्त हो गया, और यह मैं बिलकुल नहीं चाहूँगा।"

तब, एक तो, आपको निवृत्त होना ही है, इस तथ्य को स्वेच्छापूर्वक और सहजता से स्वीकारना होगा, अथवा उतनी ही प्रसन्नता से, बीमारी का गम्भीर स्वरूप जानते हुए, राजनीतिक कार्य आपको करते रहना होगा। किसी भी दृष्टि से देखें, तो आपका रोग आपकी महत्त्वाकांक्षाओं का मार्ग रोकनेवाला है। जीवन अत्यन्त विचित्र है, है न ? मेरा सुझाव है कि अनिवार्य का स्वीकार बिना कटुता के हम क्यों न करें ? यदि दोषदृष्टि या कटुता होगी, तो आपका मन बीमारी को अधिक गम्भीर बना देगा।

"इसका मुझे पूर्ण भान है, फिर भी मेरी शारीरिक अवस्था का स्वीकार आप सुझाते हैं वैसी, प्रसन्नता से तो कदापि नहीं कर सकता। शायद अत्यन्त अल्प मात्रा में अपना राजनीतिक कार्य मैं चला सकूँगा, परन्तु वह पर्याप्त नहीं है ?"

क्या आपको ऐसा लगता है, कि जनकल्याण की आपकी महत्त्वाकांक्षा पूर्ण करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग आपके लिए नहीं है, और केवल आपके और आपकी योजनाओं के द्वारा ही आपके देश का रक्षण होगा ? सभी तथाकथित कल्याण कार्य के केन्द्र स्थान में आप हैं, हैं न ? वास्तव में जनकल्याण से आप चिन्तित नहीं हैं, आपको चिन्ता है आपके द्वारा चलाये गये कल्याण कार्य की। महत्त्व है 'आप' का, जनकल्याण का नहीं। आप अपनी योजनाओं के और तथाकथित जनकल्याण के साथ इतने एकरूप हुए हैं, कि अपनी इच्छापूर्ति को ही आप जनता का सुख मान रहे हैं। आपकी योजनाएँ शायद उत्कृष्ट होंगी, और किसी सुखद संयोग से उनके द्वारा जनता का भला भी हो सकता है; परन्तु आप चाहते हैं कि उस भलाई के साथ आपका नाम जुड़ा रहे। जीवन विचित्र है, आप रोगग्रस्त हुए हैं और आपका नाम तथा आपका महत्त्व ख्याति प्राप्त नहीं कर सकेंगे। इसी बात ने आप में संघर्ष उत्पन्न किया है; वस्तुतः आप लोक-सहायक बन नहीं सकते, इस चिन्तासे थोड़े ही

संघर्ष में पड़े हैं ? केवल शाब्दिक सेवा में आप रममाण नहीं होंगे और आपको सचमुच लोगों से प्रेम है, तो उस प्रेम के स्वत:स्फूर्त परिणाम के कारण ही बहुत बड़ी सहायता अपने-आप होगी; परन्तु आपका लोगों पर प्रेम कहाँ है ? वे लोग आपकी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के और मिथ्याभिमान की संतुष्टि के केवल साधन हैं। जन-कल्याण का कार्य केवल आपका गौरव बढ़ाने का एक मार्ग है। मुझे आशा है कि मैंने यह जो सब स्पष्टता से कहा है, इसमें आपको कोई आपत्ति नहीं होगी।

"मुझे सचमुच प्रसन्नता है कि जो बातें मेरे हृदय की गहराई में छिपी पड़ी थीं, उन्हें आपने खोलकर व्यक्त किया, और इससे मेरा हित ही हुआ है। यह सब मुझे महसूस होता आया है, परन्तु इसका सीधा सामना करने का अवसर मैंने अपने-आप को कभी दिया ही नहीं। इतनी सरलता से और स्पष्टता से किया गया विवेचन सुनने से मुझे बड़ा आराम मिला है, और मुझे आशा है कि अपने संघर्ष का आकलन करके अब मैं उसका शमन कर सकूँगा। आगे चलकर परिस्थिति क्या रूप लेती है, मैं देखूँगा; परन्तु अभी से मेरी चिन्ताओं से और आशाओं से कुछ अलिप्तता तो मैं महसूस कर रहा हूँ। परन्तु मृत्यु के विषय में आप क्या कहेंगे ?"

यह समस्या अधिक जटिल है और इसे समझने के लिए गहरी अंतर्दृष्टि की आवश्यकता है, है न ? बौद्धिक समर्थन देकर आप मृत्यु का स्पष्टीकरण कर सकते हैं, सभी चीजों का अन्त होता है, वसंत ऋतु का नया हरा पत्ता शिशिर में उड़कर नष्ट हो जाता है, ऐसा कह सकते हैं। आप तर्क द्वारा मृत्यु को खोज लेंगे, अथवा संकल्पशक्ति से मृत्यु के भय को जीतने का प्रयास कर सकेंगे, या उस भय का विकल्प किसी मान्य विश्वास के द्वारा प्राप्त करेंगे; परन्तु यह सारा मन का ही पुरुषार्थ है। पुनर्जन्म की वास्तविकता से अथवा मरणोपरांत जीवन से सम्बन्धित तथाकथित अन्तर्ज्ञान केवल शाश्वत जीवन की अभिलाषा ही हो सकती है। ये सभी बौद्धिक तर्क, अन्तर्ज्ञान, स्पष्टीकरण इत्यादि मन के क्षेत्र में ही समाये हैं, हैं न ? मृत्युभय को जीतने के लिए ये सब बौद्धिक व्यायाम हैं; परन्तु मृत्यु के भय पर इतनी सहजता से विजय नहीं पायी जाती। राष्ट्र, परिवार, नाम अथवा कामना या मान्य विश्वास इनके माध्यम से अमर होने की अभिलाषा अन्ततः स्वयं अपने सातत्य को बनाये रखने की ही आकांक्षा है, है न ? यह तीव्र ललक उसके जटिल प्रतिरोध तथा आशाओं सहित, स्वेच्छा से, सहजता से और प्रसन्नता से विलीन होनी चाहिए। मनुष्य को अपनी स्मृतियाँ, अनुभव, ज्ञान और आशाओं के सन्दर्भ में प्रतिदिन मृत्यु का वरण करना होगा; अपना आनन्द, अपना पश्चात्ताप, सभी सद्गुण—इन सबका संचित संग्रह प्रत्येक क्षण-क्षण में समाप्त होना आवश्यक है। ये केवल कोरे शब्द नहीं हैं, परन्तु प्रत्यक्ष वास्तविकता का विधान है। जो सातत्यपूर्वक बना ही रहता है, उसे अथाह अज्ञात के आनन्द की अनुभूति कभी हो नहीं सकती। बिना संचय

किये, प्रतिदिन, प्रतिक्षण मृत्यु का आलिंगन करना—यही कालातीत होने का स्वरूप है। अभिप्रेत संघर्षों के साथ जब तक पूर्ति की आकांक्षा है, तब तक मृत्यु का भय सदैव बना रहेगा।

३८. स्पर्शाधारित जीवन-प्रणाली

मार्ग पर बन्दर उतर आये थे, और मार्ग के ठीक मध्य में बन्दर का एक बच्चा अपनी पूँछ से खेल रहा था, परन्तु उसकी माँ की दृष्टि उस पर बराबर रहती थी। उन सभी बन्दरों को अच्छी तरह से मालूम था कि कोई एक मनुष्य उनसे निकट, परन्तु सुरक्षित अन्तर पर उपस्थित था। प्रौढ़ नर-बन्दर मोटे-तगड़े और कुछ क्रूर भी थे, और साथ के अन्य बन्दर उन्हें टालकर, बचकर रहते थे। वे सब एक घने और विशाल वृक्ष के, रास्ते पर गिरे छोटे-छोटे फल खा रहे थे। कुछ ही समय पहले आयी वर्षा से नदी किनारे तक भर गयी थी और उस सँकरे पुल के नीचे प्रवाह कल्लोल करता बह रहा था। नदी के जल को और रास्ते पर गड्ढों में भरे जल को बन्दर टालते थे और कीचड़ उड़ाती कोई मोटर दीख जाती, तब वे सारे बन्दर और साथ ही अपने बच्चे को लेकर वह माँ भी क्षणभर में मार्ग से दूर भाग जाते। कुछ तो पेड़ पर चढ़ जाते, और अन्य सारे मार्ग के दोनों ओर नदी किनारे तक नीचे उतरते, परन्तु मोटर तीव्र गति से निकल जाते ही वे वापस लौट आते। अब वे मनुष्य की उपस्थिति से अभ्यस्त हो गये थे। मानव-मन के समान ही वे चंचल थे और सभी प्रकार के नटखट खेल उनके लिए सहज थे।

मार्ग के दोनों ओर के धान के खेत सूर्य की ऊष्मा में चमकता, समृद्ध, हरा ऐश्वर्य था। और खेतों के परे, नीची पहाड़ियों की पार्श्वभूमि पर, धीमी गति से खेतों पर उड़नेवाले पक्षी धवल वर्ण के थे। एक लम्बा, भूरे रंग का सर्प रेंगता हुआ पानी के बाहर आकर धूप सेंकता विश्राम कर रहा था। तेज नीले वर्ण का नीलकण्ठ पुल पर उड़ता हुआ आया और पुनः एक डुबकी लगाने की तैयारी कर रहा था। वह प्रभात रम्य थी, समशीतोष्ण थी, और खेतों में बीच-बीच में खड़े एकाकी तालवृक्ष कितनी ही अकथ कहानियाँ कह रहे थे। उन हरे खेतों के और नीली पहाड़ियों के बीच एक संवाद था, एक गीत ही था। समय कितनी तीव्र गति से निकलता जा रहा है, ऐसा लगा। नीचे आकाश में चीलें चक्राकार घूम रही थीं; वे कभी किसी वृक्ष की टहनी पर उतरकर पंखों को चोंच से ठीक करतीं और फिर;

एक-दूसरे को पुकारती, वर्तुलाकार उड़ती, निकल जाती थीं। शुभ्र कण्ठ के, सुनहरे-भूरे असंख्य गरुड़ पक्षी भी वहाँ थे। नवीन दुर्वांकुरों में बड़ी लाल चीटियाँ दौड़ रही थीं, वे एक-दूसरी के पीछे झटके के साथ दौड़तीं, अकस्मात् रुक जातीं और फिर विरुद्ध दिशा में निकल पड़तीं। जीवन इतना समृद्ध, वैभव सम्पन्न है—और अलक्षित भी, परन्तु शायद ये सब जीवन्त सृष्टि के छोटे-बड़े ये जीव अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए यही अलक्षितता, अनदेखापन चाहते हैं।

मार्ग पर चलती आ रही उस सुकुमार गाड़ी के तरुण बैल के गले में घुंघरू बँधे हुए थे। गाड़ी के दो बड़े चाक लोहे की बारीक सलाई से जोड़े थे और उसी सलाई पर लकड़ी का एक पटरा चढ़ाया था। गाड़ीवान इस पाटे पर बैठा था और उसे अपनी गाड़ी का और चपल गति से दौड़नेवाले बैल का बड़ा गर्व था। उस हृष्ट-पुष्ट किन्तु छरहरे बैल ने सारथी का महत्त्व बढ़ा दिया था। अब सभी उसकी ओर देखते, और मार्ग पर चलनेवाले देहाती भी। वे रुकते, प्रशंसापूर्ण आँखों से देखते, कुछ उद्गार प्रकट करते और अपने मार्ग पर चल पड़ते। कितने गर्व से तनकर सीधे आगे देखता हुआ वह आदमी बैठा था। चाहे छोटी वस्तुओं के या बड़ी उपलब्धियों के कारण क्यों न हो, गर्व मूलतः एक-सा ही होता है। मनुष्य क्या करता है और उसके पास कितना कुछ है, इसी पर उसका महत्त्व और प्रतिष्ठा निर्भर करती है; परन्तु मनुष्य अपने में, एक समग्र अस्तित्व के नाते कोई विशेष वैशिष्ट्य रखता हो, ऐसा नहीं दीखता।

वह भद्र पुरुष अपने दो मित्रों के साथ आया था। प्रत्येक को महाविद्यालय की उपाधि प्राप्त थी और अपने विभिन्न व्यवसायों में वे सब कुशल थे, ऐसा उन्होंने बताया। वे विवाहित और बाल-बच्चेवाले थे, अपने जीवन से वे संतुष्ट थे, फिर भी अस्वस्थ थे।

उसने कहा, "चर्चा चलाने के लिए मैं एक प्रश्न पूछना चाहूँगा। यह प्रश्न यों ही, अकारण नहीं पूछ रहा हूँ, कुछ दिन पहले संध्या के समय आपके प्रवचन सुनने के बाद इस प्रश्न ने मुझे बेचैन बना दिया। कई अन्य बातों के साथ आपने ऐसा भी कहा कि स्पर्धा और महत्त्वाकांक्षा विनाशक प्रेरणाएँ हैं और मनुष्य को यदि शान्त, स्वस्थ समाज में रहना है, तो इन प्रेरणाओं को समझकर उनसे मुक्त होना चाहिए। परन्तु कठिन प्रयास और संघर्ष क्या अस्तित्व के मूलस्वरूप के ही अविच्छिन्न अंग नहीं हैं?"

आज की समाज रचना महत्वाकांक्षा और संघर्ष के आधार पर खड़ी है; और लगभग सभी लोग अनिवार्य समझकर इस तथ्य का स्वीकार करते हैं। इसकी अनिवार्यता व्यक्ति पर प्रतिबन्धित हुई है; शिक्षण ने और अनेक प्रकार की अन्त-

बाह्य विवशताओं ने उसे स्पर्धाशील बनाया है। वर्तमान समाज के अनुरूप बनकर यदि व्यक्ति को जीना है तो उसे इस समाज की शर्तों को स्वीकारना होगा; अन्यथा उसे काफी कष्ट सहना पड़ता है। हमें ऐसा लगता है कि इस समाज के अनुरूप हमें बनना ही होगा; परन्तु ऐसा क्यों मानना चाहिए ?

"यदि हम इसे नहीं मानेंगे तो हम कहीं के नहीं रहेंगे।"

समस्या का समग्र महत्त्व और स्वरूप हम समझ लेंगे तो ऐसा परिणाम क्यों होना चाहिए ? समाज-मान्य रीति से न चलकर हम सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण स्वीकार करें तो भी सुखपूर्वक, सृजनशील जीवन व्यतीत कर ही सकते हैं। आज की समाज व्यवस्था अनिवार्य मानेंगे तो हम इस तरह की नयी व्यवस्था ला नहीं सकते। किन्तु अब आपके मुद्दे की तरफ पुन: आते हैं, क्या महत्त्वाकांक्षा, स्पर्धा तथा संघर्ष से बनी जीवन-प्रणाली पूर्व निश्चित और अनिवार्य है ? स्पष्ट है कि इसे स्वीकार करते हैं। अब यहीं से हम विचार प्रारम्भ करें। आप ऐसा क्यों मानते हैं कि अस्तित्व में रहने की एकमेव प्रक्रिया केवल स्पर्धा पर आधारित जीवन प्रणाली ही है ?

अपने आसपास के लोगों के समान मैं भी स्पर्धावान और महत्वाकांक्षी व्यक्ति हूँ। इस तथ्य को देखकर प्राय: मुझे प्रसन्नता ही होती है, कभी-कभी इससे मुझे वेदना भी होती है, परन्तु किसी आन्तर् संघर्ष के बिना ही मैं इसे स्वीकार करता हूँ, कारण जीने की अन्य पद्धति मुझे ज्ञात ही नहीं है; और यद्यपि ऐसी भिन्न पद्धति मैं जानता भी हूँ तो मुझे लगता है कि उसका प्रयोग करने से मैं घबराता हूँ। मुझ पर अनेक दायित्व हैं और सर्वसामान्य विचार तथा जीवन की सदैव की आदतों से यदि मैं अलग पड़ जाऊँ तो मेरे बच्चों के भविष्य के विषय में मुझे गंभीर चिन्ता होगी।"

महाशय, दूसरों का दायित्व आप पर अवश्य होगा, परन्तु शान्तिपूर्ण विश्व निर्माण करने का दायित्व भी क्या आपका नहीं है ? जब तक हम अर्थात् व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र—इस स्पर्धात्मक अस्तित्व को अनिवार्य मानकर स्वीकार करते रहेंगे, तब तक मनुष्य के लिए शाश्वत सुख और शान्ति कैसे सम्भव है ? स्पर्धा की, महत्त्वाकांक्षा की वृत्ति में अन्तर्बाह्य संघर्ष निहित है, है न ? महत्त्वाकांक्षी मनुष्य भले शान्ति और बन्धुत्व की बात कर ले, परन्तु वह शान्त कभी नहीं होता। राजनीतिज्ञ अथवा संघटित मान्यविश्वासवाला कोई भी व्यक्ति संसार में शान्ति कभी ला नहीं सकते, कारण उनके संस्कार जिस संसार के हैं, उसे चलानेवाले होते हैं—नेता, तारनहार, मार्गदर्शक और आदर्श उदाहरण जब आप किसीके अनुयायी बनते हैं, तो वस्तुत: अपनी ही महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति आप चाहते हैं, फिर यह पूर्ति ऐहिक

जीवन में हो अथवा कल्पना के--अर्थात् तथाकथित आध्यात्मिक जीवन में हो। स्पर्धा में, महत्त्वाकांक्षा में संघर्ष अभिप्रेत ही है, है न ?

"आपकी बात स्पष्ट है, परन्तु कोई करे भी तो क्या ? स्पर्धा के इस जाल में एक बार फँस जाने पर कोई किस तरह इसमें से बाहर निकले ? और यदि कोई बाहर निकल भी आये, तो मानव-मानव के बीच शान्ति स्थापित होगी ही, इसका क्या विश्वास है ? यदि हम सब एक साथ, एक समय इस वास्तविकता को न देख सकें, तो एक-दो व्यक्ति इस तथ्य का दर्शन कर भी लेंगे तो कोई लाभ होनेवाला नहीं है।"

संघर्ष, कामनापूर्ति और विफलता के इस जाल से कैसे निकलें, यह आप जानना चाहते हैं। आपका यह "कैसे ?" का प्रश्न यही प्रकट करता है कि आपका प्रयास व्यर्थ नहीं जायेगा, इसका आश्वासन आप चाहते हैं। भिन्न स्तर पर ही सही, किन्तु अभी भी आप सफलता चाहते हैं। आप इस तथ्य को नहीं देखते हैं कि सभी प्रकार की महत्त्वकांक्षा, किसी भी दिशा में सफलता की आकांक्षा, आन्तर्बाह्य संघर्ष को ही जन्म देती है। "कैसे ?" का मार्ग महत्त्वाकांक्षा और संघर्ष का ही है, और इसी प्रश्न के कारण समस्या का स्वरूप समझने में रुकावट आती है। अधिक सफलता की ओर ले जानेवाली सीढ़ी का नाम है—"कैसे ?" परन्तु अभी हम यश या अपयश की दृष्टि से विचार नहीं कर रहे हैं, हम सोच रहें हैं संघर्ष को समाप्त करने की दृष्टि से; और क्या यह निश्चित है कि संघर्ष के बिना निष्क्रियता अनिवार्य है ? यह स्पष्ट है कि शान्ति कभी सुरक्षा उपाय, दण्डविधान और आश्वासनों के कारण नहीं आती है, वह आती है जब 'आप' नहीं होते—'आप' अर्थात् जो अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के और विफलताओं के सहित संघर्ष के समर्थक बने हुए हैं।

देखिये, आपका जो दूसरा मुद्दा है कि समस्या का सत्य स्वरूप एक ही समय सभी को देखना होगा, यह तो असम्भव बात है। परन्तु आप इस तथ्य को देखें, यह संभव है; और जब आप देखें, तब आपके देखे हुए सत्य ने आपके लिए मुक्ति का द्वार खोल ही दिया, साथ-साथ वह दूसरों पर भी प्रभाव डालता है। उसका प्रारम्भ आप से होना चाहिए, कारण, संसार जैसे अन्य व्यक्तियों का बनाया है, वैसे आपका भी बनाया है, आप स्वयं ही संसार हैं।

महत्त्वाकांक्षा के कारण हार्दिक तथा मानसिक अतिसामान्यता निर्माण होती है; महत्त्वाकांक्षा छिछली, सतही होती है, कारण वह सदैव परिणामापेक्षी रहती है। जो व्यक्ति एक संत, एक यशस्वी राजनीतिज्ञ अथवा बड़ा कार्यकारी अधिकारी बनना चाहता है, उसे वैयक्तिक उपलब्धि की चिन्ता है। किसी आदर्श के साथ एकरूपता हो या राष्ट्र के साथ, अथवा किसी धार्मिक, आर्थिक प्रणाली के साथ एकरूपता हो, किसी भी रूप में यशस्वी होने की प्रेरणा सदैव 'अहम्' को प्रबल बनाती है, और इस

अहम् की रचना कम टिकाऊ, उथली और संकुचित होती है। यदि हम गहराई से देखते हैं, तो यह बात स्पष्ट दीख पड़ती है, पड़ती है न ?

श्रीमान् यह बात आपके लिए स्पष्ट होगी, परन्तु हममें से अधिकांश लोगों के लिए संघर्ष ही हमारे अस्तित्व का भान हमें कराता है। वह एक ऐसा भाव हममें जगाता है जो जीवन्तता की निशानी है। महत्त्वाकांक्षा और स्पर्धा के बिना हमारा जीवन नीरस और व्यर्थ हो जायेगा।"

स्पर्धा के आधार पर जिस जीवन-प्रणाली का समर्थन आप करते हैं, उससे आपकी सन्तान, और आपकी सन्तानों की सन्तान भी शत्रुत्व, द्वेष और युद्ध को सर्वदा बढ़ाती रहेगी। न आप न कभी वे शान्ति प्राप्त कर सकेंगे। परम्परा से चलती आयी इस जीवन-पद्धति से आप स्वयं संस्कारित हुए हैं और आप अपने बच्चों को इसीकी स्वीकृति के लिए शिक्षण दे रहे हैं; इसी तरह संसार इस दुःखमय पथ पर चलता रहेगा।

"हम चाहते हैं कि परिवर्तन हो, परन्तु…" अपने बोलने की व्यर्थता स्वयं उन्हींके ध्यान में आयी और उन्होंने बोलना बन्द किया।

३९. ध्यान-प्रयत्न-चेतना

घाटी के पूर्व में पहाड़ों के परे सागर का विस्तार था और घाटी के मध्य से मंद गति से घुमाव लेती नदी सागर से मिलती थी। वर्ष की सभी ऋतुओं में नदी में भरपूर जल रहता था और बहुत बड़े शहर के निकट से बहती हुई भी वह सुन्दर थी। शहर के लोग उस नदी का सभी प्रकार से उपयोग करते थे—मच्छीमारी, स्नान, पानी पीने के लिए तो वह उपयुक्त थी ही, साथ नाली के गन्दे पानी तथा कारखानों के कचरे का विनियोग भी उसी में होता था। मनुष्य की गन्दगी नदी फेंक देती थी और मानव बस्ती के छोड़ते ही उसका जल पुनः निर्मल-नीला हो जाता था।

नदी के किनारे से जानेवाली चौड़ी राह पश्चिम की ओर मुड़कर पहाड़ों के चाय के बगीचों की ओर चढ़ती थी। वह कभी नदी को दृष्टि से ओझल करती, परन्तु अधिकतर उसे दृष्टि में रखती, अन्दर-बाहर घुमाव लेती हुई आगे बढ़ती थी। जैसे-जैसे राह नदी का अनुगमन करती हुई ऊपर चढ़ती जाती, वैसे-वैसे बगीचों का विस्तार होता जाता था, और कहीं-कहीं चाय सुखाने और उसे उपयोगी बनाने के कारखाने भी दिखाई देते। कुछ ही समय में चाय बागान अधिक विस्तृत होते गये

और प्रपातों के कारण नदी का कल्लोल बढ़ता गया। प्रातःकाल में चमकते रंगों के कपड़े पहने हुई स्त्रियाँ उन बगीचों में काम कर रही थीं; उनके तन झुके हुए थे, त्वचा कड़ी धूप सहकर काली पड़ गयी थी और वे चाय के पत्तों को चुन रही थीं। प्रातःकाल में सूर्य ऊपर चढ़ने से पहले, विशिष्ट समय में ही चाय की पत्तियाँ निकट के कारखानों में पहुँचाना आवश्यक था। उस ऊँचाई पर सूर्य की किरणें तेज चुभानेवाली, दुःखद थीं और यद्यपि उन स्त्रियों को कड़ी धूप की आदत थी, फिर भी उनमें से कुछ स्त्रियों ने अपने पहने हुए वस्त्र के एक छोर से अपना सिर ढँक लिया था। अपना काम वे हँसते खेलते, तीव्र गति से और कुशलतापूर्वक कर रही थीं, और थोड़े ही समय में अपना दिनभर का काम वे पूरा करनेवाली थीं। परन्तु उनमें से अधिकतर स्त्रियाँ पत्नियाँ और माताएँ थीं और इस काम के उपरान्त उन्हें रसोई बनानी थी और बच्चों की देखभाल भी करनी थी। उनका एक यूनियन था, और चाय बगानवाले उनके साथ सभ्य व्यवहार करते थे, क्योंकि हड़ताल से खतरनाक परिस्थिति निर्माण हो सकती थी और नाजुक पत्तों को भरपूर बढ़ने देने से बड़ी हानि हो जाती।

सड़क सतत ऊपर ही ऊपर चढ़ती रही और हवा बहुत ठंडी हो गयी। आठ हजार फुट ऊँचाई पर अब चाय के बागान नहीं थे, परन्तु किसान खेतों में काम कर रहे थे और सागर तट के शहरों में भेजने के लिए अनेक प्रकार के फल-सब्जियाँ उगा रहे थे। उस ऊँचाई से मैदानों का तथा जंगलों का दृश्य कितना भव्य, शानदार दिखता था, परन्तु उस रुपहली नदी का प्रभाव ही सबसे अधिक दृष्टि को आकर्षित करता था। दूसरे मार्ग से वापस चलने पर सड़क हरे, चमकते धान के खेतों में से और गहरे वनों में से घुमाव लेती हुई निकलती थी। अनेक ताल तथा आम्र वृक्ष इस मार्ग पर खड़े दीखते और फूल तो सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होते थे। लोग प्रसन्न, उत्साही थे और मार्ग के दोनों ओर अलंकारों से लेकर ताजे, रसीले फलों तक अनेक वस्तुओं को सजाकर रख रहे थे। वे सब आलसी और आरामतलब लोग दीखते थे और उनके पास खाने-पीने की कमी नहीं लग रही थी, परन्तु नीचे मैदानों में जीवन कष्टमय, अभावग्रस्त और भीड़ से त्रस्त था।

वे एक संन्यासी, साधु थे, परन्तु किसी विशिष्ट पंथ के नहीं थे। अपने संबंध में वे तृतीय पुरुष में बोल रहे थे। तारुण्य में ही संसार का और सांसारिक मोह-माया का त्याग करके उन्होंने देशभर की यात्रा की थी। संचार करते-करते, कहीं प्रसिद्ध धार्मिक आचार्यों के पास रहते हुए, उनसे चर्चा की थी और उनके मार्गदर्शन में विधि-निषेधों का, यम-नियमों का पालन किया था; अनेक दिनों तक उपवास किये थे, पर्वतों में एकान्तवास में वे रहे थे, और संन्यासी जीवन के कठोर विधियों का आचरण किया था। कठिन तपस्या के आचरण से उनके शरीर के स्वास्थ्य पर

विपरीत परिणाम हुआ था, और यद्यपि यह बात बहुत पुरानी थी, अभी भी उनके शरीर को कष्ट होता था। तब एक दिन उन्होंने ये सारे कर्मकाण्ड, अभ्यास और नियम व्यर्थ और अधिक महत्त्व के न समझकर छोड़ दिये और कहीं दूर पहाड़ में स्थित एक देहात में वे रहने चले गये। उसी स्थान पर गहरे चिन्तन में अनेक वर्ष उन्होंने बिताये। फिर मुस्कुराकर उन्होंने बताया कि अन्ततः जो होता आया, वही हुआ, और वे एक सुप्रसिद्ध संत पुरुष माने जाने लगे। तब अनेक शिष्य—अनुयायियों के समुदाय को वे सरल साधना सिखाते रहे। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन उन्होंने किया था, परन्तु अब उसे भी एक ओर रख दिया। उन्होंने स्पष्ट किया कि अपने जीवन का अल्प परिचय देना आवश्यक था, अतः वे यह सब कह गये, परन्तु यह सब बताने के लिए वे आये नहीं थे।

"सद्गुण, त्याग और अनासक्त उपकार इन्हें ही मुख्यरूप से ध्यान कहना होगा," आगे उन्होंने बताया। "ध्यानविहीन ज्ञान तथा कर्म केवल थकानेवाला बोझ ही है, उसका कोई मूल्य नहीं होता; परन्तु ध्यान का मर्म जाननेवाले व्यक्ति कम ही होते हैं। आपकी अनुकूलता हो तो हम इस पर चर्चा करेंगे। इस वक्ता का यह अनुभव है कि ध्यान में चेतना की विविध अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं; सभी साधकों को जिन अनुभूतियों में से कभी न कभी जाना होता है, जिनमें कृष्ण, ईसा, बुद्ध—आदि का साक्षात्कार होता है। वे सारी अनुभूतियाँ इस वक्ता को हुई हैं। अपने विचार, शिक्षण तथा संस्कृति के परिणामस्वरूप ये अनुभूतियाँ आती हैं। साक्षात्कार, अनुभूतियाँ और शक्तियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। दुर्भाग्यवश बहुत से साधक स्वयं के विचार और आकांक्षाओं के जाल में अटक जाते हैं, और सत्य के कुछ महान् प्रतिपादक भी इससे मुक्त नहीं रह पाते। रोगमुक्त करने की शक्ति और अभिव्यक्ति का वरदान होने से वे अपनी क्षमताओं और अनुभूतियों के कैदी बनते हैं। स्वयं यह वक्ता इन अनुभूतियों में से तथा खतरों में से गुजर चुका है, और अपनी शक्तिभर इसने इनका आकलन किया है और इनसे परे वह निकल गया है—कम से कम हम ऐसी आशा तो करें। अब कहिये, ध्यान किसे कहेंगे?"

निश्चय ही ध्यान का विचार करते समय प्रयत्न और प्रयत्नकर्ता का आकलन होना आवश्यक है। उचित प्रयास एक दिशा में ले जाता है, और अनुचित दूसरी दिशा में, परन्तु हैं तो दोनों ही बंधनकारी, हैं न?

"ऐसा कहते हैं कि आपने उपनिषद् या अन्य कोई पवित्र ग्रंथ पढ़े नहीं हैं, परन्तु आपको सुनने पर ऐसा लगता है कि आपने पढ़ा और समझा है।"

यह सत्य है कि ऐसे कोई ग्रंथ मैंने पढ़े नहीं हैं, परन्तु यह बात महत्त्व की नहीं है। योग्य प्रयत्न और अयोग्य प्रयत्न—दोनों ही बंधक हैं, और इनके बंधन का

आकलन करके उसे तोड़ देना ही होगा। सभी बंधनों को तोड़ देने का नाम है ध्यान; वह विमुक्तता की अवस्था है, परन्तु किसी विशिष्ट बंधन से मुक्ति, ऐसा उसका अर्थ नहीं। किसी से मुक्त होना अर्थात् केवल प्रतिरोध को बढ़ाना है। मुक्ति का भान हुआ तो वह मुक्ति है ही नहीं। हमारी चेतना का या अवभान का स्वरूप है मुक्ति का या बंधन का अनुभव, और यह अनुभव ही अनुभवकर्ता, या प्रयासकर्ता है। इस अनुभवकर्ता की भूमिका टूट जाना, यही ध्यान है, परन्तु इसे अवभानपूर्वक तोड़ना संभव नहीं है। यदि अनुभविता को जानबूझकर तोड़ेंगे तो संकल्पशक्ति प्रबल होती है; और यह संकल्पशक्ति अवभान का ही अंग है। तब हमारी समस्या का संबंध चेतनता की, अवभान की समग्र प्रक्रिया के साथ है, न कि केवल उसके छोटे या बड़े, प्रबल या दुर्बल, ऐसे किसी अंग-उपांग के साथ।

"आपकी बात सत्य है ऐसा लगता है। अवभान के तरीके गूढ़, भ्रामक और आन्तर्विरोधी होते हैं। केवल अनासक्त निरीक्षण तथा जागृत अध्ययन के द्वारा ही यह उलझन सुलझायी जा सकती है और व्यवस्था लायी जा सकती है।"

परन्तु उलझन सुलझानेवाला तो वहाँ उपस्थित रहता ही है; उसे कोई श्रेष्ठ अहम्, आत्मन् इत्यादि भले कह दें, परन्तु है तो वह अभी भी अवभान का ही अंग, जो प्रयत्नशील है, और जो सदैव कहीं न कहीं पहुँचने की चिन्ता में रहता है। प्रयत्न है इच्छा। एक इच्छा को उससे बड़ी इच्छा से जीता जा सकता है और इसे दूसरी से जीता जा सकता है—इस तरह इच्छा की अन्तहीन शृंखला बन जाती है। इच्छा से भ्रम, मायाजाल, आन्तर्विरोध और आशास्वप्न जन्म लेते ही रहते हैं। अन्य सभी इच्छा-आकांक्षाओं पर विजय प्राप्त करनेवाली अन्तिम लक्ष्य की इच्छा, अथवा नामातीत सत्य तक पहुँचने का संकल्प—ये भी चेतना के ही स्वरूप हैं; और यही चेतना अच्छे-बुरे की अनुभाविता है जो मार्ग देखती है, अवलोकन करती है और आशा-अपेक्षा की वृत्ति रखती है। चेतना केवल एक विशिष्ट स्तर की नहीं होती, वह हमारे पूर्ण अस्तित्व का समग्र संकलन है।

"अब तक जो श्रवण किया गया वह सब उत्कृष्ट और सत्य है; परन्तु मैं पूछना चाहूँगा कि, इस चेतना को शान्ति और निस्तब्धता प्राप्त करा दे, ऐसे किसी साधन का स्वरूप क्या होगा?"

ऐसा कोई साधन है ही नहीं। स्पष्ट बात कहें तो, मन नित्य किसी परिणाम की, उपलब्धि की खोज में रहता है। अनेक घटकों को एकत्र करके यह मन नाम का करण, साधन बनाया गया है; वह है काल का बुना वस्त्र, और उसका चिन्तन केवल परिणाम, उपलब्धि प्राप्तव्य-अप्राप्तव्य इत्यादि की दृष्टि से ही हो सकता है।

"ठीक ऐसा ही है। ऐसा कहा जाता है कि जब तक मन क्रियाशील, चयनमान प्राप्तव्यलक्षी अनुभविता रहता है, तब तक अपनी ही प्रतिमा निर्माण करके उसे

भिन्न-भिन्न नाम देनेवाला प्रयत्नकर्ता रहेगा ही; और इसी जाल में विचार उलझ जाता है।

विचार स्वयं ही जाल का रचयिता है; विचार स्वतः यह जाल है। विचार है बंधनकारी; विचार की गति केवल काल के विस्तार में ही ले जाती है, और इस कालक्षेत्र में ज्ञान, कर्म, सद्गुण—इन्हीं का मूल्य है। विचार प्रक्रिया कितनी ही सरल या परिष्कृत क्यों न हो, फिर भी वह विचार की सम्यक् शृंखला का विनाश नहीं कर सकती। अनुभविता, निरीक्षक, चयनकर्ता, परीक्षक, संकल्प—इन सभी रूपों में जो चेतना आविष्कृत होती है, उसका विलोप स्वेच्छया, सुखपूर्वक किसी प्राप्ति की आशा न रखते हुए सहजता से होना चाहिए। लक्ष्यवेध करनेवाली यह चेतना विलीन होती है; तब जो है, उसी को ध्यान कहेंगे। संकल्पात्मक क्रिया से मनःशान्ति नहीं लायी जा सकती। संकल्प का समापन होते ही नीरव शान्ति उपस्थित रहती है। यह है ध्यान। सत्य का पीछा नहीं किया जा सकता; जब पीछा करनेवाला नहीं रहता, तभी सत्य प्रकट होता है। मन है कालात्मक, और कालस्वरूप विचार कभी असीम का, अनन्त का, उद्घाटन कर नहीं सकता।

४०· मनोविश्लेषण और मानवीय समस्या

पक्षीगण और भेड़ बकरियाँ कहीं अन्य स्थान पर चले गये थे और समृद्ध हरे भरे खेतों के मध्य एकाकी खड़े उस विशाल वृक्ष के तले विलक्षण शान्ति जान पड़ती थी। मध्याह्न के सूर्य में कठोर और स्वागतशून्य पहाड़ियाँ कुछ अन्तर पर विराज रही थीं, परन्तु वृक्ष के नीचे शीतल सुखद छाया थी। प्रचण्ड और प्रभावशाली यह वृक्ष अपने एकान्त में शक्ति का भण्डार और सुडौल सौन्दर्य का आविष्कार बना खड़ा था। यह प्राणवान महावृक्ष एकाकी था, फिर भी अपने सारे परिसर को--यहाँ तक कि दूरवर्ती पहाड़ियों को भी प्रभावित कर रहा था। ग्रामवासी उसकी पूजा करते थे; इसके विशाल तने से सटकर एक उत्कीर्ण पाषाण प्रतिष्ठित था और उस पर किसी ने चमकीले पीले पुष्प चढ़ाये थे। संध्या समय उस वृक्ष के निकट कोई भी नहीं आता था; उस समय इसका एकान्त अत्यन्त अभिभूत करनेवाला होता था, और दिन के समय जब चहचहाते पक्षी और मानवी स्वर गूँजते थे, तब उसकी समृद्ध छाया में पूजा करना अधिक अच्छा लगता था। परन्तु इस समय देहात केसभी लोग अपनी झोपड़ियों के आसपास रहते और वृक्ष के तले नीरव शान्ति छा

जाती थी। वृक्ष के घने पर्ण संभार को भेद कर सूर्य किरणें कभी नीचे पहुँचती ही नहीं थीं, पुष्प दूसरे दिन तक ताजे ही रहते जब कि नये पुष्प अर्पण किये जाते।

एक पगडंडी वृक्ष की ओर आकर आगे हरे खेतों के मध्य से होती हुई आगे बढ़ती थी। इस संकीरे पथ पर भेड़ों को सावधानी से चलाया जाता था और पहाड़ियों के निकट जाने पर, जो कुछ मिलता उसे साफ करती वे स्वच्छन्दपूर्वक भागती-दौड़ती रहतीं। संध्या के समय इस वृक्ष का सम्पूर्ण वैभव निखर उठता। पहाड़ियों के पीछे सूर्य अस्तंगत होने पर खेतों का हरा रंग गहरा हो जाता और केवल वृक्ष के माथे पर ही सूर्य की अन्तिम सुनहरी पारदर्शी किरणें दृष्टिगोचर होतीं। अंधकार के आगमन पर वृक्ष अपने चारों ओर के परिसर से निवृत्त होकर, रात्रि के लिए, अपने में ही मानो सिमट जाता; उसकी गूढ़ रहस्यमयता बढ़ती हुई-सी लगती और चराचर की गहन रहस्यमयता में प्रवेश कर जाती।

वे एक मानसशास्त्र और मनोविश्लेषक थे। वर्षों से वे उपचार करते आये थे और अनेक रोगियों को उन्होंने रोगमुक्त किया था। अस्पताल में और अपने निजी दफ्तर में भी वे काम करते थे। अनेक धनी मरीजों ने उन्हें भी धनवान् बना दिया था। समृद्धि की निशानी स्वरूप उनके पास बहुत कीमती मोटरें थीं, देहात में एक मकान था और ऐसी ही अनेक चीजों पर उनका स्वामित्व था। परन्तु अपने काम को उन्होंने केवल पैसा कमाने का व्यवसाय नहीं माना था, अपने उपचार कार्य को उन्होंने गम्भीरता से स्वीकार किया था और मरीज की अवस्था को ध्यान में लेकर भिन्न-भिन्न विश्लेषण पद्धतियों का प्रयोग वे करते थे। सम्मोहनविद्या का अध्ययन उन्होंने किया था और कुछ मरीजों पर सम्मोहन तन्त्र का प्रयोग भी किया था।

उन्होंने कहा, "यह बात कितनी विचित्र है कि सम्मोहित स्थिति में लोग अपने छिपे हुए दबाव और प्रतिक्रियाओं को बहुत खुलकर और सरलता से बोल देते हैं, प्रत्येक समय जब-जब रोगी पर सम्मोहन का प्रयोग किया जाता है, तब मुझे यह विचित्रता महसूस होती है। मैं स्वयं तत्वनिष्ठ और प्रामाणिक हूँ, परन्तु सम्मोहन शास्त्र में निहित गम्भीर खतरों का मुझे पूर्ण भान है, विशेषतः अनैतिक चिकित्सक या अन्य गैरजिम्मेदार लोगों के हाथ में यह विद्या खतरनाक सिद्ध हो सकती है। सम्मोहन-चिकित्सा से व्याधि अल्प समय में दूर हो या न भी हो, कुछ गम्भीर व्याधियों को छोड़कर उसका प्रयोग समर्थनीय है, ऐसा मुझे लगता नहीं। रोगी को स्वस्थ होने में काफी लम्बे समय की आवश्यकता होती है, सामान्यतः कई महीने लग जाते हैं और कुल मिलाकर यह कार्य काफी थकानेवाला होता है।"

वे आगे कहने लगे—"कुछ दिन पूर्व, जिस महिला की मैंने महीनों तक चिकित्सा की थी, वह मुझसे मिलने आयी थी। वह एक बुद्धिमती, बहुश्रुत महिला थी और उसे कई विषयों में रुचि थी। उसने बहुत उत्साह के साथ मुस्कुराते हुए—

जो मुस्कुराहट मैंने उसमें लम्बे अरसे से नहीं देखी थी—मुझसे कहा कि उसके एक मित्र के अनुरोध पर वह आपके कुछ प्रवचन सुनने के लिए तैयार हुई थी। उसे ऐसा महसूस हुआ कि प्रवचन श्रवण करते-करते अपने कुछ गम्भीर विषादपूर्ण मनोवस्थाओं से वह मुक्त हुई। उसने बताया कि पहले प्रवचन ने तो उसे सर्वथा किकर्त्तव्य विमूढ़ कर दिया। विचार और शब्द उसके लिए नये थे और उसे वे आन्तर्विरोधी भी लगे, इसलिए दूसरा प्रवचन सुनने की उसकी इच्छा नहीं थी; परन्तु उसके मित्र ने उसे समझाया कि ऐसा कितनी ही बार हुआ है, और निर्णय करने से पहले उसे अनेक प्रवचन सुनने चाहिए। अन्ततः उसने सभी प्रवचन सुने और जैसा मैंने कहा, उसे एक मुक्ति का भाव लगा। आपने जो कहा उसका स्पर्श उसकी चेतना के कुछ अंगों को हुआ, और अपनी विफलता तथा विषादों से मुक्त होने का कोई भी प्रयास न करते हुए भी उसने पाया कि वे सब समाप्त हो गये हैं, बस, वे एकदम नष्ट ही हो गये। यह बात कुछ महीनों पूर्व की है। उस दिन उसे मैंने फिर से देखा, तब ध्यान में आया कि गहरे विषादों की छाया उसके मन पर से निश्चित रूप से हट गयी है। वह स्वस्थ और सुखी दिखाई पड़ी, विशेषतः अपने परिवार के साथ उसके सम्बन्ध स्वस्थ हो गये और सब कुछ ठीक हुआ है, ऐसा लगा।"

आगे उन्होंने कहा, "यह तो केवल प्राथमिक बात हुई। उस महिला रोगी को इसका श्रेय है कि उसके कारण मैंने आपके उपदेश पढ़े, और जिसकी आपसे मुझे चर्चा करनी है वह बात यह है: मानवी दुःख के मूल तक पहुँचने की क्या कोई पद्धति या मार्ग है? हमारे प्रचलित तंत्र बहुत समय लेते हैं, और उनके लिए काफी धैर्य और तितिक्षापूर्वक अन्वेषण करने की आवश्यकता होती है।"

महाशय, एक बात आपसे पूछ सकता हूँ? अपने मरीजों के साथ क्या करने के प्रयास में आप लगे हैं?

"मनोविश्लेषण की जटिल भाषा छोड़कर, सीधे-सादे शब्दों में कहें तो हम अपने मरीजों के दुःख, कष्ट, विषाद इत्यादि दूर करने में उनकी सहायता करने का प्रयास करते हैं, ताकि वे समाज में रहने योग्य बन सकें।"

क्या आप ऐसा मानते हैं कि, आज के भ्रष्ट समाज के योग्य बनने में लोगों की सहायता करना इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है?

"आज का समाज भ्रष्ट हो सकता है, परन्तु उसमें सुधार लाना हमारा काम नहीं है। हमारा व्यवसाय यह है कि, व्याधिग्रस्त व्यक्ति की सहायता करके उसका आस-पास की परिस्थिति के साथ मेल बैठाकर उसे अधिक सुखी और उपयुक्त नागरिक बनाना। हम मानसिक व्याधियों से ग्रस्त अस्वस्थ लोगों का उपचार करते हैं, असामान्य व्यक्तित्व निर्माण करने का हमारा प्रयास नही रहता। मैं नहीं मानता कि यह काम हमारा है।"

क्या, अपने कार्य से आप स्वयं को पृथक् कर सकते हैं, ऐसा आपको लगता है ? एक बात आपसे पूछना चाहूँगा : क्या यह भी आपका कार्य नहीं है, कि जिसमें युद्ध, शत्रुत्व, स्पर्धा होगी ही नहीं ऐसा विश्व, ऐसी सम्पूर्ण नयी . व्यवस्था आप निर्माण करें ? क्या इन्हीं स्पर्धा जैसी प्रेरणाओं तथा दवाओं के कारण एक ऐसा सामाजिक वातावरण नहीं बनता, जिसमें लोगों की व्याधिग्रस्त मानसिकता पनपती है ? यहाँ की अथवा अन्यत्र की प्रचलित समाज पद्धति के अनुरूप व्यक्तियों को बनाने में सहायता करने से हो जिस चिकित्सक का सम्बन्ध हो, वह क्या उन्हीं कारणों का समर्थन नहीं है, जो विफलता, दुःख और विनाश में परिणत होते हैं ?

"आपके कहने में निश्चित हो तथ्य है, परन्तु मनोविश्लेषक के नाते मानवी दुःख के सम्पूर्ण कारणों को गहराई में जाने की हमारी तैयारी है, ऐसा मैं नहीं, मानता।"

तब इसका अर्थ ऐसा दीखता है कि, आपको मनुष्य के सम्यक् विकास की चिन्ता नहीं है, केवल सम्पूर्ण मानवी चेतना के एक विशिष्ट अंग का ही आप विचार करते हैं। किसी अंग विशेष को स्वस्थ बनाना शायद आवश्यक होगा भी, परन्तु मानवी चेतना की समग्र प्रक्रिया का हम आकलन नहीं करेंगे, तो शायद अन्य व्याधियों का बीजारोपण करेंगे। इतनी बात तो स्पष्ट है कि यह विषय विवाद या विचारणा का नहीं है, यह एक निश्चित तथ्य है, जिसे केवल विशेषज्ञ को ही नहीं, हममें से प्रत्येक को ध्यान में लेने की आवश्यकता है।

"आप इतने अधिक गहरे प्रश्नों की ओर जा रहे हैं कि उनका विचार करने का मुझे अभ्यास ही नहीं हैं; ये प्रश्न मेरी अपनी शक्ति से परे, अधिक गम्भीर है। इन बातों का मैंने केवल अस्पष्ट-सा ही विचार किया है, और नित्य की विश्लेषण प्रक्रिया के अतिरिक्त, प्रत्यक्ष में अपने मरीजों की मानस-व्याधियों के सन्दर्भ में हम क्या करना चाहते हैं, इसका विचार भी मैंने मामूली तौर पर ही किया है। देखिये, हममें से अधिकांश चिकित्सकों को इन विषयों का अध्ययन करने के लिए न इतनी रुचि होती है, न समय; परन्तु मुझे लगता है कि वास्तव में हमें इस सबका अध्ययन करना चाहिए, यदि प्रचलित पाश्चात्य सभ्यता में निहित संभ्रम और दुःख कष्ट से अपने-आप को मुक्त करके हम अपने मरीजों की मुक्ति में भी सहायक बनना चाहते हों।"

केवल पश्चिमी सभ्यता ही संभ्रमित और दुःखी नहीं है, सारे संसार के लोग उसी संकटावस्था में फँसे हैं। व्यक्ति की समस्या समूचे मानव विश्व की भी समस्या है, वे दो पृथक् और भिन्न प्रक्रियाएँ नहीं हैं। निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि हमारा सम्बन्ध सम्पूर्ण मानवी समस्या के साथ है, फिर वह मानव व्यक्ति पूर्वी हो

या पश्चिमी, क्योंकि पूर्व और पश्चिम यह केवल यादृच्छिक भौगोलिक विभाजन है। सम्पूर्ण मानवी चेतना में किन विषयों का अन्तर्भाव होता है?—ईश्वर, मृत्यु, उचित तथा सुखद जीविका के साधन, सन्तान और उनकी शिक्षा, युद्ध और शान्ति —ये सभी विषय उसमें आते हैं। इनका समग्र आकलन किये बिना मनुष्य का संपूर्ण स्वास्थ्य सम्भव नहीं है।

"आपकी बात ठीक ही है, परन्तु मुझे लगता है कि इस तरह के व्यापक और गहरे अन्वेषण के लिए हममें से बहुत कम लोग समर्थ होते हैं। अधिकांश लोग गलत ढंग से प्राप्त शिक्षण के शिकार हैं। हम विशेषज्ञ, तंत्रज्ञ बन जाते हैं और इसका उपयोग भी है, परन्तु दुर्भाग्यवश वहीं पर हमारी सीमा आती है। कोई हृदय-रोग का विशेषज्ञ होता है, तो कोई मनोग्रंथियों का, परन्तु ऐसा प्रत्येक विशेषज्ञ पुरोहित के समान ही, अपना स्वयं का छोटा-सा स्वर्ग रच लेता है। वह कभी प्रसंगवश राज्य में रहता है। आपकी बात सही है, परन्तु हमारा जीवन क्षितिज, बस, इतना सा, ऐसा ही है।"

"अब मैं अपने पहले प्रश्न की तरफ मुड़ता हूँ : क्या ऐसी कोई पद्धति या तंत्र है, जिसके उपयोग से हम सीधे हमारे, या विशेषत: हमारे मरीजों के, दु:ख के मूल तक जा सकें और उसे तत्काल जड़ से उखाड़ कर फेंक सकें?"

पुन: मैं वही बात पूछना चाहूँगा कि आप सदैव पद्धतियाँ और तन्त्रों की दृष्टि से ही क्यों विचार करते हैं? क्या मनुष्य को कोई पद्धति अथवा तंत्र मुक्त कर सकते हैं, अथवा ये केवल एक इच्छित लक्ष्य के अनुरूप उसे आकार देंगे? और इस इच्छित लक्ष्य का स्वरूप कैसा होता है? मानवी चिन्ताएँ, भय, विफलताएँ और दबाव, इन सबका विरोधी होने से यह लक्ष्य स्वयं इन्हीं का परिणाम होता है। विरोधरूपी प्रतिक्रिया चाहे आर्थिक क्षेत्र की हो, या मानसिक विश्व की, वह कभी सही नहीं होती। तंत्र या पद्धति के अतिरिक्त एक निराला तत्व भी हो सकता है, जो वास्तव में मनुष्य की सहायता करेगा।

"वह निराला तत्व कौन-सा होगा?"

शायद, वह है प्रेम।

४१. अतीत से मुक्ति

पहाड़ी की तलहटी तक एक सुघर-स्वच्छ मार्ग जाता था और वहाँ से आगे एक पगडंडी निकलती थी। पहाड़ी की चोटी पर एक अत्यन्त प्राचीन किले के भग्न अवशेष खड़े थे। हजारों वर्ष पूर्व वह विकराल पाषाणों का दुर्ग दुर्जेय था। उसमें विशाल कक्ष विशाल स्तंभों पर टिके थे और उनका फर्श सुन्दर नक्षीदार था, संगमरमर के स्नानगृह और कक्ष थे। जैसे-जैसे इस किले के निकट कोई पहुँचता, वैसे-वैसे उसकी चहारदीवारें ऊँची और चौड़ी हो जातीं; और उसका संरक्षण उतने ही अधिक शौर्य से होता होगा। फिर भी वह जीत गया था, गिराकर नष्ट भी किया था और पुनः बाँधा भी गया था। बाहर की दीवारें बड़ी-बड़ी शिलाओं को एक पर एक रखकर, चूने का उपयोग न करते हुए, जोड़-जोड़कर बनायी थीं। दीवारों के भीतर एक पुराना, बहुत गहरा कुआँ था और पानी तक उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनी थीं। चिकनी सीढ़ियों पर फिसलन थी और नमी के कारण कुएँ की दीवारें चमक रही थीं। यह सारा ही अब खण्डहर ही था, परन्तु पहाड़ी के माथे पर से दीखनेवाला दृश्य अपनी अद्भुत रम्यता में वैसा का वैसा ही था। दक्षिण की ओर सुदूर विस्तीर्ण खुले मैदानों की सीमा तक चमकता हुआ सागर फैला था, मैदानों के पार्श्वभाग में पहाड़ियाँ विराजती थीं। कुछ ही अन्तर पर दो छोटी-छोटी पहाड़ियाँ थीं, इन पर भी उन प्राचीन दिनों में किले रहे थे, परन्तु उन पड़ोसी पहाड़ियों की और मैदानों की ओर ऊँचाई से देखनेवाले इस भव्य किले की तुलना में वे कुछ भी नहीं थे।

आज का प्रभात अनुपम सुन्दर था। भग्न अवशेषों के बीच प्रसन्न पुष्पों को सागर पर से आनेवाली वायुलहरियाँ झुला रही थीं। वे पुष्प कितने रमणीय थे, उनके रंग गहरे और चित्रविचित्र थे और अपनी जड़ें उन्होंने कहाँ-कहाँ जमायी थीं—शिलाओं पर, भग्न दीवारों के छेदों में तथा खुले आँगन में वे फूल निकले थे। स्वच्छंद मुक्ति से वे वहाँ अनेक शतकों से खिलते आये थे और पूरी पगडंडी को व्याप्त करके वे बिखरे थे, उन पर चरण रखकर चलते जाना मानो उनकी विभूतिमत्त्व का द्रोह ही करना होता, क्योंकि वह विश्व उन्हीं का था और हम केवल अजनवी, पराये थे, परन्तु उन्होंने हमें इसका आभास होने नहीं दिया।

पहाड़ी पर से दिखनेवाला दृश्य आश्चर्य से श्वास रोकने वाला अद्भुत, विलक्षण नहीं था; ऐसे कल्पनातीत दृश्य जब कभी दिखाई देते, तब अपनी नीरवता

से और भव्यता से मानवी चेतना को मिटा ही डालते हैं। यहाँ ऐसा दर्शन नहीं था। यहाँ शान्त, जादूभरा, सौम्य और विस्तीर्ण खुला वातावरण था; यहाँ पर आप भूत या भविष्य से शून्य, कालातीत होकर जी सकेंगे, क्योंकि इस सारे हर्ष-विभोर विश्व के साथ आप एकरूप होते हैं। तब आप मानव व्यक्ति नहीं रहते, एक भिन्न देश के, पराये नहीं होते, किन्तु वे पहाड़ियाँ, वे भेड़ें तथा उनका चरवाह—सभी आप ही बन जाते हैं। आप वह व्यापक आकाश और नवोन्मेष शालिनी वसुंधरा हो जाते हैं, आप इस सबसे पृथक् नहीं, इसी के होकर रहते हैं। परन्तु आप इसी के हो गये हैं, इसकी आपको चेतना नहीं रहती, उन फूलों को भी कहाँ होती है, यह चेतना ! वैसे ही आप हो जाते हैं। वे मुस्कुरानेवाले खेत, वह नील सागर और उधर दूर, अपने प्रवासियों को लेकर दौड़ानेवाली वह रेलगाड़ी—ये सारे आप ही बन गये। आप—जो चयन करते, तुलना में डूबते, लक्ष्य के पीछे भागते, कम करते—वे आप अस्तित्व में रहे ही नहीं; समग्र चराचर सृष्टि के साथ आप एक-रूप हो गये।

किसीने कहा कि अब देर हो चली और हम सबको वापस चलना चाहिए, इसलिए पहाड़ी की दूसरी ओर की पगडंडी से हम नीचे उतर गये, और वहाँ से आगे, सागर की ओर जानेवाले मार्ग पर बढ़ते गये।

हम एक वृक्ष के नीचे बैठे थे और वे सत्पुरुष कह रहे थे कि दोनों महायुद्धों के काल में, वे तरुण और प्रौढ़ थे। उस समय यूरोप के अलग-अलग स्थानों पर उन्होंने काम किया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय उनका अपना घर नहीं था और कई बार उन्हें भूखा रहना पड़ा था। किसी न किसी कारणवश, कभी इस ओर के तो कभी उस ओर के विजेता सैन्यदल ने उन्हें गोली से करीब-करीब उड़ा ही दिया था। घुमक्कड़ी के बीच उनका पासपोर्ट खो गया था और जब वे सरलता से निवेदन करते कि उनका जन्म कहाँ हुआ और उनका अपना देश कौन-सा है, तब उन पर कोई विश्वास ही नहीं करता। इसलिए उन्हें अनेक बार कारागृह में निद्राहीन तथा यातनामय रात्रियाँ बितानी पड़ी थीं। अनेक भाषाएँ वे बोल सकते थे, स्वयं इंजीनियर रहे थे और कुछ समय तक कोई व्यवसाय भी करते थे, और अब चित्रकारी कर रहे थे। मुस्कराते हुए उन्होंने बताया कि अब उनके पास पासपोर्ट था और रहने का अपना स्थान भी था।

उन्होंने आगे कहा, "मेरे समान कितने ही ऐसे लोग हैं जिनका सर्वस्व नष्ट हो गया था और वे पुनः जीवन में लौट आये थे। मुझे इसका कोई खेद नहीं, परन्तु जिसे हम जीवन कहते हैं, उसके साथ का निकट सम्बन्ध, कैसे भी हो, मैं खो चुका हूँ। सेनाओं और राजाओं, ध्वजाओं और राजनीति—इन सबसे मैं ऊब गया हूँ।

इनके कारण मानव जीवन में कितना दुःख, कितनी वेदना उत्पन्न हुई है, और समाजमान्य धर्म संस्थाओं ने इनसे भी अधिक रक्त बहाया है। हिंसा और भयावह वीभत्सता में हमसे मुस्लिम जगत् भी स्पर्धा नहीं कर सकेगा और अब तो इसी में हम पुनः फँसे हैं। पहले मैं 'सिनिक' (मानवद्वेषी) बनकर कटुता से सराबोर था, परन्तु वह स्थिति भी अब चली गयी। मैं अकेला रहता हूँ, क्योंकि मेरी पत्नी और बच्चा युद्ध के समय मर चुके, और अब कोई भी स्नेह की ऊष्मा देनेवाला देश मेरे लिए ठीक ही है। मैं कैसे भी रहूँ, मुझे चिन्ता नहीं है; अपने जीवन-यापन के लिए मैं चित्र बनाकर बेचता हूँ, और कभी-कभी तो निर्वाह करना भी कठिन होता है, फिर भी कहीं से सहायता मिल ही जाती है। मेरी आवश्यकताएँ बहुत सरल-सादी हैं और मैं पैसे की अधिक चिन्ता नहीं करता। मैं मठ की कारा से बाहर रहनेवाला, परन्तु अन्तःकरण से संन्यासी ही हूँ। मेरा यह निवेदन स्वयं के विषय में केवल स्वच्छंद प्रलाप नहीं है, परन्तु यह सारा कहने से, जो एक बात मेरे लिए अत्यन्त मार्मिक बन गयी है, उसका आकलन मैं स्वयं कर सकूँगा। ऐसी मेरी धारणा है। इस एक बात के अतिरिक्त अन्य किसी में भी मुझे कोई रुचि नहीं है, अपनी चित्रकारी में भी नहीं।

"एक दिन चित्रकारी के लिए आवश्यक ब्रश, रंग इत्यादि लेकर मैं उन पहाड़ियों पर जाने को निकल पड़ा। वहाँ पर मैंने ऐसा कुछ देखा था जिसे मैं रंगों में उतारना चाहता था। वह प्रातःकाल का पहला ही प्रहर था, जब मैं इस स्थान पर पहुंचा उस समय आकाश में कुछ थोड़े ही बादल थे। मैं जहाँ खड़ा था, वहाँ से मेरी दृष्टि घाटियों के मध्य से होकर तेजोमय सागर तक पहुँचती थी। मैं अकेला खड़ा था, मंत्रमुग्ध, अभिभूत होकर। तब चित्र में रंग भरना मैंने प्रारम्भ किया। कुछ समय तक मैं रंग भरता रहा, और किंचित् भी थकान या प्रयास के बिना ही चित्र इतना सुन्दर बनता जा रहा था, जब अकस्मात् मुझे ऐसा भान हुआ कि मेरे मस्तक के भीतर कुछ घटित हो रहा है। इस तरह बात कहना विचित्र-सा लगता है, किन्तु किन शब्दों में कहूँ, मालूम नहीं होता। चित्र उतारने में इतना मग्न था, कि कुछ समय तक तो मुझे यह क्या हो रहा है, इसकी ओर मेरा ध्यान ही नहीं गया, तब एकाएक मुझे उसका भान हुआ। चित्रकारी में मैं आगे बढ़ नहीं सका, केवल निस्तब्ध होकर बैठा रह गया।" क्षणभर रुककर वे आगे बोलने लगे।

"आप मुझे भ्रान्त या सनकी न समझें, कारण मैं वैसा हूँ नहीं। किन्तु वहाँ बैठे-बैठे मुझे एक असामान्य सृजनशक्ति का अवभान हुआ। वहाँ मैं सृजनशील नहीं था, किन्तु सृजनशील था मेरे अन्दर का एक ऐसा तत्व जो उन चोटियों में और उस चंचल गिलहरी में भी था। मैं नहीं समझता कि मैं उस अनुभूति को अच्छी

तरह से शब्दों में व्यक्त कर सकता हूँ, परन्तु मेरे कहने का अर्थ आप निश्चित ही समझे होंगे। वह सृजनात्मकता कविता लिखनेवाले किसी ऐरे-गैरे की नहीं थी, ना एक क्षुद्र चित्र को रेखांकित करनेवाले मेरे जैसे की थी; वह मात्र सरल-शुद्ध सृजन था। मानवी मन की अथवा हाथों की बनी कलावृत्तियाँ इस सृजन की बाह्य सीमावर्ती ही थीं, उनका कोई मूल्य ही नहीं था। उस सृजन शक्ति के प्रपात में मैं सुस्नात हो गया; इससे एक प्रकार की पवित्रता, कल्याणमयता टपकती थी। परम्परागत धार्मिक परिभाषा में अभिव्यक्त करना चाहूँ तो, मैं कहूँगा······परन्तु मैं कहूँगा ही नहीं। क्योंकि मेरी वाणी से धार्मिक शब्द निकलते ही नहीं, उनका अब कोई अर्थ ही शेष नहीं रहा है। वह विश्व सृजन का केन्द्र स्थान था. स्वयं ईश्वर ने······पुन: वे ही शब्द। किन्तु मैं आपसे कहूँ—वह बहुत पवित्र था, और उसका परम पावित्र्य गिरजाघरों का, मानवनिर्मित स्तोत्रपाठ और अगरबत्तियों का नहीं था—ये सारी चीजें अर्थशून्य ही हैं। वहाँ जो था, वह किसी भी अशुद्धि से अछूता, कल्पनातीत निर्मल था; उसके सान्निध्य से मेरे गालों पर अश्रुधाराएँ बहने लगीं; मेरे अतीत के सारे दाग, सारे संस्कार धुल गये। गिलहरी अपने दूसरे भोजन की चिन्ता छोड़कर निस्तब्ध हो गयी थी और वहाँ विस्मयकारी नीरव शांति व्याप्त हो गयी— वह शान्ति ऐसी नहीं थी जो रात्रि के समय सारी चराचर सृष्टि निद्राधीन होने पर फैलती है, किन्तु वह ऐसी शान्ति थी जिसमें कण-कण जागृत रहता है।

"उस स्थान पर निश्चल होकर मैं बहुत समय तक बैठा रहा ऐसा दिखा, क्योंकि सूर्य पश्चिम की ओर झुक गया था। मेरा शरीर कुछ अकड़ गया था, एक पैर सुन्न हुआ था, और बड़ी मुश्किल से मैं खड़ा हो सका। मैं अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूँ, परन्तु काल वहाँ ठिठक गया था—अथवा काल अस्तित्व में ही नहीं था। मेरे पास घड़ी नहीं थी, लेकिन ब्रुश नीचे रखने के बाद मेरे उठ खड़े होने के क्षण तक कई घण्टे बीत चुके होंगे। न तो मैं उन्मादग्रस्त था, न अचेतन अवस्था में था, इसके ठीक विपरीत, मैं सम्पूर्ण सावधान था, चारों ओर की सृष्टि का पूर्ण बोध मुझे था। अपनी सारी चीजें उठाकर, सावधानी से थैली में डालकर, मैं वहाँ से निकला और उस अलौकिक स्थिति में वापस चलकर अपने घर पहुँचा। उस छोटे नगर के कोलाहल ने उस स्थिति को विचलित नहीं किया, और घर पहुँचने के बाद अनेक घण्टों तक वही स्थिति बनी रही। दूसरे दिन प्रात:काल जब मैं सोते से उठा, तब उस स्थिति का सम्पूर्ण विलोप हो गया था। मैंने अपने चित्र की ओर देखा; वह था तो अच्छा, परन्तु उसमें असाधारणता कुछ भी नहीं थी।"

अपने निवेदन की अविराम कड़ी जोड़ते हुए उन्होंने कहा, "इतने समय मैं बोलता रहा हूँ, इसलिए क्षमाप्रार्थी हूँ, परन्तु वह अनुभूति मेरे मन में बन्द होकर

पड़ी थी, और आपके अतिरिक्त अन्य किसी को मैं उसे खोलकर बता नहीं सकता था। यदि मैं बताता भी तो वे किसी पुरोहित को बुलाते या एकाध मनोविश्लेषणतज्ञ से मिलने का सुझाव देते। आपसे मैं उस अनुभव का स्पष्टीकरण नहीं पूछ रहा हूँ, किन्तु इतना बताइये कि यह उत्पन्न कैसे हुई? इसके उदय के लिए कौन-सी परिस्थिति आवश्यक है?"

आप यह प्रश्न इसलिए ही पूछ रहे हैं न, कि आपको उस घटना की पुनर्नुभूति चाहिए, है न?

"मुझे लगता है कि यही हेतु मेरे प्रश्न के पीछे है, परन्तु......"

कृपया थोड़ा-सा रुकिये, यहीं से हम प्रारम्भ करते हैं। महत्त्व की बात यह नहीं है कि वह अनुभूति आयी, महत्व इस बात का है कि आपको उस अनुभूति के पीछे जाना नहीं चाहिए। लोभी वृत्ति से अहंकारी दर्प का अंकुर फूटता है, और आवश्यकता है विनम्रता की। आप अभ्यासपूर्वक नम्रता विकसित नहीं कर सकते; यदि वैसा प्रयास आपने किया तो वह विनम्रता नहीं होगी, होगा और एक प्रकार का संग्रह। वही अनुभव फिर एक बार आपको हो, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु आवश्यक है निर्दोषिता, निष्पापता, अच्छे या बुरे, सुखद अथवा दुःखद अनुभूति की स्मृति से मुक्ति।

"हे भगवान्! मेरे लिए जो अत्यन्त मूल्यवान अनुभूति है, उसी को मैं भूल जाऊँ ऐसा आप कह रहे हैं। मुझसे आप एकदम असंभव की अपेक्षा कर रहे हैं। मैं उसे भूल नहीं सकता, और न मैं उसे भूलना चाहता हूँ।"

यही तो कठिनाई है, महाशय। कृपया आन्तर्दृष्टि खोलकर, तितिक्षापूर्वक सुन लीजिये। अब आपके पास क्या शेष है? केवल एक मृत स्मृति। जब वह अनहोनी घटित हो रही थी, तब वह जीवन्त वस्तु थी, और उस समय उस जीवन्तता को अनुभूत करनेवाला 'मैं' था नहीं, न उस अतीत की अनुभूति को चिपकनेवाली कोई स्मृति ही थी। आपका मन निष्पाप था, उस क्षण आप न कुछ खोज रहे थे, न अपेक्षा कर रहे थे अथवा किसी स्थिति को नहीं पकड़ रहे थे। आपका मन मुक्त था, परन्तु अब वह अपेक्षा कर रहा है, और मृत अतीत को पकड़ रखना चाहता है। जी हाँ, वह घटना अब मृत ही है; आपके स्मरण ने उसे नष्ट किया है, और वही स्मरण द्वैत का संघर्ष उत्पन्न कर रहा है। यह संघर्ष, जो बीत गया और जिसकी आप आशा रखते हैं—इनके बीच का है। संघर्ष मृत्यु है, और आप जी रहे हैं अन्धकार के साथ। जब अहम् अनुपस्थित रहता है, तब यह अनुभूति आती ही है; परन्तु उसकी स्मृति, अधिक की तीव्र अपेक्षा, अहम् को पुष्ट करते हैं, और जीवन्त वास्तव सत्य का मार्गरोधन करते हैं।

"तब यह उत्तेजित करनेवाली स्मृति मैं कैसे मिटा डालूं ?"

पुनः, आपका, यह प्रश्न ही उसी अवस्था को फिर से प्राप्त करने की इच्छा का स्पष्ट निर्देश करता है, करता है न ? उस स्मृति को हटाना आप इसलिए चाहते हैं कि उस अवस्था को आप अनुभव कर सकें। इसका अर्थ यही हुआ कि वह तीव्र तड़पन अभी वैसी ही है; यद्यपि उस गतकालीन स्थिति को भूलने की आपकी तैयारी है। उस असामान्य स्थिति के लिए आपकी जो तड़पन है; वह किसी मनुष्य के शराब या मादक द्रव्य के व्यसन के जैसी ही है। सबसे महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि आप उस सत्य की अनुभूति पुनः प्राप्त करें; महत्त्वपूर्ण यह है कि आपकी तड़पन का आकलन किया जाय और प्रतिरोध के बिना, संकल्प-क्रिया के बिना; स्वेच्छया, वह सहजता से विलीन हो जाय।

"आपके कहने का क्या यही अर्थ है कि उस अवस्था का स्मरण मात्र ही, और साथ-साथ उसका पुनः प्रत्यय पाने की मेरी तीव्र प्रेरणा ही—उसी अवस्था के समान स्थिति को या शायद अन्य स्वरूप की अवस्था को प्रकट होने से रोक रहे हैं ? तो जाने-अनजाने भी मुझे उस अलौकिक अवस्था का निर्माण करने के लिए क्या कुछ भी करना नहीं चाहिए ?"

यदि आप सचमुच समझ गये हों, तो ऐसी ही बात है।

"आप असंभव की सी अपेक्षा कर रहे हैं, परन्तु भविष्य को कौन जानता है ?"

४२. अधिसत्ता और सहकार

उस महिला ने अपने विषय में स्पष्टीकरण देते हुए कहा कि वह एक बड़े व्यवसायी कार्यकारी की सेक्रेटरी रही थी, और उस अधिकारी के साथ उसने अनेक वर्ष काम किया। वह महिला बहुत कार्यकुशल रही होगी, कारण उसके चलने-बोलने पर से यह बात स्पष्ट दिखाई देती थी। कुछ पैसे की बचत करने पर दो-एक साल पहले उसने नौकरी छोड़ दी, कारण लोकहित का कार्य करने की उसकी इच्छा थी। अभी वह तरुण, स्वस्थ और उत्साही थी, और अपना शेष जीवन किसी अच्छे काम के लिए अर्पण करना चाहती थी। उसने अलग-अलग आध्यात्मिक संघटनों को परख कर देखा। विश्वविद्यालय जाने से पहले उसका शिक्षण एक कान्वेन्ट में हुआ था। परन्तु जो बातें वहाँ दिखाई गयी थीं, वे अब उसे संकीर्ण, तर्कहीन और अधिसत्ता-

त्मक लगी, स्वाभाविक ही ऐसी धार्मिक संस्था के साथ जुड़ना उसके लिए सम्भव नहीं था। अन्य कई संस्थाओं को परखने पर अन्ततः एक ऐसी संस्था में वह दाखिल हुई जो अनेक संस्थाओं से अधिक व्यापक और मौलिक लगी। वह अब उस संघटन के ठीक केन्द्रस्थान में एक प्रमुख कार्यकर्त्ता के साथ कार्यरत थी।

वह आगे कहने लगी, "अब तक मुझे ऐसा एक जीवन-दर्शन मिला जो सम्पूर्ण अस्तित्व का समाधानकारक स्पष्टीकरण देता है। अर्थात् वे अदृश्य महात्माओं की अधिसत्ता मान्य करते हैं, परन्तु उनमें श्रद्धा रखनी ही चाहिए, ऐसा आग्रह नहीं है। मेरी श्रद्धा है, किन्तु इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। मेरा प्रवेश आंतर-समूह में हुआ है, और आप जानते हैं कि कुछ प्रकार के ध्यान का हम अभ्यास करते हैं। आजकल पहले जितने नहीं, कुछ थोड़े ही व्यक्तियों को महात्माओं से दीक्षा की बात कही जाती है। वे इन दिनों दीक्षा आदि के सन्दर्भ में अधिक सतर्क रहते हैं।"

एक बात आप से पूँछ लूँ, यह सारा स्पष्टीकरण आप किसलिए दे रही हैं?

"मैं उस दिन की आपकी दोपहर की चर्चा में शामिल हुई थी। उसमें कहा गया था कि सभी प्रकार का अनुयायीपन अनिष्ट है। उसके बाद अनेक चर्चाओं में मैं उपस्थित रही, और स्वाभाविक ही वहाँ जो सब कहा गया, उससे मैं विचलित हो उठी। देखिये, अदृष्ट महात्माओं के लिए कार्य करने का अर्थ निश्चित ही यह नहीं है, कि उनका अनुकरण ही करना होता है। यहाँ अधिसत्ता अवश्य है, परन्तु हम ही अधिसत्ता की आवश्यकता महसूस करते हैं। वे हमसे आज्ञापालन की अपेक्षा नहीं रखते, हम ही उनका या उनके प्रतिनिधियों की आज्ञा का पालन करते हैं।"

आपके कहने के अनुसार यदि आपने चर्चा में भाग लिया है, तो आपकी अभी की बात कुछ अपरिपक्वता की है, ऐसा आपको नहीं लगता? महात्माओं की अथवा उनके प्रतिनिधियों की अधिसत्ता उनके अपने स्वनिर्मित कर्तव्य तथा मर्जी पर निर्भर होती है, इनमें आश्रय लेना, वस्तुतः गिरिजाघर की अधिसत्ता का आश्रय लेने के समान ही है, है न? आप एक को संकीर्ण और दूसरे को व्यापक मानते हों, परन्तु निश्चित रूप से दोनों भी बंधनकारक हैं। जब कोई संभ्रमित होता है, तब वह मार्गदर्शन चाहता है, किन्तु जो मार्गदर्शन प्राप्त होगा, वह निरपवादरूप से अपने ही संभ्रम का परिपाक होगा। नेता भी उतना ही संभ्रम में होगा जितना अनुयायी, और अनुयायी ने तो अपने संघर्षमय और दुःखपूर्ण स्थिति में ही नेता का चयन किया है। किसी दूसरे का—अर्थात् चाहे नेता का, तारणहार का अथवा किसी महात्मा का—अनुयायित्व स्वीकारने से जीवन में दर्शन की स्पष्टता और सौख्य प्राप्त नहीं होते। संभ्रम का और उसके निर्माता का आकलन होने से ही केवल संघर्ष और दुःख से मुक्ति मिलती है। यह बात काफी स्पष्ट है, है न?

"आपके लिए भले ही स्पष्ट होगी परन्तु अभी भी मेरी समझ में नहीं आयी। योग्य दिशा में कार्य करने की हमें आवश्यकता है, और जो ज्ञानी हैं, वे हमारे मार्गदर्शन के लिए कुछ योजनाएँ निश्चित कर सकते हैं, करते रहते हैं। इसका अर्थ उनका अंध-अनुयायित्व स्वीकारना नहीं है।"

अनुयायित्व कभी प्रबुद्ध होता ही नहीं। सभी अनुकरण अनिष्ट ही हैं। अधिसत्ता उच्चस्तरीय हो अथवा विचारहीनों के समुदाय में हो, वह भ्रष्ट ही करती है। विचारशून्य लोग, किसी दूसरे का—उदात्त या महान् व्यक्ति का भी क्यों न हो, अनुकरण करने से विचारवान नहीं बनते।

"मानवी विश्व के लिए मौलिक महत्त्व के कार्य में अपने मित्रों के साथ सहकार करना मुझे पसन्द है। एक साथ कार्य करने के लिए हमें एक उच्च अधिसत्ता का मार्गदर्शन आवश्यक लगता है।"

जब अनुकूल या प्रतिकूल अधिसत्ता के तीव्र प्रभाव में काम करना होता है, तब क्या उसे सहकार कहेंगे? किसी दूसरे की कार्य-योजना के अनुसार आप काम करेंगी, तब क्या उसे सहकार मानेंगी? जाने-अनजाने क्या आप उसमें भयवश अथवा पारितोषिक की आशा आदि के अधीन होकर किसी ढाँचे के अनुरूप कार्य में नहीं लगी रहेंगी? बताइये, अनुरूपता क्या सहकार है? जब आपसे अधिसत्ता का स्तर ऊँचा होगा, चाहे वह कल्याणकारी हो या निरंकुश—तब कभी सहकार संभव है? निश्चित ही, सहकार्य तभी संभव है, जब दण्ड अथवा अपयश के भय से अथवा मान्यता या यश की भूख जाती रही है, ऐसे निरासक्त अन्तःकरण में केवल कार्य के लिए ही प्रेम होगा। सहकार्य मात्र उसी समय शक्य है, जब द्वेष, लोभ और व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रभुत्व या सत्ता की तीव्र अभिलाषा से चित्त मुक्त रहता है।

"इन विषयों में क्या आपका आग्रह एकदम एकान्तिक नहीं है? हमारे अन्तःकरण में पड़ी सभी अनिष्ट वासनाओं से मुक्त होने तक यदि हम राह देखते रहेंगे, तो कोई कार्य कभी सम्पन्न कर पायेंगे?"

परन्तु आज भी आप क्या कार्य सिद्ध कर रही हैं? यदि एक भिन्न, परिवर्तित मानवविश्व देखना चाहेंगी, तो अन्तःकरण में गहरी उत्कटता की और आंतरिक क्रान्ति की आवश्यकता है। कम से कम कुछ व्यक्ति तो ऐसे होने चाहिए, जो संघर्ष और दुःख की श्रृंखला जाने-अनजाने बढ़ायेंगे नहीं। वैयक्तिक तथा सामूहिक महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण विराम मिलना चाहिए, क्योंकि किसी भी रूप में महत्त्वाकांक्षा प्रेम के मार्ग में बाधा बनकर खड़ी होती है।

"आपकी सारी बातें सुनने से मैं काफी विचलित हुई हूँ। जब कुछ शान्त और स्वस्थ हो जाऊँगी, तब किसी दिन आपसे मिलने पुनः आऊँगी।"

अनेक दिनों बाद वह फिर से मिलने आयी।

"आपसे मिलने के उपरान्त इस सब पर वस्तुनिष्ठ और स्पष्ट विचार करने के लिए मैं अकेली ही दूर निकल गयी थी और उसी सोच में मैंने कितनी निद्राहीन रातें बितायीं। मेरे मित्रों ने मुझे सलाह दी कि आपकी बातों से मैं अधिक विचलित नहीं होऊँ, परन्तु मैं बेचैन हो ही गयी थी, और मुझे स्वयं ही कुछ विषयों में निर्णय करना था। इन दिनों मैं आपके कुछ प्रवचन में बहुत ध्यानपूर्वक और प्रतिरोध का भाव न रखते हुए, पढ़ रही हूँ और अब काफी बातें स्पष्ट हो रही हैं। मुझे अब लौटकर वापस नहीं जाना है; और यह मैं नाटकीय ढंग से नहीं कह रही हूँ। उक्त संगठन से और उसके लक्ष्य से मैंने त्यागपत्र दे दिया है। मेरे मित्र स्वाभाविक रूप से विचलित हुए हैं और वे सोचते हैं कि मैं वापस जाऊँगी; परन्तु यह तो अब नहीं होगा। जो बात आपसे सुनी उसकी सत्यता मुझे प्रतीत हुई, इसलिए मैंने यह कदम उठाया। अब आगे क्या होता है, देखें।

४३. सामान्यता

तेज हवा और मूसलाधार वर्षा को लेकर आया तूफान बहुत दिनों तक चलता रहा। प्यासी धरित्री सारा पानी चूसती रही और अनेक ग्रीष्मों की धूल वृक्षों पर से धुलती रही। देश के इस भाग में कितने ही वर्षों से विशेष वर्षा हुई ही नहीं थी, अब वह न्यूनता पूरी हो रही थी, कम से कम प्रत्येक को यह आशा थी, और इसका हर्ष बरसते पानी की ध्वनि में—प्रवाहित धाराओं की ध्वनि में व्यक्त होता था। हम रात को सोने गये, तब पानी पड़ ही रहा था और धाराओं की तड़तड़ छत पर जोरों से सुनाई देती थी। उसमें एक लय थी, एक नृत्य था और अनेक जलस्रोतों की कलकल उसमें सम्मिलित थी। रात बीतने पर कैसी सुन्दर, रमणीय प्रभात था! बादल निकल गये थे, और प्रातःकालीन सूर्य में चारों ओर की पहाड़ियाँ चमक रही थीं। वे सब सुस्नात, निर्मल हो गयी थीं, और सारे वातावरण में मंगल आशीर्वाद व्याप्त था। अभी सृष्टि में कहीं हलचल नहीं थी, केवल पहाड़ की चोटियाँ प्रकाश की आभा से उज्ज्वल थीं। कुछ ही देर में दिन का कोलाहल प्रारंभ होगा; परन्तु अब तक घाटी में गहरी निस्तब्धता का राज्य था, केवल जल प्रवाहों का सौम्यनाद और दूर कहीं मुर्गे की बांग कर्णपुट पर आ रही थी। सारे रंग जीवन्त हो उठे थे। चराचर सृष्टि कितनी स्वच्छ, सुस्पष्ट हो गयी थी, तृण के नूतन अंकुरों से लेकर, समूची घाटी को प्रभावित करनेवाले उस प्रचण्ड वृक्ष तक सभी ताजे,

प्रसन्न थे। समृद्धि से भरपूर नये जीवन का उदय हुआ था; और अब देवताओं को खुले हाथों से, प्रसन्नता से चढ़ावा प्राप्त होनेवाला था। अब आनेवाली धान की फसल के लिए खेतों को सँवारा जायेगा। साथ-साथ गायों और भेड़ों को चारे की कमी नहीं रहेगी; कुँओं में पानी लबालब भरा रहेगा और शादी-विवाहों में आनन्द का समारोह होगा। वसुधा लाल मिट्टी से रँगी थी और अब सर्वत्र खुशियाँ छा जायेंगी।

उन महोदय ने कहा, "मेरे मन की स्थिति को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। मैंने विश्वविद्यालय जाकर तथाकथित शिक्षा पायी है, और कुछ अध्ययन भी किया है। राजनीति में एकान्तिक वामपंथी रहा हूँ और उसके साहित्य का मुझे विशेष परिचय है। यह राजनैतिक दल संगठित धर्म के समान ही बन गया है; जैसे कैथोलिक धर्म-पंथ ने समाज बहिष्कार, धमकियाँ और अधिकार छीनना इत्यादि उपायों को अपनाया, और आज भी अपनाता है, इसी प्रकार वामपंथ की भी कार्रवाइयाँ चलती हैं। उत्तम समाज निर्माण की आशा में महत्त्वाकांक्षी होकर मैंने कुछ समय काम किया; परन्तु उस खेल के दाँवपेंचों को मैंने पहचान लिया, यद्यपि उसमें मैं बहुत सफल होकर आगे निकल जा सकता था। काफी समय पहले ही मैंने देखा कि सच्चा सुधार राजनीति के द्वारा नहीं होता; राजनीति और धर्म परस्पर मिलकर एकत्र नहीं हो सकते। धर्म को राजनीति में दाखिल करना चाहिए, ऐसा कहा जाता है, यह मैं जानता हूँ; परन्तु जिस क्षण धर्म को राजनीति मे प्रविष्ट किया जाता है, उसके बाद धर्म धर्म नहीं रह जाता, वह अर्थहीन हो जाता है। ईश्वर हमसे राजनीति की परिभाषा में नहीं बोलता है, परन्तु हमारे अपने राजनीति के अथवा अर्थ विज्ञान के संस्कारों की परिभाषा में हम अपना स्वयं को भगवान बना लेते हैं।

"परन्तु राजनीति की चर्चा करने मैं आपके पास नहीं आया हूँ, और उसकी चर्चा से आप इन्कार करते हैं, यह उचित ही है। मैं एक ऐसे विषय में बात करने आया हूँ जो मुझे सचमुच पस्त कर रही है। उस शाम आपने सामान्यता के सम्बन्ध में कुछ कहा था। मैंने सुना तो सही, परन्तु बहुत बेचैन होने से उसे समझ नहीं सका; परन्तु आपकी बात सुनते-सुनते वह 'सामान्यता' शब्द मुझ पर गहरा आघात कर गया। मैंने अपने विषय में कभी नहीं सोचा था कि मैं सामान्य हूँ, और यह शब्द मैं सामाजिक अर्थ में नहीं ले रहा हूँ, साथ ही जैसा आपने निर्दिष्ट किया, उसका सम्बन्ध न वर्गीय या आर्थिक विषमता से है अथवा न जन्म से है।"

अर्थात् । यदृच्छा से उत्पन्न सामाजिक विषमताओं की सीमा से सामान्यता पूर्णतः बाहर है।

"यह बात मेरे ध्यान में आयी है। यदि मुझे ठीक स्मरण हो, तो आपने ऐसा भी कहा था कि, सच्चा धार्मिक व्यक्ति ही केवल क्रान्तिकारी होता है, और

यह व्यक्ति सामान्य नहीं होता, मैं मन की सामान्यता की ओर इशारा कर रहा हूँ; व्यवसाय या प्रतिष्ठा की सामान्यता की ओर नहीं। जो श्रेष्ठ हों, उच्च अधिकार के स्थान पर प्रतिष्ठित हों या जिनके व्यवसाय अद्भुत आकर्षक हों, वे भी सामान्य हो सकते हैं। मैं उच्च प्रतिष्ठाप्राप्त नहीं हूँ, न मेरा व्यवसाय विशेष आकर्षक है, फिर भी अपने मन की स्थिति का मुझे पूरा परिचय है। मैं केवल सामान्य हूँ। मैं पौर्वात्य तथा पाश्चात्य तत्वज्ञान का अभ्यासी हूँ और कितने ही दूसरे विषयों में मुझे अभिरुचि है, परन्तु इतने पर भी मेरा मन बिलकुल सर्वसामान्य है; समन्वित विचार करने का सामर्थ्य भी उसमें है, फिर भी वह एकदम सामान्य है, और सृजनशीलता का उसमें नितान्त अभाव है।"

तब आपकी समस्या क्या है, महाशय ?

"मेरी पहली समस्या ऐसी है कि मेरी आत्यंतिक मूढ़ स्थिति पर मुझे सचमुच बड़ी लज्जा आती है; और यह बात मैं आत्मदया से प्रेरित होकर नहीं कह रहा हूँ। मेरे भीतर बहुत गहराई में मुझे महसूस होता है कि मेरी विद्वता के बावजूद मुझमें, अत्यन्त गंभीर अर्थ में सृजनशीलता का अभाव है। जिस सृजनशीलता की बात आपने उस दिन की, वह स्वयं में विकसित करना संभव होनी चाहिए; परन्तु इस दिशा में चरण कैसे बढ़ायें ? मेरा यह प्रश्न एकदम सीधे, खुला खुलासा है क्या ?"

इस प्रश्न का विचार हम बहुत सरलता से शुरू करें तो ? चित्त की सामान्यता किस कारण से उत्पन्न होती है ? किसी को विश्वकोश का ज्ञान होगा, किसी के पास महान् सामर्थ्य होगी, परन्तु इन सब सतही उपलब्धियों से और निसर्गदत्त कुशलताओं से परे कौन-सा ऐसा कारण है जो गहरी मानसिक मूढ़ता की जड़ है ? क्या कभी मन जैसा वह सदा ही रहता आया है, उससे भिन्न बन सकता है ?

"मेरे ध्यान में यह बात आ रही है कि मन कितना भी चतुर क्यों न हो, वह मूढ़ भी हो सकता है। वह जैसा सदैव रहता आया है, वैसा ही रहेगा और उसके स्वरूप को भिन्न रूप देना सम्भव ही नहीं। उसमें तर्कशक्ति, विचारशक्ति, योजकता और हिसाबीपन इत्यादि के रूप में असीम प्रबलता होगी, परन्तु इस तरह स्वयं का कितना भी विस्तार किया तो भी मन नित्य उसी क्षेत्र में रहेगा। आपके प्रश्न का अर्थ अब मेरी समझ में आया है, आप पूछ रहे हैं कि, जो मन इतने आश्चर्यकारक पराक्रम का सामर्थ्य रखता है, क्या वह अपने ही संकल्प तथा प्रयास से स्वयं से परे जा सकता है ?"

इसमें से उठनेवाले अनेक प्रश्नों में यह भी एक है। यदि चतुर और समर्थ मन भी सामान्य ही रहता है, तो वह क्या कभी स्वेच्छया स्वयं को पार कर सकता

है ? मन की सामान्यता तरह-तरह की सनक और लहरीपन में व्यक्त होती है, परंतु उसकी केवल निन्दा या निषेध करने से उसमें कोई अन्तर नहीं आयेगा। निन्दा या अपराध के सभी भाव विलुप्त होने पर, क्या इस सामान्य अवस्था को पनपानेवाले कारण को खोजना सम्भव है ? अब इस शब्द का अर्थ हमारी समझ में आया है। इसलिए इसी अर्थ को ध्यान में रखेंगे। सामान्यता में निहित एक घटक यही है न—प्राप्ति की, परिणाम की, सफलत, की अभिलाषा ? और जब हम सृजनशील बनना चाहते हैं, तब हम अभी भी इस प्रश्न का सतही स्तर पर ही विचार करते हैं, करते हैं न ? मैं 'ऐसा' हूँ, जिसे बदलकर, मैं 'वैसा' बनना चाहता हूँ, अत: मैं पूछता हूँ—कैसे ? परन्तु सृजनशीलता जब एक लक्ष्य बनती है, जिसके पीछे हमें प्रयासपूर्वक लगना है, जो प्राप्तव्य बन गयी है, तब उसे मन अपने ही स्तर पर, हीन अवस्था में लाकर दाखिल करता है। इस प्रक्रिया का आकलन हमें करना होगा, और सामान्यता को अन्य रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न छोड़ देना होगा।

"आपके कहने का अर्थ ऐसा ही है न, कि अपने स्वरूप को बदलने का मन का कोई भी प्रयत्न केवल स्वयं का ही भिन्न रूप में सातत्य कायम रखने में परिणत होता है, इसलिए वास्तव में परिवर्तन होता ही नहीं ? यही कहते हैं न आप ?"

यही वास्तविकता है, है न ? मन की वर्तमान अवस्था उसके ही प्रयासों का परिणाम है, अपनी ही इच्छाएँ और भय, अपनी आशाएँ, सुख और दुःख—इन्हीं से तो उसका आज का रूप निर्माण हुआ है; इस स्थिति से स्वयं को निकलकर, अपना परिवर्तन करने का कोई भी प्रयत्न पुनः उसी दिशा में अग्रसर होगा। क्षुद्रमन क्षुद्र न रहने की कोशिश में क्षुद्र ही रहता है। तब हमारी समस्या का निश्चित स्वरूप यही है–किसी भी दिशा में, कुछ भी बनने का मन का समूचा प्रयास समाप्त होगा।

अर्थात् समस्या यही है। परन्तु इसमें एक नकारात्मकता, एक रिक्तता अभिप्रेत तो नहीं है न ?

यदि शब्दों का मौलिक अर्थ बिना समझे, प्रयोग और अनुभव न करते हुए, केवल श्रवण किया जाता है, तब उनसे निकाले निष्कर्षों का कोई अर्थ नहीं।

"इसका आशय यह कि सृजनशीलता के लिए प्रयत्न करना नहीं चाहिए। किसी भी दबाव के कारण, किसी भी क्रिया के माध्यम से उसे निमंत्रित नहीं किया जाता, उसका अभ्यास नहीं किया जाता, न उसे सीखा जाता है। इस तथ्य का दर्शन मैंने किया। इसे पूर्णरूप से समझने के लिए, आपकी अनुमति हो तो मैं प्रकट शब्दों में सोचूंगा और धीरे-धीरे आपके साथ बढ़कर इसका आकलन करूंगा। अपनी सामान्यता के कारण लज्जित हुए मेरे मन को निषिद्ध—निंदनीय का अर्थ अब प्रकट हुआ है। परिवर्तन की आकांक्षा से यह निन्दाव्यंजक दृष्टि उत्पन्न हुई; परन्तु परि-

वर्तन की आकांक्षा ही मन की क्षुद्रता का परिणाम है, अतः मन तो अभी भी जैसा था, वैसा ही है, और उसमें कोई परिवर्तन आया ही नहीं। यहाँ तक मैं समझा हूँ।"

जब मन स्वयं को परिवर्तित करने के, कुछ बनने के प्रयत्न में नहीं रहता, तब उसकी स्थिति कैसी होती है ?

"तब वह स्व-स्थिति का स्वीकार करता है।"

स्वीकृति में एक अस्तित्व गृहीत है, जो स्वीकार करती है, ठीक है न ? और यह स्वीकृति क्या प्रयत्न का ही एक प्रकार नहीं है, जो अधिक अनुभूति की, अधिक प्राप्ति की अपेक्षा से किया जाता है ? इसलिए द्वैताधारित संघर्ष इस स्वीकृति से प्रवाहित होता है, तो फिर पुनश्च वही समस्या खडी हो गयी, क्योंकि अन्तःकरण की सामान्यता का जन्मदाता संघर्ष ही है। सामान्यता से मुक्ति की अवस्था तब प्रकट होती है, जब सारे संघर्ष का समापन होता है; परन्तु स्वीकार का अर्थ है, केवल मौन भाव से कष्ट-सहन। अथवा 'स्वीकार' शब्द का आपके लिए कोई भिन्न अर्थ है ?

"आपने मुझे स्वीकार शब्द के अर्थ में झाँकने की आन्तर्दृष्टि दी है, इसलिए मै इसमें निहित अलग-अलग भावों को देख सकता हूँ। परन्तु जिस अवस्था में मन न स्वीकार करता है, न तिरस्कार, उसका स्वरूप क्या है ?"

महाशय, आप प्रश्न क्यों पूछ रहे हैं ? इस स्थिति का केवल स्पष्टीकरण नहीं किया जाता, इसका स्वयं उद्‌घाटन करना होता है।

"मैं किसी स्पष्टीकरण की अपेक्षा नहीं कर रहा हूँ, न मैं केवल तर्क-विचार में जा रहा हूँ, परन्तु, क्या मन का सारा चांचल्य विलीन होकर वह कभी निस्तब्ध हो, और इस चांचल्यशून्य स्थिति का उसे भान भी न हो, यह सम्भव है ?

उसका भान होने से द्वैतमय संघर्ष प्रारम्भ होता है, होता है न ?

४४. भावरूप और अ-भावरूप सिखावन

पहाड़ी से नीचे उतरनेवाला मार्ग उबड़-खाबड़ और धूलभरा था, और वह तलहटी के निकट छोटे नगर की ओर जाता था। पहाड़ी की ओर कुछ ही वृक्ष बचे थे, उनमें से अधिकांश ईंधन के लिए काट डाले गये थे, इसलिए घनी छाया के लिए काफी ऊँचाई तक चढ़कर जान पड़ता था। ऊँचाई पर पेड़ झाड़ी के जैसे नाटे नहीं

थे, न उन्हें मनुष्य के हाथों क्षत-विक्षत किया गया था; वे अपनी पूरी ऊँचाई तक बढ़े थे, उनकी शाखाएँ मोटी और पर्ण संभार से घनी थी। एकाध टहनी काटकर अपनी भेड़ों के सामने पत्ते खाने के लिए लोग डाल देते थे और टहनी निष्पर्ण होने पर उसी का ईंधन के लिए उपयोग करते थे। निचले भाग में लकड़ी का अभाव था, इसलिए अब लोग ऊपर-ऊपर चढ़कर पेड़ों का नाश कर रहे थे। पहले जैसी भरपूर वर्षा आजकल नहीं होती थी; आबादी बढ़ रही थी और लोगों को गुजर-बसर तो करनी ही थी। सारे प्रदेश में भूख की समस्या थी और जीना और मरना दोनों भी समानरूप से उदासीभरे थे। आसपास कहीं जंगली जानवर नहीं थे, वे पर्याप्त ऊँचाई पर निकल गये होंगे। झाड़ियों को खरोंचते हुए कुछ थोड़े पंछी थे तो अवश्य, परन्तु वे भी टूटे पंखवाले, थके-माँदे दिखाई पड़ते थे। शुभ्र और काले रंग का बन-सर्रा पंछी एकाकी वृक्ष की एक टहनी से दूसरी पर उड़ते उड़ते कर्कश स्वर में डाँट रहा था।

अब ऊष्मा बढ़ रही थी और मध्याह्न, तक बहुत अधिक बढ़नेवाली थी। अनेक वर्षों से पर्याप्त वर्षा हुई नहीं थी। रूखी धरती में दरारें पड़ी थीं, जो थोड़े वृक्ष थे उनके सर्वांग धूल से भूरे हो गये थे, और प्रातःकाल में ओस बिन्दु की नमी तक नहीं थी। सूर्य निष्ठुर था, दिन पर दिन, महीनों के बाद महीने निकलते जा रहे थे और संशयाधीन वर्षा ऋतु अभी काफी दूर थी। कुछ भेंड़ें पहाड़ी पर चढ़ गयीं, उनके पीछे-पीछे भेड़पाल लड़का भी गया। अन्य किसी को चोटी पर देखकर वह चकित हुआ, परन्तु वह मुस्कुराया नहीं और गम्भीर मुखमुद्रा लेकर भेड़ों के पीछे चला गया। वह स्थान एकांत था और बढ़ती गरमी की नीरवता सर्वत्र व्याप्त थी।

ईंधन का बोझ सिर पर लेकर स्त्रियाँ उस मार्ग से नीचे उतर आयीं। उनमें से एक वृद्धा थी और दूसरी युवती; उनके बोझ काफी भारी दीखते थे। दोनों ने भी हरी लता से एकत्रित बाँधी हुई सूखी टहनियों का लम्बा-सा गट्ठर गेंडुरी के आधार से अपने सिर पर संतुलित रखा था, और एक हाथ से उसे पकड़े-पकड़े चल रही थी। हलकी दौड़ती चाल में पहाड़ी के नीचे आते-आते उनके तन सहज मुक्त-रूप से झूल रहे थे। मार्ग ऊबड़-खाबड़ होने पर भी उनके पैर नंगे ही थे, और वे अपने-आप मार्ग पर आगे बढ़ रहे थे। अपने पैरों के तले देखने की उन दोनों को आवश्यकता ही नहीं थी। अपने मस्तक उन्होंने एकदम तनकर सीधे रखे थे, उनकी आखें लाल, खोयी-सी थीं। दोनों भी बहुत दुबली-पतली थी, और उनकी पसलियाँ तक दिखाई देती थीं। उस वृद्धा स्त्री के मैले बालों की जटाएँ बन गयी थीं, परन्तु तरुण लड़की के बालों में कभी तेल डालकर उन्हें कंघी से सँवारा गया होगा, क्योंकि उनमें भी कुछ स्वच्छ, चमकती लटें दिखाई पड़ती थीं। कुछ ही समय पहले दूसरे बच्चों के साथ उसने भी गीत गाये होंगे और खेल खेले होंगे, परन्तु अब वे दिन बीत

चुके थे। अब इन पहाड़ियों में लकड़ियाँ इकट्ठा करना—यही उसका जीवन था, और मृत्युपर्यन्त यही रहनेवाला था, केवल कभी-कभी, बच्चे के जन्म के साथ कुछ थोड़ा विश्राम उसके भाग्य में होगा।

उस मार्ग से हम सभी उतरने लगे। कई मील दूर चलकर उस छोटे नगर के बाजार में वे अपना बोझ मामूली दाम पर बेचेंगी और दूसरे दिन वही कष्टमय कार्य पुनः प्रारम्भ करेंगी। बहुत देर चुप रहकर वे आपस में बातें करती थीं। अकस्मात् युवती ने अपनी माँ से कहा कि उसे भूख लगी है, और माँ ने जवाब में कहा कि, भूख के साथ ही उनका जन्म हुआ था, भूख को साथ लेकर वे जीते आये थे और मृत्यु का वरण करते समय भी उनकी साथी भूख ही होगी। यही उनका ललाट लेख था। यह वास्तविकता का वर्णन था, उसके स्वर में न उलाहना थी, न क्रोध, न आशा। उस पथरीली पगडंडी पर हम नीचे उतरते रहे। उन स्त्रियों के पीछे सुननेवाला, दयाभाव से विकल हुआ ऐसा कोई अवलोकन करनेवाला चल नहीं रहा था; प्रेम और करुणा के कारण एकरूप होकर, उन्हीं का अंग वह बना नहीं था। वह मानो उनके समरूप ही था; वस्तुतः वह था ही नहीं, केवल वे ही थीं। वे दोनों पहाड़ की चोटी पर मिली कोई अपरिचित बहनें नहीं थीं, वे उसी की थीं; उन लकड़ी के गट्ठरों को पकड़ रखनेवाला हाथ उसी के थे; वह पसीना, वह थकान, वह शरीर से आने वाली गंध, उनकी भूख—सभी उनके नहीं थे–जिनमें कोई बाहर से सम्मिलित हो और दुःख-दर्द व्यक्त करे। काल और अवकाश विलीन हो चुके थे। हमारे मस्तिष्क में कोई विचार थे ही नहीं, थकान इतनी अधिक थी कि विचार करने की शक्ति ही बची नहीं थी; और यदि कोई विचार आया ही होगा तो वह केवल लकड़ी बेचना, भूख तृप्त करना, थोड़ा विश्राम करना और फिर नये सिरे से प्रारम्भ करना—इतना ही हो सकता था। पथरीले पथ पर चलनेवाले चरणों को न कभी आघात लगता था, न माथे पर तपानेवाला सूर्य कोई कष्ट देता था। हम केवल दो ही थे—उस चिरपरिचित पहाड़ी से नीचे उतरनेवाले, नित्य के जैसे उस कुएँ पर प्यास बुझाकर आगे निकलनेवाले और उस स्मृति-शेष झरने के सूखे अंचल को पार करनेवाले—बस, हम केवल दो ही थे।

वे सज्जन बोले, "आपके कुछ प्रवचन मैंने पढ़े और कुछ सुने भी, और मुझे आपका कहना बहुत नकारात्मक लगा; उसमें कोई मार्गदर्शक सुझाव, कोई भावरूप जीवन-प्रणाली का निर्देश नहीं है। पौर्वात्य दृष्टिकोण महान् विनाशकारी है और देखिये उसने पूर्ण को कहाँ लाकर छोड़ा है, आपकी नकारात्मक दृष्टि और विशेषरूप से आपका यह आग्रह कि विचारमात्र से मुक्ति आवश्यक है—हम पाश्चात्यों के लिए बहुत दिग्-भ्रमित करता है; क्योंकि हम पाश्चात्य लोग स्वभाव से और परि-

स्थितिवश भी क्रियाशील और उद्यमी रहे हैं। आप जो सिखा रहे हैं, वह हमारी जीवन-प्रणाली के पूर्णतया विरुद्ध है।"

एक बात कहूँ, यह पौर्वात्य और पश्चिमात्य लोगों के बीच का विभाजन भौगोलिक और यदृच्छा से बना हुआ है, है न? उसका कोई मौलिक महत्त्व नहीं है। किसी एक रेखा की पूर्व या पश्चिम में हम भले रहते हों, चाहे हम भूरे, काले, गोरे या पीतवर्णी हों, फिर भी हम सब मानव ही हैं—ऐसे मानव हैं जो दुःख सहते और आशा भी रखते हैं; भो भयभीत हैं और श्रद्धालु भी; सुख तथा दुःख जैसे यहाँ हैं, वैसे वहाँ भी होते हैं। विचार कभी पौर्वात्य या पाश्चात्य नहीं होता, केवल मनुष्य अपनी संस्कारिता के अनुरूप इस तरह के विभाजन करता है। प्रेम भौगोलिक नहीं है, वह एक प्रदेश में पवित्र माना जाता और दूसरे में नहीं, ऐसा नहीं है। मानव-मानव में आर्थिक और शोषण के हेतु से विभाजन किया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति स्वभाव से या अन्य विशेषताओं में विभिन्न नहीं होते; सबमें समानता भी होती है, और फिर पृथकता भी रहती है। यह सारा काफी स्पष्ट और मानसिक दृष्टि से यथार्थ है, है न!

"आपके लिए यह स्पष्ट और यथार्थ होगा, परन्तु हमारी संस्कृति, हमारी जीवन-पद्धति, पौर्वात्य संस्कृति और पद्धति से नितांत भिन्न है। प्राचीन यूनान के समय से, मन्द गति से विकसित होता आया विज्ञान आज प्रचण्ड परिमाण में वृद्धिगत हुआ है। निश्चितरूप से पूर्व और पश्चिम भिन्न दिशाओं में आगे कूच करते आये हैं।"

विभिन्नता मान्य करके भी हमें समानता का भान रखना होगा। बाह्यवर्ती आविष्कार अलग-अलग होंगे, और हैं भी, परन्तु इन-बाहरी रूप और अभिव्यक्तियों की पार्श्वभूमि में प्रेरणा, दबाव, अभिलाषाएँ और भय एक से ही हैं। इसलिए शब्दों से हम ठगा न जायँ। यहाँ के देशों में हो या वहाँ के, उभय प्रदेश का मानव शान्ति और समृद्धि चाहता है; और साथ ही ऐहिक सुख से कुछ निराले अधिक की भी खोज करता है। सभ्यताओं में जलवायु, परिस्थिति, अन्न इत्यादि के अनुरूप भेद होता होगा, परन्तु मानव विश्व में सर्वत्र संस्कृति मूलतः एक ही है। करुणावान् होना, दुष्टता से दूर रहना, उदारता से व्यवहार करना, द्वेष न करना, क्षमा करना इत्यादि सांस्कृतिक सद्गुण सर्वमान्य हैं। इस मूलभूत संस्कृति के अभाव में यहाँ की या वहाँ की, कोई भी सभ्यता विघटित हो जायेगी, अथवा विनष्ट होगी। नाम मात्र के अविकसित लोग ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे, वे बहुत जल्दी पाश्चात्य तकनीकी ज्ञान सीख लेंगे; वे भी युद्ध-पिपासु सैन्याधिकारी, वकील, पुलिस और यातनागृह तथा अन्य क्रूर उपायों के साथ अत्याचार करनेवाले निरंकुश सत्ताधारी बन सकते हैं।

परन्तु संस्कृति एक नितांत और सम्यक् रूप से पृथक् वस्तु है। ईश्वर का प्रेम और मानव की स्वतंत्रता—ये मूल्य अनायास नहीं पाये जाते और इनके बिना ऐहिक सुख-सुविधाओं का विशेष मूल्य नहीं रहता।

"आपका यह कहना ठीक है, परन्तु आपके नकारात्मक उपदेशों के बारे में मैंने जो कहा, उस पर आप विचार करें, ऐसा मैं चाहता हूँ। मैं सचमुच उनका आकलन करना चाहूँगा, और मेरे सीधे व्यक्त किये विचार औद्धत्यपूर्ण हैं, ऐसा कृपया नहीं मानिये।"

नकारात्मक और भावात्मक—इन शब्दों का अभिप्राय क्या है? अधिकतर लोगों को किसी के आदेशानुसार चलने की आदत होती है। दिग्दर्शन देना और स्वीकारना इसे सकारात्मक उपदेश माना जाता है। किसीका अनुयायी बनना भावात्मक, रचनात्मक है, ऐसा दिखाई देता है और अनुकरण करने का संस्कार जिन पर हुआ है, उन्हें, अनुयायित्व अनिष्ट है, यह सत्य नकारात्मक, विनाशक प्रतीत होता है। सत्य मिथ्या का व्यतिरेक, नकार होता है, वह मिथ्या का विरोधी नहीं है। सत्य अन्वय से और व्यतिरेक से अर्थात् भाव और अ-भाव से पूर्णतः पृथक् है। और परस्पर विरोधी द्वन्द्वों की परिभाषा में जो मन विचार करता है, उसे सत्य का अवबोध कभी हो नही सकता।

"इस सबका पूरा आकलन शायद मुझे नहीं हो रहा है। कृपापूर्वक आप कुछ अधिक स्पष्ट करेंगे?"

देखिये महाशय, हमें अधिसत्ता और मार्गदर्शन की आदत पड़ी हुई है। मार्गदर्शन पाने की प्रेरणा सुरक्षा की, संरक्षण की आकांक्षा से उत्पन्न होती है, साथ ही सफलता की अभिलाषा भी उसकी जननी है। हमारी अत्यन्त गहरी प्रेरणाओं में से एक यह है, है न?

"मैं मानता हूं कि है, परन्तु संरक्षण और सुरक्षितता के बिना मनुष्य..."

कृपया जरा रुकिये, इस विषय में हम साथ-साथ आगे बढ़ेंगे और निष्कर्षों में एकदम कूद नहीं पड़ेंगे। सुरक्षा की आकांक्षा से प्रेरित होकर, केवल वैयक्तिक नहीं, समूह-राष्ट्र-वंशादि की सुरक्षा को ध्यान में लेकर, क्या हमने एक ऐसा विश्व का निर्माण नहीं किया है, जिसमें कोई भी समाज मुख्यतः आन्तर्बाह्य युद्ध के विचार से चिंतित है?

"मुझे मालूम है; मेरा बेटा सागर के उस पार हुए युद्ध में मारा गया था।"

शान्ति मन की एक अवस्था है, सुरक्षा की समूची आकांक्षा से मुक्ति ही शांति है। सुरक्षा चाहनेवाला अन्तःकरण नित्य भय की छाया में जीवित रहता

है। हम केवल भौतिक सुरक्षा के इच्छुक नहीं होते, उससे भी अधिक हम आंतरिक, मानसिक सुरक्षा चाहते हैं। सद्‌गुण, मान्य विश्वास या राष्ट्र इत्यादि संकल्पनाओं के द्वारा उसे पाते हैं। आन्तरिक सुरक्षा की यह अभिलाषा छोटे-छोटे संघर्षरत समूहों को और संकीर्ण, परस्पर विरोधी कल्पनाओं को आकार देती है। यह सुरक्षा की आकांक्षा, इच्छित लक्ष्य तक पहुँचाने की उत्कटता, अनेक प्रकार से अधिसत्ता को निमंत्रित करती है—इसलिए मार्गदर्शन का स्वीकार, आदर्श नमूने का अनुकरण, यश की पूजा, नेता, तारनहार, महात्मा, गुरु—इत्यादि की आज्ञाकारिता, ये अनिष्ट वृत्तियाँ पनपती हैं। इन सबको भावरूप उपदेश, सकारात्मक शिक्षा कहा जाता है, परन्तु सच कहें तो यह है विचारशून्यता और मात्र अनुकरण।

"यह मेरे ध्यान में आता है; परन्तु स्वयं को या दूसरे को तारनहार या सत्ताधारी बिना बनाये ही मार्गदर्शन करना या लेना संभव नहीं है?"

मार्गदर्शन प्राप्त करने की प्रेरणा को समझने का प्रयत्न हम कर रहे हैं, है न? इस प्रेरणा का स्वरूप क्या है? क्या यह भय का परिणाम नहीं है? असुरक्षितता की प्रतीति होने के कारण, अपनी क्षणभंगुरता देखकर एक ऐसी प्रेरणा अंकुरित होती है जो सुरक्षा और शाश्वतता खोजती है; परन्तु यह प्रेरणा तो भय का ही आवेग है। भय क्या वस्तु है इसे समझने के बदले हम उससे दूर भागते हैं, और यह पलायन ही वस्तुतः भय है। पलायन ज्ञात के क्षेत्र में ही होता है और ज्ञात-क्षेत्र के अन्तर्गत बातें समाती हैं: श्रद्धा, कर्मकाण्ड, राष्ट्रभक्ति, धार्मिक आचार्यों के सांत्वनादायी सूत्र, पुरोहितों के आश्वासन इन सभी ज्ञात-विश्व की सीमा में हैं। फिर ये सारे मनुष्य-मनुष्य के बीच संघर्ष उत्पन्न करते हैं, और इस तरह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक समस्या घसीटी जाती है। यदि समस्या का सुलझाव चाहते हैं तो उसकी जड़ ढूंढ़ कर, उसका आकलन करना अत्यावश्यक है। धर्म तथा साम्यवाद जैसे दर्शन मनुष्य को 'क्या–करना–चाहिए' इसकी शिक्षा अर्थात् तथाकथित भावात्मक सिखावन देकर भय की शृंखला को सातत्य प्रदान करते हैं। इसलिए भावरूप मार्गदर्शन, सकारात्मक सीख, विनाशक होती है।

"मैं मानता हूँ, कि आपका दृष्टिबिन्दु क्या है, इसे मैं अभी समझने लगा हूँ, और मुझे आशा है कि मेरा समझना सही है।"

यह कोई व्यक्तिगत, मतानुसारी दृष्टि नहीं है; सत्य की ओर जाने की कोई वैयक्तिक रीत नहीं होती, जैसे वैज्ञानिक तथ्यों की खोज में भी व्यक्तिगत मत-मतांतर नहीं होते। सत्य तक ले जानेवाले मार्ग अलग-अलग होते हैं और सत्य के विभिन्न पहलू होते हैं, यह मान्यता अवास्तविक है। सहिष्णु बनने का यत्न करनेवाले असहिष्णु व्यक्ति का यह केवल तर्कनिष्ठ विचार है।

"शब्दों का उपयोग अधिक सावधानी से करना आवश्यक है, यह मैं समझ गया, परन्तु, आपको मान्य हो तो, मैंने जो मुद्दा पहले उठाया था, उसी की ओर हम वापस चलें, ऐसी मेरी इच्छा है। बहुसंख्य लोगों ने विचार करने का—या जैसे आपने कहा—क्या विचार करें, इसका शिक्षण लिया है, इसलिए, यदि आप अनेक प्रकार से यही कहते रहेंगे कि सभी विचार संस्कारजन्य हैं, अतः इनके परे जाना अत्यन्त आवश्यक है, तो हम सबके चित्त में क्या अधिक संभ्रम निर्माण नहीं होगा?"

अधिकतर लोगों की दृष्टि से विचारक्रिया असामान्य महत्त्व की है, परन्तु क्या वह सचमुच वैसी है? विचार का मर्यादित महत्त्व अवश्य है, परन्तु जिसका जन्म विचार में से नहीं हुआ, उसे पाना विचार के लिए असंभव है। ज्ञात का परिणामरूप है विचार, इसलिए वह अज्ञात की, अज्ञेय की थाह नहीं पा सकता। क्या विचार अभिलाषा नहीं है? यह अभिलाषा भौतिक आवश्यकताओं की हो या श्रेष्ठ आध्यात्मिक लक्ष्य की हो। प्रयोगशाला में व्यस्त वैज्ञानिक के विचार की अथवा एकाध गणितशास्त्री के विचार की चर्चा हम नहीं कर रहे हैं, किन्तु हम चर्चा कर रहे हैं उस विचार की जो हमारे दैनंदिन जीवन में, हमारे नित्य के सम्पर्क और प्रतिक्रियाओं में अनुस्यूत होता है। जीवन्त रहने के लिए हमें विचार करना ही पड़ता है। विचार क्रिया है वैयक्तिक अथवा राष्ट्रीय स्तर पर जीवत बने रहने की प्रक्रिया। विचारक्रिया निम्नातिनिम्न और श्रेष्ठतम इच्छा का रूप है, और वह सदा ही संस्कारबद्धता, स्वसीमाबद्धता होती है। चाहे हम विश्व का विचार करें, चाहे पड़ोसी का, चाहे अपना ही विचार करें या ईश्वर का, हमारा हर विचार सीमित, संस्कारबद्ध होता है, होता है न?

"मैं समझता हूँ कि, "विचार क्रिया" शब्द जिस अर्थ में आप ले रहे हैं, उस अर्थ में वह सीमित है। परन्तु यह संस्कारबद्धता मिटाने में क्या ज्ञान सहायक नहीं होता?"

क्या वह सहायक होता है? जीवन के कितने ही पहलुओं का ज्ञान हमने एकत्र किया है: औषधि, युद्ध, कानून, विज्ञान आदि का—और कुछ थोड़ा अपने विषय में, हमारी अपनी चेतना के सम्बन्ध में भी ज्ञान हमने जुटाया है। हमारे और दुनिया के सन्दर्भ में जानकारी का जो विशाल भण्डार हमारे पास है, उसके सहारे क्या हम दुःख, युद्ध, विद्वेष इत्यादि से मुक्ति पा सके हैं? क्या इसी तरह के अधिक ज्ञान से हम मुक्त होंगे? हम जानते हैं कि जब तक व्यक्ति, समूह या राष्ट्र महत्त्वाकांक्षी रहेंगे, सत्ता के लोभी होंगे, तब तक युद्ध अनिवार्य है, फिर भी हम युद्ध की ओर ले जाने वाली मार्ग पर पूर्ववत् आगे बढ़ते रहेंगे। शत्रुत्व और विद्वेष को जन्म देनेवाली चेतना के केन्द्र का आमूलचूल परिवर्तन क्या ज्ञान के द्वारा संभव है? प्रेम द्वेष का विरोधी तत्व नहीं है, यदि ज्ञान साधन से विद्वेष को प्रेम में परिवर्तित किया

जाता है, तो वह प्रेम है ही नहीं। विचार या संकल्प से यह बदलाव लाया जाता है, तो वह प्रेम नहीं, केवल आत्मरक्षा का वह एक साधन ही है।

"यदि स्पष्ट कहने की अनुमति हो तो बताना चाहूँगा कि आपकी यह बात मैं तनिक भी समझ नहीं पाया।"

जो बीत चुका उसका प्रतिसाद है—विचार, केवल स्मृति का प्रतिसाद है वह, है न ? स्मृति है परंपरा, अनुभूति; और किसी भी नये अनुभव के लिए उसकी प्रतिक्रिया मात्र अतीत से उत्पन्न हुई है, अर्थात् अनुभव सदैव अतीत को समृद्ध, बलवान् बनाता है। अतीत का, काल का परिपाक है मन; अनेक बीते दिनों का उत्पादन है विचार। जब विचार स्वयं को बदलना चाहता है, 'यह बनूँ' या 'यह न बनूँ' ऐसे प्रयास में है, तब एक भिन्न संज्ञा देकर केवल अपना ही सातत्य बनाये रखता है। ज्ञात का परिपाक होने से विचार कभी अज्ञात की अनुभूति कर ही नहीं सकता; काल का परिणाम होने से वह कभी कालातीत का, अनंत का आकलन नहीं कर सकता। जो वस्तुतः 'है' उसके प्रकटन के लिए विचार का समापन होना जरूरी है।

महाशय, देखिये, हमारे पास जो है ऐसा हमें लगता है, उसे खोने का भय हमारे चित्त में नित्य रहता है, इसलिए इन मूलभूत गहरे विषयों में हम कभी अधिक दूर, अंतरंग में उतरते ही नहीं। अपने सतही अस्तित्व पर दृष्टि टिकाकर हम केवल शब्द तथा वाक्यांश को दुहराते रहते हैं, जिनका कोई विशेष अर्थ नहीं होता; अतः हम क्षुद्र बने रहते हैं और जितने विचारशून्य होकर हम बच्चों को जन्म देते हैं, उतने ही अविचार से हम शत्रुत्व पैदा करते हैं।

"जैसा आपने कहा, हमारी तथाकथित विचारपूर्णता में हम विचारशून्य ही हैं। आपकी अनुमति हो तो मैं फिर कभी मिलने आऊँगा।"

४५. सहायता

रास्तों पर लोगों की भीड़ थी और दूकानें वस्तुओं से भरी थीं। शहर का यह विभाग सम्पन्न था, परन्तु रास्तों पर गरीब, अमीर, मजदूर, सफेदपोश इत्यादि हर प्रकार के लोग चल रहे थे। संसार के सभी भागों के स्त्री-पुरुष वहाँ थे, कुछ थोड़े अपने प्रादेशिक पोषाक में थे, लेकिन बहुतांश लोगों ने पाश्चात्य कपड़े ही पहने हुए थे। अनेक नयी-पुरानी मोटरें दौड़ रही थीं, और वसन्त ऋतु के उस प्रभात में कीमती मोटरें क्रोम तथा पालिश से चमकती थीं, और लोगों के चेहरे हँसते और

उजले थे। दूकानों में भी लोगों की भीड़ थी और उनमें से शायद ही किसी को नीले आकाश का भान था। दूकानों की खिड़कियों में पोषाक, जूते, नयी मोटरें और खाने के पदार्थों के प्रदर्शन दिखाई देते थे। सारे लोगों का आकर्षण-केन्द्र ये खिड़कियाँ ही थीं। कबूतर सर्वत्र थे; अनेक लोगों के चलते पैरों के और असंख्य मोटरों के बीच में से वे फुदक रहे थे। अगणित लेखकों की नवीन पुस्तकों की एक दूकान थी। चलते-फिरते इन लोगों की दुनिया में किसी बात की चिन्ता थी, ऐसा दीखा नहीं; युद्ध बहुत दूर, विश्व के दूसरे कोने में चल रहा था, और इधर पैसे, अन्न और काम सभी दृष्टियों से समृद्धि की अतिशयता थी; यहाँ प्राप्ति भी बहुत थी और व्यय भी उतना ही अधिक था। दोनों ओर की ऊँची अट्टालिकाओं के बीच के रास्ते दर्रों के समान थे और कहीं पर भी वृक्ष दिखाई नहीं पड़ते थे। सर्वत्र कोलाहल था। लोगों में विचित्र ढंग की बेचैनी थी, उनके पास सब कुछ था और फिर भी कुछ भी नहीं था, वे एकदम कंगाल थे।

फैशनेबल दूकानों के मध्य में ही एक विशाल गिरजाघर खड़ा था। उसके ठीक सामने उतना ही बड़ा बैंक था; दोनों ही भव्य, प्रभावशाली थे और स्पष्टतः आवश्यक भी। उस विशाल गिरिजाघर में अपनी विशेष पोषाक में एक पादरी, मानवों के लिए जिसने कष्ट सहे, उस एक के विषय में उपदेश दे रहे थे। लोग प्रार्थना में घुटनों पर झुके थे; मोमबत्तियाँ, मूर्तियाँ और अगरबत्तियाँ वहाँ विराजमान थीं। पादरी ने लयबद्ध मंत्रोच्चारण किया और श्रद्धालुओं ने उसका प्रतिसाद दिया; अन्त में वे उठे और बाहर धूप में चमकते रास्तों पर तथा वस्तु-विपुल दूकानों में प्रवेश कर गये। अब गिरिजाघर में शान्ति थी, अपने विचारों में खोये केवल कुछ ही लोग शेष थे। वहाँ की साजसज्जा, रंगीन खिड़कियाँ, व्यासपीठ, वेदी और उस पर जलती मोमबत्तियाँ—सब कुछ मानवी मन को शान्ति देने के लिए वहाँ उपस्थित था।

ईश्वर गिरिजाघरों में मिलनेवाला है, या हमारे अन्तःकरणों में? सांत्वना पाने की प्रेरणा भ्रम निर्माण करती है, समाधान खोजने की यह प्रेरणा ही गिरिजाघर, मंदिर और मस्जिदों की रचना करती है। हम या तो इनमें खो जाते हैं, अथवा सर्वशक्तिमान राज्य संस्था के भ्रमजाल में फँस जाते हैं, और असली वस्तु हमारे हाथ से निकल जाती है। महत्त्वशून्य, मामूली वस्तु समूची जीवन-शक्ति को हड़प कर लेती है। सत्य—या जो भी कहो सो—कभी मन के द्वारा प्राप्त नहीं होता; विचार उसका अनुसंधान नहीं कर पाता; उसके निकट पहुँचानेवाला कोई मार्ग नहीं है; पूजन, प्रार्थना अथवा यज्ञ-कर्म इत्यादि के द्वारा उसे खरीदा नहीं जा सकता। यदि समाधान या सांत्वना हम चाहते हैं, तो किसी न किसी मार्ग से पा सकते हैं; परन्तु उसके साथ अधिक वेदना और दुःख ही आते हैं। समाधान या सुरक्षा की आकांक्षा

में प्रत्येक प्रकार का भ्रमजाल निर्माण करने का सामर्थ्य होता है। सत्य का उदय होने की सम्भावना तभी है, जब मन सम्यक् रूप से नीरव, निस्तब्ध हो जाता है।

हम अनेक व्यक्ति वहाँ एकत्रित थे। बी० ने एक प्रश्न के साथ प्रारम्भ किया—यदि समग्र जीवन की जटिल समस्या का आकलन हम चाहेंगे तो किसी सहायता की आवश्यकता है या नहीं? सत्य पथ का दिग्दर्शक करनेवाला कोई मार्गदर्शक, कोई प्रबुद्ध व्यक्ति क्या आवश्यक नहीं है?

"इतने वर्षों में क्या हमने इस विषय की पर्याप्त चर्चा नहीं की है? कम से कम मैं तो किसी गुरु या आचार्य की खोज कर रहा हूँ"—एस० ने कहा।

बी० ने जोर देकर पूछा, "यदि आप सचमुच सहायता नहीं चाहते हैं तो फिर यहाँ किसलिए आये हैं? क्या आपके कहने का तरीका यह है कि मार्गदर्शन की सारी इच्छा आपने एक किनारे रख दी है!"

"नहीं। मुझे नहीं लगता कि मैंने यह इच्छा त्याग दी है; परन्तु मार्गदर्शन या सहायता प्राप्त करने की यह प्रेरणा किस स्वरूप की है, यह मैं समझना चाहता हूँ। पहले जैसे अब मैं प्राचीन या अर्वाचीन आचार्यों के पास नहीं जाता हूँ, जैसे कोई 'शो-रूम' की चीजें देख-परख कर खरीदने निकलता है। परन्तु सहायता की आवश्यकता मुझे अवश्य है और मैं जानना चाहूँगा कि यह आवश्यकता क्यों महसूस होती है और क्या कभी ऐसा भी समय आयेगा जब मुझे सहायता की आवश्यकता न हो?"

"व्यक्तिशः मेरे लिए यदि सहायता उपलब्ध न होती तो मैं यहाँ होता ही नहीं," एम० ने कहा। "इससे पहले कुछ प्रसंगों में मुझे सहायता मिली है, और इसलिए मैं अभी यहाँ हूँ, पूज्यवर, यद्यपि आपने अनुदायित्व की अनिष्टता जतायी है, तो भी आपसे मुझे सहायता मिलती आयी है, और आपके प्रवचनों और चर्चाओं में जितना अधिक मैं आ सकता हूँ, उतनो बार सातत्यपूर्वक मैं आता रहूँगा।"

हमें सहायता मिलती है या नहीं, इस सन्दर्भ में क्या हम प्रमाण एकत्र कर रहे हैं? एक चिकित्सक, किसी बालक की मुस्कुराहट, अथवा कोई राहगीर; कोई पारस्परिक सम्बन्ध, हवा से उड़ता एक पत्ता, हवामान का बदलाव अथवा कोई एक आचार्य या गुरु—इनमें से कोई भी सहायक हो सकता है। जो व्यक्ति जागरूक, सावधान है, उसे सर्वत्र सहायता मिलती है; परन्तु हममें से अधिकांश व्यक्ति अपने चारों ओर की जीवन्त सृष्टि के विषय में निद्रावस्था में होते हैं। अपवाद होता है केवल किसी विशिष्ट आचार्य अथवा ग्रंथ के लिए होता है; और यही हमारी समस्या है। जब मैं कुछ कहता हूँ तब आप ध्यानपूर्वक सुनते हैं, है न? परन्तु जब कोई अन्य व्यक्ति वही बात शायद भिन्न शब्दों में कहता है, तब आपके कान

बन्द होते हैं। जिस व्यक्ति को आप अधिकारी मानते हैं, उसकी बात आप श्रवण करते हैं, और अन्य व्यक्ति जब बोलते हैं, तब आप सुनते ही नहीं।

उत्तर में एम० कहने लगे, "परन्तु आप जो सर्वसामान्य बात करते हैं, वह अर्थगर्भ होती है, ऐसा मैंने पाया है, इसलिए आपकी बात मैं बहुत ध्यानपूर्वक सुनता हूँ; जब दूसरे कोई बोलते हैं, तब उनका कहना सर्वज्ञात नीरस-सा होता है, एक प्राणहीन प्रतिसाद मात्र लगता है—अथवा शायद मैं स्वयं ही मंद बुद्धि रहा हूँ। मुद्दा यह कि, आपको सुनने पर यदि मुझे सहायता मिलती है, तो क्यों नहीं सुनना चाहिए ? यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति आग्रहपूर्वक कहता है कि 'मैं' केवल आप ही का अनुयायी हूं, तो भी मेरा निश्चय है कि मैं आपके पास ही बार-बार आता रहूँ।"

एक विशिष्ट दिशा से आनेवाली सहायता स्वीकारने को हम खुले मन से क्यों तैयार रहते हैं, और अन्य सभी दिशाओं के लिए हमारे द्वार बन्द क्यों होते हैं ? जान-बूझकर या अनजाने आप मुझे अपना प्रेम, अपनी करुणा देते होंगे, और आप मेरी समस्याओं के आकलन में मेरी सहायता भी करते होंगे; परन्तु मुझे आग्रहपूर्वक ऐसा क्यों मानना चाहिए कि आप ही केवल मेरी सहायता का मूलाधार हैं, एकमात्र तारणहार हैं ? अपने लिए मैं आपको ही सर्वाधिकारी क्यों बना दूँ ? मैं आपकी बात सुनता हूँ, आपके हर उद्गार की ओर ध्यान देता हूँ, परन्तु अन्य व्यक्ति के विधान के लिए मैं उदासीन या बहरा बन जाता हूं। किसलिए ? यही प्रश्न है न ?

"आप यह नहीं कह रहे हैं कि हमें सहायता की खोज नहीं करनी चाहिए," एल० ने कहा। "आप पूछना चाहते हैं कि सहायता देनेवाले एक ही व्यक्ति को सर्वाधिकारी मानकर हम इतना महत्त्व क्यों देते हैं ? ऐसा पूछ रहे हैं न आप ?"

मैं यह भी पूछ रहा हूँ, कि आपको सहायता की अपेक्षा क्यों रहती है ? जब कोई सहायता चाहता है तब उसके पीछे कौन-सी प्रेरणा रहती है ? जब मनुष्य मानपूर्वक, विचारपूर्वक सहायता की तलाश में निकलता है, तब क्या उसे सचमुच सहायता की आवश्यकता होती है अथवा वह एक आश्रय, एक सांत्वना चाहता है ? हम किस वस्तु की अपेक्षा में निकलते हैं ?

बी० ने कहा, "सहायता अनेक प्रकार की होती है। घर काम करनेवाले नौकर से लेकर अत्यन्त प्रसिद्ध शल्य चिकित्सक तक, स्कूल के शिक्षक से सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक तक, सभी किसी न किसी प्रकार की सहायता देते हैं। किसी भी सभ्यता में सहायता की आवश्यकता रहती है, केवल सामान्य स्वरूप की नहीं, प्रत्युत् किसी प्रबुद्ध आध्यात्मिक गुरु के मार्गदर्शन की भी, क्योंकि ऐसे मार्गदर्शन से ही मानवमात्र के लिए सुव्यवस्था तथा शान्ति स्थापित होने में सहायता मिलेगी।"

हम सामान्य बातों को एक ओर रख दें और यह देखें कि हममें से प्रत्येक की दृष्टि से मार्गदर्शन अथवा सहायता का क्या अर्थ होता है। क्या इसका अर्थ यही

नहीं है कि हमारी व्यक्तिगत कठिनाइयाँ, दुःख और वेदना समाप्त हों? यदि आप आध्यात्मिक गुरु अथवा एक चिकित्सक हैं, तो मैं आपके पास सुखदायी जीवन प्रणाली को समझने अथवा किसी रोग से मुक्त होने के लिए आता हूँ। प्रबुद्ध व्यक्ति से हम जीवन जीने की कला सीखना चाहते हैं और विद्वान् से हमें ज्ञान या जानकारी की अपेक्षा रहती है। हमें कुछ प्राप्त करना होता है, हम यशस्वी, सुखी होना चाहते हैं, अत: हमारे इच्छित पारलौकिक या ऐहिक लक्ष्य को प्राप्त कराने में सहायक हो सके, ऐसे जीवन का नमूना हम जानना चाहते हैं। अनेक इधर-उधर के अनुभव लेकर अन्ततः हम सोचते हैं कि सत्य ही सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है, वही सुख-शांति का लक्ष्य है, और तब चाहते हैं कि वह प्राप्त हो। फिर अपनी इच्छा का स्वरूप समझने के लिए हम निकल पड़ते हैं, परन्तु क्या इच्छा या अभिलाषा कभी सत्य तक पहुँचने का मार्ग निश्चित कर सकती है? कितनी ही उदात्त वस्तु के लिए ही क्यों न हो, जब इच्छा प्रकट होती है, तब क्या वह भ्रमजाल ही नहीं उत्पन्न करती है? और जैसे-जैसे आकांक्षा क्रिया में परिणत होती है, वैसे-वैसे क्या वह अधिसत्ता का, अनुकरण तथा भय का एक प्रारूप, ढाँचा बनाती नहीं चलती है? प्रत्यक्ष रूप में यही मानसिक प्रक्रिया सहायता की अपेक्षा वृत्ति में निहित है, है न? तब यह सहायता हुई या आत्मवंचना?

"आपका कहना मान्य न करूँ, यह मेरे लिए कितना कठिन है!" बी० का उद्‌गार था यह। वे आगे कहने लगे, "आपकी बात का महत्त्व, उसका तर्क मैं समझ रहा हूँ। परन्तु मैं जानता हूँ कि आपने मेरी सहायता की है, फिर मैं उसका इन्कार कैसे करूँ?"

किसी व्यक्ति से आपको सहायता मिली, अत: यदि आपने उसे सर्वाधिकारी बनाया तो क्या आपने, केवल उस व्यक्ति से होनेवाली ही नहीं, समूचे विश्व में से जो कोई सहायता आपको मिलेगी उसका भी मार्ग रोक नहीं दिया? क्या चराचर सृष्टि में सर्वत्र ही आपके लिए सहायता उपलब्ध नहीं है? मार्गदर्शन के लिए केवल एक ही दिशा मे क्यों ताकते रहना? और जब आप द्वार बन्द करके स्वत: ही बद्ध हो जाते हैं, तब कोई भी सहायता आप तक कैसे पहुँच सकती है? आप खुले होंगे तो वस्तु-वस्तु से आपको अनंत सहायता उपलब्ध होती है; किसी पंछी के गीत से लेकर किसी अज्ञात मनुष्य की पुकार तक, घास के एक तिनके से लेकर आकाश की असीमता तक सभी आपकी सहायता करने को प्रस्तुत हैं। विषाक्तता और भ्रष्टता तब आक्रान्त करती है जब किसी एक व्यक्ति को सर्वाधिकार सौंपकर आप उसे अपना मार्गदर्शक, अपना उद्धारक बना देते हैं। वास्तविक बात यही है, है न?

एल० ने कहा, "आपकी बात का मुझे धीरे-धीरे आकलन हो रहा है, परन्तु मेरी एक कठिनाई है। अनुयायी के रूप में, मार्गदर्शन की अपेक्षा मैं वर्षों से रखता

आया हूँ। अनुयायित्व का गहरा अर्थ जब आप स्पष्ट करके बताते हैं, तब मेरी बुद्धि इसे स्वीकार करती है, परन्तु मेरे ही भीतर की दूसरी वृत्ति विद्रोह करने खड़ी हो जाती है। अब आप यही बताइये कि भविष्य में मैं किसीका अनुसरण न करूँ? मुझमें निहित इस आन्तर्विरोध का समन्वय मैं कैसे करूँ?"

दो परस्पर विरोधी इच्छाओं को या प्रेरणाओं को जोड़कर उनका समाकलन करना कभी सम्भव ही नहीं है। इन दोनों के साथ जब आप समाकलन की आकांक्षा का तीसरा घटक प्रस्तुत कर देते हैं, तब समस्या को सुलझाने के बदले आप उसे उलझाते मात्र हैं। परन्तु जब अन्य किसी को सर्वाधिकारी बनाने की प्रेरणा का या स्वयं ही आत्म-स्वीकृत ढाँचे का अनुसरण करने की वृत्ति का, साथ ही सहायता की अपेक्षा-वृत्ति का समग्र अर्थ-दर्शन आप कर लेते हैं, तब केवल वह दर्शन ही सब प्रकार के अनुयायित्व को पूर्ण विराम देता है।

४६. मन की नीरवता

दूरवर्ती कुहरे के परे शुभ्र रेत और शीतल सागर था, परन्तु यहाँ असह्य गर्मी थी, वृक्ष के नीचे और घर के अन्दर भी। आकाश की नीलिमा भी फीकी पड़ गयी थी और लगता था कि नमी के सारे सूक्ष्मबिन्दु भी सूर्य ने सोख लिये हैं। सागर की ओर से आनेवाली वायुलहरी रुक चुकी थी और पार्श्ववर्ती स्वच्छ, निकट पर्वत श्रेणी जलती सूर्य किरणों को परावर्तित कर रही थीं। बेचैन कुत्ता ऐसे हाँफ रहा था, मानो असहनीय गरमी से उसका हृदय फट जायेगा। सप्ताह के उपरान्त सप्ताह, अनेक महीनों तक स्वच्छ धूप के उजले दिन आते रहे और जो पहाड़ियाँ वसंत की वर्षा से कभी हरी और मुलायम हुई थी, वे सूर्य ताप से जलकर भूरी पड़ी थी, और धरित्री हो गयी थी शुष्क-कठोर। परन्तु अभी भी उन पहाड़ियों में सौन्दर्य निखर आया था, हरे-हरे झिलमिलाते वृक्षों के और सुनहरे घास के परे वे चमक रही थीं। उनके ऊपर पर्वत श्रेणी के रूखे पाषाण खड़े थे।

पहाड़ियों के बीच में से पर्वतों की ओर ऊपर चढ़नेवाला मार्ग धूलभरा, पथरीला और कष्टदायी था। कहीं भी झरने नहीं थे, दौड़ते जल की लययुक्त ध्वनि कान पर नहीं आती थी। इन पहाड़ियों पर तीव्र उष्णता थी, परन्तु नदी के शुष्क पात्र के किनारे कुछ वृक्षों की छाया में वातावरण तनिक सह्य था, क्योंकि यहाँ पर घाटी की ओर से दर्रे के ऊपर की ओर किंचित्-सी वायुलहरी आ रही थी। यहाँ

की ऊँचाई से अनेक मील दूर सागर का नीलवर्ण दृष्टि पथ में आता था। सर्वत्र कितनी शांति थी, पक्षी भी निस्तब्ध थे और बहुत शोर मचानेवाला, झगड़ालू नीलकण्ठ अब विश्राम कर रहा था। एक भूरे वर्ण का हिरन पगडंडी से नीचे उतर रहा था, अत्यन्त सावधानी और सतर्कता से वह एक सूखे जल-स्रोत के पात्र में पानी के छोटे से पोखरे की ओर जा रहा था। अपने बड़े-बड़े कान हिलाता, झाड़ियों में होनेवाली प्रत्येक हलचल अपनी विशाल आँखों से देखता, वह शिलाओं पर अत्यन्त निस्तब्धता से आगे बढ़ रहा था। अपनी प्यास तो उसने बुझायी, फिर पोखर के पास छाया में वह विश्राम करता, परन्तु दृष्टि में न आनेवाले मनुष्य की उपस्थिति का भान उसे निश्चित ही हुआ होगा, क्योंकि वह अस्वस्थ होकर पगडण्डी से नीचे उतरकर अदृश्य हो गया। इन पहाड़ियों में उस जंगली कुत्ते को देख लेना कितना कठिन था। उसका रंग बिलकुल पाषाणों के जैसा ही था और अपने को कोई देख न ले, इसलिए उसका पूरा प्रयत्न चलता था। उसे देखने को आपने दृष्टि एकटक उसी पर लगायी तो भी वह ओझल हो जाता, और पुनश्च उस पार्श्वपाषाणों से अलग उसे देख नहीं पाते। कुछ थोड़ी-सी हलचल दृष्टि में पकड़ने आप देखते रहते तो थक जाते, किन्तु कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। शायद वह भी उस पोखर के पास आ जाय। कुछ समय पहले ही इन पहाड़ियों में अत्यन्त भयंकर आग लगी थी और ये जंगली प्राणी कहीं दूर निकल गये थे; किन्तु अब कुछ थोड़े लौट भी आये थे। रास्ते के पार एक मादा बटेर अपने डैयन से भी अधिक नवजात चूजों को साथ लेकर चल रही थी, वह मृदुलता से उन्हें धीरज बँधा एक घनी झाड़ी की ओर ले चली थी। चूजे गोल-मटोल पीले-राखी रंग के नाजुक पंखों के गेंद से थे; इस खतरनाक विश्व में वे एकदम नये थे, परन्तु थे प्राणवान और मुग्ध। उस झाड़ी के नीचे कितने ही माँ के ऊपर चढ़ गये थे, परन्तु बहुत सारे तो उसके सुखद पंखों के आश्रय में थे, जन्म के कष्ट से आयी थकान मिटाने विश्राम कर रहे थे।

हम सबको एक में बाँधनेवाला सूत्र कौन-सा है? हमारी आवश्यकताओं से वह सूत्र बना नहीं है, न वह व्यापार और बड़े उद्योगों ने बनाया है, न बैंकों ने या गिरजाघरों ने। ये सब केवल कल्पनाएँ और कल्पनाओं के परिणाम हैं। कल्पनाएँ हमें बांधती नहीं, हम सुविधा या आवश्यकताओं के कारण, या भय, द्वेष अथवा पूजाविधि के हेतु से भले एकत्र आते हों, परन्तु इनमें से एक भी हमें एकत्र रख नहीं सकता। ये सारे आधार हमसे अलग हो जाते हैं, और हम अकेले पड़ जाते हैं। इस अकेलेपन में प्रेम खिलता है और यह प्रेम ही हमें एकत्र करता है।

जो मन नित्य व्यग्र है, वह कभी भी मुक्त नहीं होता, चाहे उसकी व्यग्रता किसी उदात्त विषय के कारण हो या मामूली।

वे एक दूर देश से आये थे, और उन्हें पोलिओ के कारण लकवा था, फिर भी अब वे चल सकते थे और मोटर भी चला लेते थे।

उन्होंने कहा, "अनेक अन्य लोगों के समान ही विशेषत: जिनकी स्थिति मेरे जैसी है, मैं भी विभिन्न गिरिजाघरों से और धार्मिक संघटनों से संबंधित रहा हूँ, परन्तु उनमें से एक ने भी मुझे तनिक भी समाधान नहीं दिया; परन्तु यह खोज कभी समाप्त नहीं होती। मैं मानता हूँ कि मैं गंभीर हूँ, परन्तु मेरी एक कठिनाई है—मैं हूँ ईर्ष्यालु। हममें से अधिक व्यक्ति महत्त्वाकांक्षा से, लोभ अथवा ईर्ष्या से प्रेरित होते हैं। ये सब मनुष्य के निर्मम शत्रु हैं, फिर भी उनसे मुक्त कोई भी तो नहीं दीखते। मैंने ईर्ष्या के विरोध में प्रतिरोध के कितने ही बुर्ज बाँधने का यत्न किया, परन्तु मेरे सारे प्रयत्नों के बावजूद मैं उसके फंदे में बारंबार फँस जाता हूँ; छत में से चूनेवाले पानी के जैसा ही वह है, और मैं कहाँ हूँ इसका भान मुझे होने से पहले ही मैं पाता हूँ कि मैं अधिक तीव्र ईर्ष्या का शिकार बना हूँ। शायद इसी प्रश्न के जवाब में आप अनेक बार बोले होंगे, परन्तु यदि आप धैर्यपूर्वक सुनेंगे तो मैं एक प्रश्न पूछूँगा : ईर्ष्या के इस विक्षोभ से स्वयं को कैसे मुक्त करें?

आपने देखा होगा कि ईर्ष्यालु न बनने की आकांक्षा के साथ परस्पर विरोधी द्वन्द्व के बीच संघर्ष उभर आता है। आकांक्षा या संकल्प, 'ऐसे' नहीं, 'वैसे' बनने को कहते हैं, तो वे संघर्ष उत्पन्न करते हैं। सामान्यत: हम मानते हैं कि यह संघर्ष ही जीवन की नैसर्गिक प्रक्रिया है; परन्तु क्या यह सही है? जो 'है' और जो 'होना चाहिए', इनके बीच इस सतत चलनेवाले संघर्ष को उदात्त और आदर्शनिष्ठ माना जाता है; परन्तु ईर्ष्याशून्य होने की आकांक्षा और उसके लिए प्रयत्न दोनों भी ईर्ष्यालु बनने के समान ही हैं, है न? यदि इस तथ्य को वास्तव में कोई समझ लेता है, तो इन परस्पर विरोधी भूमिकाओं के बीच कोई द्वंद्व शेष नहीं रहता फिर द्वैत के संघर्ष का अन्त होता है। आप घर पहुँचने पर विचार करें, ऐसा यह प्रश्न नहीं है। इसमें निहित तथ्य का आप तत्क्षण अवलोकन करेंगे तो ही ठीक; यह दर्शन ही महत्त्वपूर्ण है, न कि ईर्ष्या-मुक्त होने का प्रयत्न। ईर्ष्या-विरोधी तत्व के साथ लेकर संघर्ष करने से ईर्ष्यामुक्त नहीं हुआ जाता, किन्तु यह मुक्ति आती है वस्तु-स्थिति के आकलन के साथ; किन्तु यह आकलन तब तक संभव नहीं है, जब तक जो है उसे बदलने की चिन्ता में मन रहेगा।

"तब क्या बदलाव, परिवर्तन, आवश्यक नहीं है?"

बताइये, क्या संकल्प-क्रिया से परिवर्तन संभव है? क्या केन्द्रीभूत आकांक्षा का आविष्कार ही संकल्प नहीं है? ईर्ष्या को जन्म देकर अब आकांक्षा एक ऐसी अवस्था की अपेक्षा करती है जिसमें ईर्ष्या न हो। दोनों ही अवस्थाएँ आकांक्षा की अपत्य हैं। इच्छा, आकांक्षा कभी मूलभूत परिवर्तन ला नहीं सकती।

"तब परिवर्तन किससे आयेगा ?"

वास्तविकता के सत्य-दर्शन से। जब तक मन अथवा इच्छा स्वयं को इस स्थिति से उस स्थिति में बदलना चाहते हैं, तब तक सारा बदलाव केवल सामान्य और दिखाऊ होता है। इस तथ्य का सम्यक्, संपूर्ण अर्थ निश्चित करना और समझना आवश्यक है, तभी केवल यथार्थं में पूर्ण परिवर्तन होने की संभावना है। जब तक मन तुलना में व्यग्र रहेगा, निष्कर्ष और परिणाम निकालता, खोजता रहेगा, तब तक बदलाव की बिलकुल संभावना नहीं है। तब तक समाप्त न होनेवाली केवल संघर्षों की शृंखला रहेगी जिसे मन 'जीवन जीना' कहता है।

"आप जो कह रहे हैं, वह बिलकुल सही प्रतीत होता है; परन्तु आपको सुनते-सुनते भी मुझे दीख रहा है कि मैं बदलाव के लिए दौड़धूप करने में फँस गया हूँ। लक्ष्य तक पहुँचने के प्रयत्न में लगा हुआ हूँ।"

गहरी जड़ जमाकर बैठी हुई किसी आदत के भी विरोध में जितना अधिक संघर्ष करते हैं, उतना ही बल अधिक वृद्धिगत होता है। एक आदत के विरोध में दूसरी आदत विकसित करने से कोई लाभ नहीं है, उसके बदले आदत का केवल अवबोधन सधेगा तो उसका समापन स्वयं होता है।

"तब स्वीकार या तिरस्कार न करके, जो 'है' उस वास्तविकता के साथ मुझे नीरव, स्थिरवृत्ति से रहना ही अत्यावश्यक है। यह है एक प्रचण्ड कार्य, परन्तु मैं देखता हूँ कि मुक्ति के लिए केवल यही एक मार्ग है।

"अब एक अन्य प्रश्न पूछना चाहूँगा। क्या शरीर मन पर और मन शरीर पर परिणाम नही करते ? विशेषरूप से मैंने अपने ही उदाहरण में यह बात देखी है। मेरी स्मृति ने मेरे विचारों को व्याप्त किया है—मैं कैसा, निरोगी, बलवान, चपल था और आज की मेरी स्थिति की तुलना में मैं भविष्य में कैसा होने की आशा करता हूँ—इसी पर मेरा सारा चिन्तन केन्द्रित रहता है। मेरी आज की स्थिति को मान्य करना मुझे असंभव-सा लगता है। मुझे क्या करना चाहिए ?"

अतीत के और भविष्य के साथ वर्तमान की इस सतत तुलना के कारण मन की अधोगति होती है और मन वेदना से विह्वल होता है; होता है न ? इस तुलना ने आपको अपनी वर्तमान स्थिति के तथ्य की ओर ध्यान देने से परावृत्त किया है। अतीत पुनः कभी वास्तव बन नहीं सकता और भविष्य तो अनिश्चित, अकथनीय है ही, तब आपके पास क्या रहा ? केवल वर्तमान ही। वर्तमान के साथ आप उचित संबंध तभी रख पायेंगे, जब आपका मन अतीत की स्मृति से और अनागत की आशा से मुक्त होगा। तुलना-मुक्त होकर जब मन वर्तमान की ओर पूरा अवधान देता है, तब कुछ अन्य बातें घटित होने की संभावना रहती है।

"आपके 'अन्य बातें' कहने का क्या तात्पर्य है ?"

जब मन अपनी ही वेदना, आशा और भय को लेकर व्यस्त रहता है, तब उनसे मुक्त होने के लिए कहीं अवकाश, कहीं स्थान रहता ही नहीं। सायं को बंदी बनानेवाली विचार-प्रक्रिया मन को केवल अधिक पंगु बनाती है, और यह एक दुष्ट-चक्र गतिशील हो जाता है। व्यग्रता के कारण मन मामूली, क्षुद्र, उथला बनता है। नित्य व्यस्त रहनेवाला मन मुक्त नहीं होता और मुक्ति के विचार में भी जो व्याप्त है, वह अधिक क्षुद्रता को उत्पन्न करता है। मन चाहे ईश्वर की कल्पना के साथ हो, राज्य के साथ या सद्गुणों के साथ हो, अथवा अपने ही तन को लेकर व्यग्र रहता हो, वह सभी व्यस्तता और व्यग्रताओं में क्षुद्र ही होता है। शरीर के साथ भी विचार में गूँथा रहे, तो वर्तमान से अनुकूल संबंध-स्थापन में बाधा आती है, साथ ही जितनी थोड़ी चपलता आ सकती है, प्राणशक्ति का जितना विकास संभव है, उसमें भी रुकावट आती है। विचारग्रस्त अहम् स्वयं ही वेदना और समस्याओं को निमंत्रित करता है, और इसका भी शरीर पर परिणाम होता है; शारीरिक व्याधियों की चिन्ता से शरीर-स्वास्थ्य पर केवल विपरीत परिणाम ही होते हैं। इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं कि स्वास्थ्य दुर्लक्षित रहे; परन्तु जैसे सत्य को या कल्पना को लेकर मन उलझा रहने से क्षुद्रता ही पनपती है, ठीक वैसे स्वास्थ्य-विचार में लगे रहने से भी मन अपनी ही क्षुद्रता में दब जाता है। विचार-व्यग्र मन और क्रियाशील, तरल मन—इन दोनों में जमीन आसमान का अन्तर है। क्रियाशील मन नीरव, प्रबुद्ध और चयन-मुक्त होता है।

"आपकी सारी बात चेतनमन से ग्रहण कर समझ लेना कुछ कठिन है, परन्तु शायद अचेतन में इसका प्रवेश हो रहा है; कम से कम ऐसी मुझे आशा तो है।

"अन्य एक प्रश्न मैं करना चाहता हूँ। देखिये, मेरा मन कुछ क्षणों तक शान्त, निःशब्द रहता है, किन्तु ये क्षण अपवाद स्वरूप ही हैं। ध्यान के प्रश्न पर मैंने थोड़ा चिन्तन किया है, और उस संदर्भ में आपका कहना थोड़े प्रमाण में पढ़ा भी है, परन्तु बहुत लम्बे काल तक मेरे शरीर की समस्या ही मेरे लिए सर्वोपरि रही। अब मैंने अपनी शारीरिक स्थिति के साथ अधिकतर सामंजस्य स्थापित किया है, अतः मुझे लगता है कि मुझे अपने जीवन में इस नीरव शांति को विकसित करना आवश्यक है। इस दिशा में कोई कैसे कदम बढ़ाये ?"

क्या मन की निःशब्दता को सावधानी से पालन-पोषण करके पुष्ट किया जाता है ? और इसका विकास कौन करेगा ? क्या वह अस्तित्व आपके समग्र अस्तित्व से पृथक् होगा ? जब एक प्रभावी इच्छा अन्य इच्छाओं से प्रबल होगी, अथवा उन सभी के प्रतिरोध में खड़ी होगी, क्या तब निस्तब्ध, नीरव मन का उदय होता है ? जब मन अनुशासित, निश्चित आकार-बद्ध और नियंत्रित होता है,

क्या तब उसमें नीरवता प्रकट होती है ? इन सभी प्रक्रियाओं में परीक्षक निहित है न ? नियंत्रण, तोलन और चयन करनेवाला एक तथाकथित उच्च अहम् उनमें गृहीत है, है न ? और ऐसा कोई अस्तित्व सचमुच कहीं है ? और यदि कोई है भी, तो क्या वह विचार का ही परिणाम नहीं है ? विचार स्वयं का चाहे तो उच्च और नीच, शाश्वत और क्षणभंगुर इस तरह विभाजन भले कर ले, परन्तु वह है तो केवल अतीत का, परम्परा का और काल का परिणाम ही। इस तरह के विभाजन में स्वयं उसकी सुरक्षा है। विचार अथवा इच्छा अब निःशब्दता में संरक्षण चाहती है, और अतः अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उसकी माँग है एक पद्धति की, एक तंत्र की। अब उसे ऐहिक वस्तुओं की नहीं, उनके स्थान पर नीरवता के आनन्द की अपेक्षा है, इसके लिए वह तड़पती है, अतः वास्तव में जो है और जो 'होना चाहिए' इनके बीच वह संघर्ष छेड़ देती है।

"तब क्या नीरव, शांत अवस्था प्राप्त करने की इच्छा न करें ?"

जहाँ तक लक्ष्य का अनुसंधान करनेवाला अहं रहेगा, नीरव शांति असंभव है। साध्यापेक्षी अस्तित्व जब विलीन होगा, कोई भी आकांक्षा शेष नहीं रहेगी, तभी केवल निस्तब्ध मन की नीरवता निखर आयेगी। उत्तर की अपेक्षा न करके केवल यह प्रश्न आप स्वयं से पूछिये : क्या आप का सम्यक् अस्तित्व निःशब्द, शान्त होना संभव है ? क्या मन का सम्पूर्ण अंग, प्रत्यंग, चेतन तथा अचेतन निस्तब्ध, नीरव होना शक्य है ?

४७. संतोष

वायुयान में यात्रियों की भीड़ थी। अतलांतिक महासागर पर वह लगभग बीस हजार फुट की ऊँचाई से उड़ रहा था, और नीचे बादलों का घना गलीचा बिछा था। ऊपर आकाश गहरा नीला था, हमारे पीछे सूर्य था और हम पश्चिम की ओर जा रहे थे। कितने ही समय से बच्चे कुर्सियों के बीच गली में आगे-पीछे दौड़ते, खेल रहे थे, और अब थककर सो गये थे। लम्बी रात बिताने पर अन्य सब यात्री जगे थे और धूम्रपान का और किसी पेय का सेवन कर रहे थे। सामने की कुर्सी पर बैठा व्यक्ति पड़ोसी से अपने व्यवसाय की बात कह रहा था। पीछे की महिला खुशी-खुशी अपनी खरीदी हुई चीजों का वर्णन सुना रही थी और कितना टैक्स भरना होगा, उसका अंदाज लगा रही थी। इतनी ऊँचाई होने पर भी उड़ान बिना धक्का लगाये सहजता से चल रही थी, और हमारे नीचे तो तूफानी हवाएँ बह रही थीं। स्वच्छ

सूर्य प्रकाश में वायुयान के पंख चमकते थे और गतियन्त्र हवा को विलक्षण तीव्रगति से काटते हुए निर्वाध घूम रहे थे। हमारे पीछे हवा का जोर था और हम प्रतिघण्टा ३०० मील की रफ्तार से चल रहे थे।

दो व्यक्ति बीच की तंग गली में कुछ ऊँचे स्वर में बातें कर रहे थे, उनके शब्द, न चाहते हुए भी, संयोगवश कान पर आ ही जाते थे। वे बड़े असामी थे। एक का चेहरा खुले में हवा के थपेड़े खाने से लाल था। वह व्हेल मछली के शिकार के अपने व्यवसाय का वर्णन कर रहा था। यह कार्य कैसे खतरे से भरा था, उसमें मुनाफा कितना होता है, और सागर की लहरें कितनी भयावह और तूफानी होती हैं—इत्यादि की जानकारी दे रहा था। कुछ मछलियाँ सैकड़ों टन वजन की होती हैं; बच्चों को साथ रखनेवाली मादा व्हेल को मारने की मान्यता नहीं है, न एक निश्चित समय के बाद, तथा विशिष्ट संख्या से अधिक मारने की आज्ञा भी नहीं है। इन राक्षसी मछलियों को मारने का एक सुनिश्चित वैज्ञानिक तन्त्र तैयार किया गया है। प्रत्येक समूह को एक विशिष्ट काम करना होता और उसके लिए उसे खास तन्त्र में प्रशिक्षित किया जाता है। इसका कारखाना लेकर चलानेवाले जहाज में एकदम असह्य दुर्गन्ध होती है, परन्तु मनुष्य को उसकी आदत हो जाती है, जैसे किसी भी बात की आदत हो ही जाती है। परन्तु, यदि सब कुछ ठीक चला, इसमें पैसे भी बहुत मिलते हैं। वह व्यक्ति आगे स्पष्टीकरण देने लगा कि मारने में कैसा एक विचित्र आकर्षण रहता है, परन्तु उसी क्षण पेय लाये गये और उनके संवाद का विषय बदल गया।

वध करना मनुष्य को बहुत प्रिय है, चाहे परस्पर का हो अथवा घने जंगल में विचरण करनेवाला तेजस्वी आँखोंवाला निरापद हिरन का हो, या पशुओं का शिकार करनेवाले शेर का वध हो। रास्ते पर किसी सर्प पर जान-बूझकर वाहन चलाया जाता है; भेड़िये को या जंगली कुत्ते को पकड़ने के लिए जाल बिछाया जाता है। सुन्दर पोषाक पहने, हँसते हुए लोग कीमती बन्दूकें लेकर निकलते हैं और अभी-अभी एक दूसरों को पुकारनेवाले मासूम पंछियों को मार डालते हैं। कोई लड़का अपनी हवाई बन्दूक से चुलबुलाते नीलकण्ठ को गोली दागता है और उसके निकट खड़े प्रौढ़ बुजुर्ग दया का एक शब्द तक नहीं निकालते, न उसे डाँटते हैं, इसके विपरीत वे उसकी निशानेबाजी की सराहना करते हैं। तथाकथित खेल के उद्देश्य से या आहार के हेतु मारना, अथवा अपने देश के खातिर या शान्ति के लिए हत्या करना—इन सबमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। समर्थन करने से कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलता। जीवन में केवल एक ही सूत्र हो सकता है : हिंसा न करो। पश्चिम में हम मानते हैं कि प्राणी अपने पेट के लिए ही पैदा हुए हैं, उनका होना हमारे हिंसक आनन्द के लिए है, या फिर उनकी कीमती चमड़ी के लिए है। पूर्व में शतकों से

सिखाया' जाता है और प्रत्येक माता-पिता उसे दुहराते हैं : हिंसा न करो, दयाभाव रखो, करुणावान बनो। यहाँ पश्चिम में प्राणियों को आत्मा नहीं होती, अतः उन्हें बेखटके मार सकते हैं, और उधर पूर्व में प्राणियों में आत्मा होती है, इसलिए सोच लो, और तुम्हारे हृदय को प्रेम का अनुभव हो—यह उपदेश दिया जाता है। प्राणियों का, पंछियों का आहार करना यहाँ एक सामान्य नैसर्गिक बात मानी जाती है, गिरजाघर विज्ञापन इसे मान्यता देते हैं, वहाँ पूर्वीय प्रदेशों में यह मान्यता नहीं है, और विचारशील, धार्मिक लोग परम्परा से और सांस्कृतिक दृष्टि से मांसाहार को छूते नहीं। परन्तु यह परम्परा भी अब शीघ्रता से टूट रही है। इस तरह हमने ईश्वर के लिए और देश के नाम से सदा हिंसा की है और अब इसका सर्वत्र प्रसार है। हिंसा फैल रही है : रातों-रात प्राचीन संस्कृतियों को धकेल कर किनारे लगाया जा रहा है, और कार्यकुशलता, क्रूरता तथा विनाश के साधन सोच-विचारपूर्वक बढ़ाये और बलशाली बनाये जा रहे हैं।

शान्ति राजनीतिज्ञ के अथवा पुरोहित के पास नहीं होती, न वह वकील के या पुलिस के पास होती है। प्रेम से भरपूर मन की एक अवस्था है शान्ति।

एक छोटे व्यवसाय में लगा वह व्यक्ति था, उसे कष्ट तो अवश्य करने पड़ते थे, परन्तु गुजर-बसर हो जाती थी।

उसने बताया, "मेरे काम के सन्दर्भ में चर्चा करने मैं नहीं आया हूँ, मेरी आवश्यकताभर मुझे मिल जाता है, और मेरी आवश्यकताएँ अल्प ही होने से मेरा ठीक चलता है। अति महत्त्वाकांक्षी न होने से मैं तीव्र स्पर्धा के खेल में शामिल नहीं हुआ हूँ। एक दिन रास्ते से जाते-जाते मैंने वृक्षों के नीचे लोगों की भीड़ देखी, तब रुककर मैंने आपकी बात सुनी थी। दो-एक साल पहले की यह बात है, आप जो कह रहे थे, उससे मेरे अन्दर एक हलचल पैदा हुई। मैं अधिक पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, परन्तु अब आपके प्रवचन पढ़ता हूँ और आज आपसे मिलने आया हूँ। अपने जीवन से मैं सन्तुष्ट था, अपने विचारों से, चित्त पर टिकी कुछ हलकी-फुलकी धारणा, निष्ठाओं से मुझे समाधान था। परन्तु उस रविवार को प्रातःकाल से—जब इस घाटी में मैं अपनी मोटर से सहज घूमता-फिरता पहुँचा और योगायोग से आपका प्रवचन सुनने आया—तब से असन्तोष ने मुझे घेर लिया है। ऐसा नहीं कि अपने काम से मैं असन्तुष्ट हूँ, किन्तु मेरे समूचे अस्तित्व को ही असन्तोष ने व्याप्त किया है। असंतुष्ट लोगों के लिए मेरे मन में पहले दया का भाव था। मुझे लगता था कि वे कितने दुःखी होते हैं, किसीसे भी उनका समाधान नहीं होता—और अब मैं उन्हीं की पंक्ति में दाखिल हुआ हूँ। पूर्वकाल में कभी मेरे जीवन से मुझे सन्तोष था, मेरे मित्र, मेरे कार्य, सभी से मैं तुष्ट था; परन्तु अब मैं असंतुष्ट और दुःखी हुआ हूँ।"

क्या मैं पूछ सकता हूँ कि इस 'असंतुष्ट' शब्द से आपका क्या तात्पर्य है?

"उस रविवार के प्रभात में मैंने आपका व्याख्यान सुना, उससे पूर्व मैं एक संतुष्ट व्यक्ति था और मुझे लगता है कि मैं दूसरों को कुछ 'बोर' ही करता था; अब मैं देखता हूँ कि कितना मूढ़ था मैं, और इसलिए अब बुद्धिमान बनने की तथा हर चीज के विषय में जाग्रत रहने की चेष्टा करता हूँ। मैं कुछ बनना चाहता हूँ, कहीं पहुँचना चाहता हूँ और यह प्रेरणा स्वाभाविक ही असंतोष निर्माण करती है। अपनी बात इस तरह कहना चाहूँ तो अब तक मैं निद्रित था और अब मैं जाग रहा हूँ।"

आप जाग रहे हैं अथवा कुछ बनने की आकांक्षा जगाकर फिर से सोने जा रहे हैं? आप कहते ह कि आप निद्रा में थे और अब जाग्रत हुए हैं, परन्तु यह जाग्रतावस्था आपको असंतुष्ट बनाती है, और इससे आप बेचैन, दुःखी हुए हैं। इस वेदना से दूर भागने के लिए आप कुछ बनने का प्रयास कर रहे हैं, किसी आदर्श का अनुसरण करना चाहते हैं। यह अनुकरण आपको पुनः निद्रा में ले जा रहा है; है न?

"परन्तु उस पुरानी स्थिति में मुझे अब जाना नहीं है और मैं चाहता हूँ कि मैं जागृत रहूँ।"

आत्मवंचना करने का मन का यह तरीका कितना विचित्र है न? मन को बेचैन होना पसन्द नहीं है, अपने विचार और कर्म की सुविधाजनक आदर्शों में से, अपनी पुरानी लीक में से धक्का पाकर उखड़ जाना उसे अच्छा नहीं लगता; बेचैन होने के कारण वह ऐसे मार्ग और साधन खोजना चाहता है, जो नयी सीमा में, नये चरागाह उपलब्ध करा देंगे और उनमें वह सुरक्षितरूप से जी सके। अधिकांश लोग यह सुरक्षित क्षेत्र प्राप्त करना चाहते हैं, और सुरक्षा की यह कांक्षा ही हमें सुला देती है। कुछ परिस्थितियाँ, कोई शब्द, हावभाव, एकाध अनुभव, हमें जागृत करते हैं, बेचैन कर देते हैं, परन्तु हम पुनः सो जाना चाहते हैं। बहुत से लोगों के जीवन में यही घटित होता है, और यह स्थिति जागृति की सर्वथा ही नहीं है। स्वयं निद्रित होने के मन के तरह-तरह के मार्ग हमें समझ लेने होंगे, मन की यह निद्रा-प्रवणरीति ही उसकी वास्तविकता है, है न?

"स्वयं निद्राधीन होने के मन के मार्ग असंख्य होंगे, उन सबको समझकर उनका निवारण करना क्या सम्भव है?"

उसके अनेक उपायों का निर्देश कर भी सकेंगे; परन्तु इससे समस्या हल नहीं होगी; क्या हो सकेगी?

"क्यों नहीं होगी ?"

जिन रीतियों से मन स्वयं को सुला लेता है, उन्हे केवल समझ लेने का अर्थ यह है कि पुनः सुरक्षित, चैन से रहने का शायद एक भिन्न मार्ग खोज लेना। नित्य सावधान, जाग्रत रहना, यही महत्त्व की बात है, यह जाग्रति 'कैसे' रहेगी—यह पूछना महत्त्व का नहीं। सुरक्षित रहने की प्रेरणा से ही 'कैसे' की खोज जन्म लेती है।

"तब फिर क्या किया जाय ?"

असमाधान का शमन करने की आकांक्षा न कीजिए। केवल असमाधान के साथ रहिये। बैचेन न हो—इस आकांक्षा का आकलन होना आवश्यक है। अनेक रूप धारण करनेवाली यह आकांक्षा अर्थात् वस्तुतः जो 'है' उससे पलायन करने की प्रेरणा। जब यह प्रेरणा सहज गिर जाती है, छूट जाती है—किसी चेतन या अचेतन दबाव के कारण टूटती नहीं, सहज छूटती है—तभी केवल असमाधान की यह वेदना मिटती है। जो 'है' के साथ जो 'होना चाहिए' की तुलना वेदना को अंकुरित करती है। तुलना का समापन यह समाधानी, संतुष्ट अवस्था नहीं है, अहम् की क्रियाओं से मुक्त समग्र जागृति की वह स्थिति है।

"यह सारी बात मेरे लिए कुछ नयी-सी है। मुझे दीखता है कि शब्दों को आप एकदम भिन्न, मौलिक अर्थ देते हैं, परन्तु संवाद तभी सम्भव है, जब हम दोनों एक ही समय, एक ही शब्द का एक ही अर्थ करते हैं।"

संवाद ही सम्बन्ध है, है न ?

"मैं अभी जिन अर्थों का ग्रहण करने में समर्थ नहीं हूँ, ऐसे व्यापक अर्थों में आप त्वरित पहुँच जाते हैं। इन सभी की अधिक गहराई में मुझे उतरना होगा, तभी शायद मुझे आकलन होगा।"

४८. अभिनेता

नीचे की पहाड़ियों से भीतर-बाहर मुड़ता हुआ वह मार्ग मीलों तक दूर चला गया था। दोपहर के सूर्य की जलती किरणें सुनहरी पहाड़ियों पर फैली थीं, और इतस्ततः खड़े कुछ वृक्षों तले गहरी छायाएँ अपना एकाकी अस्तित्व मुखरित करती थीं। आसपास मीलों तक कोई बस्ती नहीं थी। इधर-उधर थोड़े एकाकी पशु थे और क्वचित् कभी अन्य मोटर उस समतल, साफ-सुथरे मार्ग पर दीख जाती थी। उत्तर की ओर आकाश गहरा नीला था और चिलचिलाती दीप्ति पश्चिम में थी।

मानवी सुख-दुःखों से बहुत दूर यह ऊसर-बंजर प्रदेश फिर भी विचित्र ढंग से जीवन्त था। यहाँ पक्षी कहीं भी नहीं थे, रास्ते पर इधर-उधर दौड़नेवाली कुछ गिलहरियों को छोड़ अन्य कोई जंगली प्राणी दिखाई नहीं पड़ते थे। जहाँ गो आदि पशु घूम रहे थे, उन एक-दो स्थानों को छोड़कर पानी भी दृष्टि में नहीं आ रहा था। वर्षा के साथ पहाड़ियाँ हरी, मृदु और स्वागतशील होंगी, परन्तु अभी वे विलक्षण गहरी निस्तब्धता के सौंदर्य से कठोर और तपस्यापूत बनकर खड़ी थीं।

वह एक विचित्र-सी संध्या थी, तीव्र और सघन, परन्तु लहर पर लहर जैसी पहाड़ियों के बीच आगे-पीछे मुड़ते मार्ग में काल का अन्तिम छोर आ गया था। तख्ती कहती थी कि उत्तर दिशा में जानेवाला प्रमुख मार्ग यहाँ से अठारह मील दूर है; मोटर को वहाँ पहुँचने में आधी घण्टा समय लगा : काल और अन्तर। तथापि उस क्षण मार्ग के किनारे लगायी उस तख्ती की ओर दृष्टि डालते देश और काल शेष नहीं थे। उस क्षण का नाप नहीं लिया जा सकता था; उसका न आदि था न अन्त। नीला आकाश और लहरों सी फैली सुनहरी पहाड़ियाँ, विस्तृत और असीम विराजती थीं। परन्तु वे भी इस कालातीत का अंग ही थीं। आँखें और मन मार्ग पर दृष्टि रखकर सतर्क थे; घने और एकाकी वृक्ष स्पष्ट और तीव्र रेखांकित थे और तृण का प्रत्येक स्वतंत्रपर्ण वर्तुलाकार मुड़ती पहाड़ियों पर स्पष्ट, सरल दिखाई पड़ता था। संध्या की ओर झुकता दोपहर का प्रकाश पहाड़ियों के बीच तथा वृक्षों के आस-पास अत्यन्त निस्तब्धता से विस्तरित था, और इन सबके बीच गतिमान केवल यह मोटर ही थी, जो तीव्रता से दौड़ती हुई बढ़ रही थी। शब्दों के बीच की नीरवता उस अमेय निस्तब्धता से एकरूप थी। इस मार्ग का दूसरे से मिलने पर अन्त आयेगा और वह दूसरा भी कहीं पर विलीन हो जायेगा। वे निस्तब्ध, घने वृक्ष धराशायी होंगे और उनकी धूल सर्वत्र फैल कर खो जायेगी। मुलायम, हरे दूर्वांकुर वर्षा के साथ निकल आयेंगे और वे भी अनन्तर जीर्ण-शीर्ण हो जायेंगे।

जीवन और मृत्यु अपृथक्, अभिन्न हैं और उनकी पृथकता में अनन्त भीति छिपी है। पृथकता काल का प्रारंभ है। अन्त के भय से प्रारंभ की वेदना जन्म लेती है। इस चक्र में मन पकड़ा जाता है, तब वह काल का जाल बुनता है। विचार काल की प्रक्रिया और परिणाम है, और विचार कभी प्रेम विकसित नहीं कर सकता।

वह एक मान्यताप्राप्त अभिनेता था। वह नाम तो कमा रहा था, परंतु इतना तरुण अवश्य था कि जिज्ञासा की वृत्ति और कष्ट उठाने की शक्ति खो न दे।

"मनुष्य अभिनय किसलिए करता है?" उसने पूछा "कुछ व्यक्तियों के लिए रंगमंच केवल जीविका का साधन मात्र होता है, अन्य कुछ उसे अपनी गर्वभरी अस्मिता को अभिव्यक्त करने का माध्यम बनाते हैं, साथ ही दूसरे कुछ व्यक्तियों को

विभिन्न भूमिकाओं में अभिनय करने से बड़ी उत्तेजना मिलती है। जीवन की वास्तविकताओं से पलायन करके जो कोई आश्रय चाहते हैं, उन्हें भी रंगभूमि में उत्तम सहारा उपलब्ध होता है। इन सभी हेतुओं से मैं अभिनय करता हूँ, और शायद एक अतिरिक्त कारण भी है—और इसे मैं कुछ झिझक के साथ कह रहा हूँ—रंगभूमि के द्वारा मैं कुछ शुभ करूँ, ऐसी आशा है।"

अभिनय से अहम् को क्या अधिक बल नहीं मिलता? हम मुद्राएँ पेश करते हैं, नकाब धारण करते हैं और धीरे-धीरे मुद्रा और नकाब हमारी दैनंदिन आदत बन जाती है, जिसमें आन्तर्विरोध, लोभ, द्वेष इत्यादि अनेक अहम् आ जाते हैं। प्रत्यक्ष घटना को आवृत करनेवाला नकाब रंगभूमि का आदर्श होता है, फिर ऐसी रंगभूमि के द्वारा क्या शुभ हो सकता है?

"कोई शुभ हो नहीं सकता, यही आपका तात्पर्य है?"

बिलकुल नहीं, यह केवल एक प्रश्न है, निर्णय नहीं। नाटक लिखते समय लेखक की विशिष्ट कल्पनाएँ और हेतु रहते हैं, और इन्हें रंगभूमि के द्वारा उपस्थित करने की उसकी इच्छा होती है; अभिनेता है माध्यम, नकाब और इनके द्वारा समाज का मनोरंजन या शिक्षण होता है। क्या यह शिक्षण हितकारी है? अथवा इससे लेखक द्वारा निश्चित किये हुए भले या बुरे, मूढ़ या बुद्धिनिष्ठ नमूनों के अनुसार मन को केवल संस्कारित किया जाता है?

"हे राम, इस सबका तो मैंने विचार ही नहीं किया। देखिये, मैं एक अच्छा यशस्वी अभिनेता बन सकता हूँ, और इसमें पूर्णरूप से खो जाने के पूर्व मैं अपने-आपसे पूछ रहा हूँ कि, अभिनय मेरी जीवन-पद्धति बननेवाली है या नहीं? इस व्यवसाय का अपना एक विचित्र आकर्षण होता है, कभी अत्यन्त विनाशक, तो कभी बहुत सुखद। अभिनय को कोई गम्भीरता से ले सकता है, परन्तु अपने-आप में यह अधिक गंभीर नहीं है। मेरा झुकाव कुछ गांभीर्य की ओर होने से, रंगभूमि मेरी कॅरियर—जीवन-यात्रा बननी चाहिए या नहीं, इस पर मैं सोचता रहा हूँ। मेरे भीतर ऐसा कुछ है जो, इस सबमें निहित हास्यास्पद उथलेपन के विरोध में विद्रोह करता है, और फिर भी इसका मुझे बड़ा आकर्षण है; इसलिए, सौम्य शब्दों में कहूँ तो, मैं बेचैन हूँ। इन सबमें गांभीर्य का सूत्र सदा रहा है।"

अपने जीवन की पद्धति कैसी हो, इसका निर्णय क्या दूसरा कोई कर सकता है?

"नहीं कर सकता, परन्तु दूसरे के साथ चर्चा करने से कभी-कभी बात स्पष्ट हो जाती है।"

एक बात का निर्देश करूँ? जो क्रिया अहम् पर जोर देती है, वह विनाशक होती है; उससे दुःख निर्माण होता है। यही मुख्य विषय है, है न? आपने पहले

कहा है कि आपको शुभकार्य करने की इच्छा है, परन्तु जब किसी भी व्यवसाय से अथवा क्रिया से जाने-अनजाने अहम् को पोषण और सातत्य मिलता हो, तो निश्चित मानिये कि शुभ की संभावना नहीं है।

"क्या सभी क्रिया अहम् के सातत्य पर ही आधृत नहीं है ?"

शायद सदैव नहीं है। बाह्यत: कभी ऐसा दीखेगा कि क्रिया अहम्-संरक्षक है, परन्तु अन्तर में वह वैसी ही होगी, ऐसा बिलकुल भी नहीं। अन्य लोग इस संदर्भ में क्या कहते हैं या सोचते हैं, यह बहुत महत्त्व का नहीं है, परन्तु मनुष्य को आत्म-वंचना नहीं करनी चाहिए। मानसिक विषयों में बहुत आसानी से आत्मवंचना होती है।

"मुझे ऐसा दीखता है कि यदि मैं सचमुच अहम् से निवृत्त होने का विचार करता हूँ तो मुझे जीवन से हटकर किसी मठ में प्रवेश करना होगा या एकान्त आश्रमवासी का जीवन बिताना होगा।"

अहम् से मुक्त होने के लिए क्या आश्रमवासी का जीवन जीने की आवश्यकता है ? देखिये, अहम्-शून्य की हमारी एक संकल्पना होती है और इस संकल्पना के कारण अहम्-शून्य जीवन के आकलन में अवरोध आता है। संकल्पना अहम् का ही एक भिन्न स्वरूप है। मठादि में आश्रय खोजने के बदले क्या यह संभव नहीं है कि अहम् की क्रियाओं के सन्दर्भ में तटस्थ जागृतावस्था में रहे ? यह तटस्थ अवबोध एक ऐसी सम्यक् रूप से भिन्न क्रिया को जन्म देगा जो दु:ख और वेदना का कारण नहीं बनेगी।

"तब ऐसे कुछ व्यवसाय हैं जो निश्चित ही नीरोग, स्वस्थ जीवन के लिए हानिकारक हैं, और मेरा व्यवसाय उन्हीं में से एक है ऐसा मैं मानता हूँ। मैं अभी एकदम तरुण हूँ। मैं रंगभूमि छोड़ सकता हूँ, और इस सबका इतना विचार करने पर तो मुझे पूरा विश्वास है कि मैं अभिनय छोड़ दूँगा। किन्तु फिर मैं करूँगा क्या ? मुझमें कुछ क्षमताएं हैं, कुछ खास गुण हैं, जिनका विकास होने पर वे उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।"

क्षमता अभिशाप भी बन सकती है। अपनी योग्यताओं का, गुणों का उपयोग करके अहम् स्वयं उसमें अटक भी जायेगा, और तब ये योग्यताएँ अहम् की अभिव्यक्ति का और गौरव का साधन बनती हैं। योग्यताओं में खतरा छिपा है, उसे पहचान कर कोई निसर्गदत्त योग्यता पानेवाला व्यक्ति अपने गुणों को ईश्वरार्पण करेगा; परन्तु उसे अपनी योग्यता का भान तो अवश्य ही है, अन्यथा उन्हें अर्पण करने का प्रश्न ही नहीं उठता, और यह भान, कुछ विशेष गुण अपने पास हैं, स्वयं कुछ खास व्यक्ति हैं, यह अवमान पूर्णत: समझ लेना आवश्यक है। स्वयं जो है और

स्वयं के पास जो कुछ है, उसे ईश्वरार्पण करके नम्र होने की कामना करना यह गर्व-युक्त अहंकार ही तो है।

"इन सबकी थोड़ी झाँकी मुझे मिल रही है, परन्तु अभी भी यह बहुत जटिल है।"

शायद, परन्तु सबसे महत्त्व की बात है, अहम् की सूक्ष्म परन्तु स्पष्ट क्रियाओं का चयनरहित पूर्ण अवबोध।

४९. ज्ञान की रीति

पहाड़ों के पीछे सूर्यास्त हो गया था, फिर भी पूर्व की ओर पाषाण पर्वत-श्रेणी पर अभी भी गुलाबी आभा फैली थी। हरित घाटी के मध्य से मुड़ती-मुड़ती राह नीचे की ओर उतरती थी। संध्या नीरव थी और पर्णसम्भार में किंचित् वायु लहरी प्रवाहित थी। क्षितिज पर अभी-अभी सांध्य तारा दिखाई दे रहा था, और कुछ ही समय में सर्वत्र घना अँधेरा छायेगा, क्योंकि चन्द्रोदय होनेवाला नहीं था। अब तक खुले और स्वागतशील वृक्ष अंधेरी रात के लिए निवृत्त होकर अपने में सिमट रहे थे, इन पहाड़ियों में शीतल निशब्दता थी और अब आकाश में अगणित नक्षत्र-तारा निकल आये थे, और उनकी पार्श्वभूमि पर पर्वतश्रेणी स्पष्ट स्वच्छ निखर आयी थी। रात्रि का विशिष्ट गंध सर्वत्र व्याप्त हो रहा था और दूर कहीं कुत्ता भोंक रहा था। यह रात्रि कितनी निस्तब्ध थी! यह भेदक निस्तब्धता पाषाणशिलाओं को; वृक्षों सहित चराचर सृष्टि को आवृत कर कण-कण में प्रविष्ट हो रही थी, और रूखे विषम मार्ग पर सुनाई देनेवाले पदचाप उसका भंग नहीं करते थे।

मन भी अत्यन्त नीरव, निस्तब्ध था। ध्यान कोई किसी परिणाम को साधने का, किसी अतीत या अनागत अवस्था को निमन्त्रित करने का साधन तो नहीं ही है। ध्यान यदि हेतुपूर्वक होता है, तो इच्छित परिणाम आ भी सकता है, परन्तु वह ध्यान नहीं, केवल आकांक्षा की परिपूर्ति है। इच्छा, आकांक्षा कभी भी तृप्त नहीं होती, आकांक्षा का कोई अन्त नहीं है। आकांक्षा को समाप्त करने का या उसका सातत्य बनाये रखने का प्रयास न करते हुए, केवल उसका आकलन—यही ध्यान का आदि है और अन्त भी। परन्तु इससे परे भी कुछ है। यह कैसी विलक्षण बात है कि ध्याता बना ही रहता है, वह सातत्य चाहता है, वह निरीक्षक, अनुभविता; स्मृतियंत्र बनता है, वही मूल्यमापन करता है, संग्राहक बनता है और अस्वीकार में

खड़ा होता है। जब ध्याता द्वारा किया ध्यान होता है, तब वह ध्याता को, अनुभविता को सशक्त बना देता है। मन की निस्तब्धता अर्थात् अनुभविता की अनुपस्थिति, वहाँ निरीक्षक अस्तित्व में नहीं होता, जिसे अपनी निस्तब्धता का भान हो ऐसा अवलोकनकर्ता वहाँ उपस्थित नहीं होता। जब मन स्थिर, निस्तब्ध है, वहाँ बोधरूप जागृतावस्था व्याप्त रहती है। पृथक्-पृथक् सन्दर्भों में व्यक्ति कभी-कभी जागृत रह सकते हैं, वे जाँच कर सकते हैं, प्राप्तव्य के पीछे जाते हैं और सम्भवतः पृच्छा भी करते हैं, परन्तु ये सब क्रियाएँ इच्छा की, संकल्प की हैं। ये कार्य मान्यता और उपलब्धि की प्रेरणा से उद्‌भूत होते हैं। जो नित्य जागृत है, वह कभी कांक्षा या कांक्षा का परिणाम नहीं होता। इच्छा या कांक्षा द्वैत का संघर्ष निर्माण करती है, और संघर्ष है अन्धकार।

उच्चस्तरीय, जाने-माने लोगों से संबंधित वह महिला धनवान थी, और अब अध्यात्म की खोज में अति उत्साह के साथ निकल पड़ी थी। कैथोलिक महात्माओं से तथा हिन्दू आचार्यों से उन्होंने साक्षात्कार किया था, सूफियों के साथ अध्ययन किया था और बौद्ध दर्शन में सतही तौर पर रुचि ली थी।

इसके साथ ही उन्होंने कुछ अधिक जानकारी देते हुए कहा, "अर्थात्, मैंने रहस्य विद्या में भी कुछ ध्यान दिया है और अब मैं आपसे सीखने आयी हूँ।"

अधिक ज्ञान संग्रह करना क्या प्रज्ञा का लक्षण है? आपसे एक बात पूछूं? आप किस चीज की खोज कर रही हैं?

"मैं अपने जीवन के विभिन्न समय में अलग-अलग वस्तुओं की ओर आकर्षित होती आयी हूँ और मैंने जो खोजा उसे सामान्यतः पाया भी। मेरे पास अनुभवों का भण्डार है, मेरा जीवन सम्पन्न और वैविध्यपूर्ण रहा है। अनेक विषयों पर मैंने बहुत-सा पढ़ा है, विख्यात मानस विश्लेषक के पास मैं पहुँची हूँ और फिर भी मेरी खोज चल ही रही है।"

आप यह सारा क्यों कर रही हैं? आपकी यह खोज, चाहे धरातलीय हो या गहरी, किसलिए चल रही है?

"कैसा विचित्र प्रश्न आप कर रहे हैं? यदि मनुष्य खोज नहीं करेगा, तो वह निष्क्रिय, कुण्ठित होकर रहेगा; यदि सातत्यपूर्वक कुछ सीखेगा नहीं तो मनुष्य का जीवन अर्थशून्य हो जायेगा, तब उससे तो मरना ही भला मानना चाहिए।"

मैं पुनश्च पूछना चाहता हूँ कि आप सीख क्या रही हैं? मानवी शरीर रचना और वर्तन पद्धति के विषय में दूसरों का लिखा हुआ पढ़ने से, सांस्कृतिक और सामाजिक विभिन्नताओं का विश्लेषण करने से और अनेक शास्त्र अथवा तत्वज्ञान-

सम्प्रदायों का अध्ययन करने से आपको क्या मिल रहा है ? इतनी सारी जानकारी से आप क्या एकत्र कर रही हैं ?

"मैं मानती हूँ कि यदि अपने पास पर्याप्त ज्ञान होता है, तो वह दुःख से और झगड़े से बचाकर हमें सुरक्षा देगा, इसलिए जहाँ-जहाँ सम्भव हो वहाँ-वहाँ से मैं ज्ञान संग्रह करती रहती हूँ। समझदारी विकसित करने के लिए ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।"

क्या समझदारी आकलन की शक्ति ज्ञान के द्वारा आती है ? अथवा ज्ञान सृजनशील आकलन में बाधारूप ही होता है ? हमारी मान्यता ऐसी दीखती है कि तथ्यों का और जानकारी का संग्रह करने से, विश्वकोष का ज्ञान संभार एकत्र करने से हम अपने बंधनों से मुक्त होंगे। इसमें कुछ भी सत्यता नहीं है। हम सब जानते हैं कि युद्ध कितने व्यर्थ और विनाशक होते हैं, तथापि शत्रुता, द्वेष और युद्ध कहाँ रुके हैं। इन सबको रोकने में ज्ञान निश्चितरूप से असमर्थ है। इसके विपरीत इनको उत्तेजित और प्रोत्साहित करने में ज्ञान की बड़ी भूमिका है। तब, हम ज्ञान-संग्रह क्यों करते हैं, इसकी खोज करनी क्या आवश्यक नहीं है ?

"अनेक शिक्षणतज्ञों के साथ मैंने चर्चा की है। वे सोचते हैं कि यदि ज्ञान का पर्याप्त प्रसार होगा तो मनुष्य-मनुष्य के बीच का परस्पर विद्वेष बिखर जायेगा, मिट जायेगा और विश्व का सम्पूर्ण विनाश टलेगा। मैं मानती हूँ कि इसी विषय की चिन्ता अत्यन्त गम्भीर शिक्षणविद् करते हैं।"

यद्यपि हमारे पास अब अनेक क्षेत्रों की इतनी अधिक जानकारी उपलब्ध है, तो भी मनुष्य का मनुष्य के साथ का पाशविक व्यवहार समाप्त नहीं हुआ है, एक ही समूह के, राष्ट्र के या एक ही धर्म के लोगों में आपस में भी क्रूरता का वर्तन होता ही रहा है। शायद ज्ञान एक अन्य महत्त्व के तत्व पर पर्दा डालकर हमारी दृष्टि बन्द कर रहा है, और शायद यह तत्व ही आज के सारे दुःख और अव्यवस्था की समस्या का एकमेव सुलझाव है।

"कौन-सा है वह तत्व ?"

आप किस भाव से यह प्रश्न पूछ रही हैं ? इसका एक शाब्दिक उत्तर दिया जा सकता है, परन्तु इससे तो पहले से ही बोझिल बने मन पर केवल अधिक शब्दों का भार डालने जैसा ही होगा। बहुसंख्यक लोगों की दृष्टि से ज्ञान शब्द संग्रह ही है, अथवा वह उनके पूर्वग्रह और धारणाओं को सशक्त बनाता है। शब्द और विचार की चौखट में ही अहम् की संकल्पना उदित होकर टिकती है। ज्ञान और अनुभव के कारण इस अहं-संकल्पना का कभी संकोच होता है, तो कभी विस्तार; परन्तु अहम्

का कठोर आन्तर्केन्द्र पूर्ववत् ही रहता है। केवल ज्ञान अथवा शिक्षा उसे पूर्णतः कभी पिघला नहीं सकते। सहज स्वेच्छा से इस केन्द्र का, इस संकल्पना का विलीन होना—यही क्रान्ति है, जबकि स्व-सातत्य नित्य बनाये रखनेवाले ज्ञान से जो क्रिया जन्म लेती है, वह केवल दुःख और विनाश की शृंखला बढ़ाती ही जा सकती है।

"आपने अभी सुझाया कि हमारे दुःख कष्टों का शमन करेगा, ऐसा सही उपाय शायद एक निराले ही तत्व के द्वारा होगा; और मैं अत्यन्त गंभीरता से आपसे पूछ रही हूँ कि वह तत्व कौन-सा है। यदि ऐसा कोई तत्व अस्तित्व में है और उसके आधार पर अपना समूचा जीवन ज्ञानपूर्वक खड़ा कर सकेंगे तो एक सम्यक् रूप से अभिनव संस्कृति विकसित हो सकती है।"

विचार कभी उस तत्व को पा नहीं सकता, न कभी मन उसकी खोज कर सकता है। आप उसे जानना चाहती हैं, और उसे केन्द्र में रखकर, चारों ओर अपने जीवन का निर्माण करना चाहती हैं; परन्तु अपने ज्ञान को लेकर, अपने भय, अपनी आशाएँ, विफलताएँ तथा भ्रम—इन सबको साथ लेकर 'आप' कभी उस तत्व का आवरणभेद कर ही नहीं सकेंगी। उसे अनावृत्त किये विना, इसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार किये बिना केवल अधिक ज्ञान प्राप्त करने से, अधिक सीखते रहने से एक नया अट-काव उस साक्षात्कार की राह में खड़ा होगा।"

"आप यदि मेरा मार्गदर्शन नहीं करेंगे, तो मुझे स्वयं ही उसे ढूंढ़ निकालना पड़ेगा; और आपका तो कहना है कि सारी खोज ही समाप्त होनी चाहिए।"

यदि मार्गदर्शन की सम्भावना होती तो उस तत्व का अनावरण, शोध नहीं होगा। सत्य का शोध करके उसका अनावरण करने के लिए मार्गदर्शन की नहीं, स्वातंत्र्य की आवश्यकता है। तत्व का अनावरण यह कोई पारितोषिक नहीं है जो किसीकी सहायता से प्राप्त हो।

"शायद, आपके इस सारे कथन का मुझे आकलन नहीं हो रहा है।"

तत्व की उपलब्धि के लिए आप मार्गदर्शन चाहती हैं; परन्तु यदि आप मार्ग-दर्शन स्वीकारेंगी तो मुक्त नहीं रहेंगी। जो ज्ञानी हैं उसकी आप गुलाम बन जायेंगी। मैं जानता हूँ, ऐसे जो कहेगा, वह तो अपने ज्ञान का पहले से ही गुलाम है, इसलिए उसे भी खोज के प्रारम्भ में ही मुक्त होना आवश्यक है। खोज तो प्रतिक्षण चलती है, इसलिए ज्ञान एक बाधा मात्र बन जाता है।

"कृपापूर्वक आप इसका कुछ अधिक स्पष्टीकरण करेंगे ?"

देखिये, ज्ञान सदैव भूतकाल का होता है। आपको जो ज्ञान है, वह पहले ही अतीत में प्रविष्ट हो चुका है, है न ? आप वर्तमान या भविष्य को जानती नहीं। ज्ञान की रीति ही ऐसी है कि उससे अतीत ही बलवान बनता है और जिसका

अनावरण किया जाता है, वह शायद पूर्णत: नया होगा, किन्तु आपका ज्ञान तो अतीत का संग्रहीत रूप है, वह कभी नूतन की, अज्ञात की थाह नहीं पा सकेगा।

"आपके कहने का आशय क्या यही है कि, यदि मनुष्य को ईश्वर, प्रेम अथवा जो भी हो, उसका साक्षात्कार करना हो, तो अपने सम्पूर्ण ज्ञान से मुक्त होना अत्यावश्यक है?"

अहम् है अतीत। वह वस्तुओं को, सद्‌गुणों को, कल्पनाओं को संग्रहीत करने की एक शक्ति मात्र है। बीते कल की इस संस्कारिता का परिणाम है विचार। और इस विचाररूपी उपकरण से अज्ञात को अनावृत करने की चेष्टा में आप लगी हैं। यह होना असम्भव है। ज्ञान की परिसमाप्ति होनी चाहिए, तब उस अन्य का प्रकटन होगा।

"तब यह बताइये, ज्ञान-संचय से मन रिक्त कैसे करेंगे?"

'कैसे'?—अर्थात् कोई तंत्र या पद्धति अस्तित्व में है ही नहीं। किसी तंत्र का अभ्यास मन को केवल अधिक ही संस्कारबद्ध करता है, क्योंकि तंत्र के उपयोग से आपके पास परिणाम आता है। ज्ञानमुक्त, अहम्-शून्य मन नहीं आता। किसी मार्ग की उपलब्धि कभी नहीं होती है, ज्ञान के यथार्थ सत्य का केवल तटस्थ अवबोध हो सकता है।

५०. दृढ़-धारणा—स्वप्न

कितनी रमणीय है यह धरित्री! अपने मरुस्थल और समृद्ध खेत, अपने घने वन, सरिताएँ और पर्वतश्रेणियाँ, अपने अगणित पशु-पक्षी और मानव—इन सबको लेकर यह वसुधा कितनी शोभनीय है! इसी धरित्री पर ऐसे भी देहात हैं जहाँ गंदगी और व्याधियों के संकट घिरे हैं और अनेक ऋतुओं में पर्याप्त वर्षा नहीं हुई है; सारे कुएँ सूखे पड़े हैं, पशु अस्थि-पंजर हुए हैं, खेतों मे दरारें पड़ी हैं और बोयी हुई मूँगफली विशीर्ण हो रही है; गन्ना अब बोया ही नहीं जाता, क्योंकि अनेक वर्षों से नदी में पूरा पानी कभी वहा ही नहीं। लोग भीख माँगते हैं, चोरी करते हैं, फिर भी भूखे कंगाल हैं। वर्षा की राह देखते-देखते मृत्यु का ग्रास बन रहे हैं। दूसरी तरफ वे सम्पन्न नगर हैं, उनके रास्ते स्वच्छ, चौड़े हैं, उन पर चमकती नयी मोटरें दौड़ती हैं, उनमें लोग सुस्नात हो सजधज कर निकलते हैं, असंख्य वस्तुओं से भरी पड़ी असंख्य दूकानें हैं। पुस्तकालय, विश्वविद्यालयों की शान है और साथ ही इन नगरों की अटल निशानी—वे झुग्गी-झोपड़ियाँ भी हैं। परन्तु इन सभी के सहित

यह धरती विलोभनीय है, उसकी सारी जमीन, मंदिर के आँगन की और शुष्क रेगिस्तान की भी, सारी भूमि पवित्र है।

कल्पना करते रहना एक बात है और वास्तव में 'जो' है, उसे देखना, यह दूसरी ही बात है, परन्तु दोनों ही बंधनकारी हैं। जो 'है' उसका अवलोकन करना सरल है, किन्तु उससे मुक्त रहना, यह बिलकुल पृथक् वस्तु है; क्योंकि निर्णय, तुलना और कांक्षा से अवलोकन धूसर होता है। नियंत्रक के दखल के बिना अवलोकन करना एक तपस्या ही है। कल्पनाशीलता अहम् की प्रतिमा रचती है और फिर उसकी छाया में विचार कार्यरत होता है। अहम् की इस संकल्पना के साथ, जो 'है' और जो 'होना चाहिए'—इनके बीच संघर्ष विकसित होता है, और यह संघर्ष द्वैताधारित है। तथ्य का, घटना का प्रत्यक्ष दर्शन और तथ्य के विषय में की गयी कल्पना — ये दो अत्यन्त भिन्न स्थितियाँ हैं, और जो मन मत से, तुलनात्मक मूल्यों से बद्ध नहीं है, वही केवल सत्य का दर्शन करने में समर्थ है।

वह महिला बहुत दूर से रेल एवं बस से प्रवास करती हुई पहुँची थी। अन्त में थोड़ा चलना पड़ा था; परन्तु उस दिन ठंडक थी, इसलिए चढ़कर आना अधिक कष्टदायी नहीं था।

उसने कहा, "अपने जीवन की एक अत्यावश्यक समस्या की चर्चा आपके साथ मैं करना चाहती हूँ। जब परस्पर प्रेम करनेवाले दो व्यक्ति अपनी अत्यन्त विरोधी दृढ़ धारणाओं के विषय में आग्रही होते हैं, तब क्या करना चाहिए? दोनों में से एक को क्या आग्रह छोड़ देना चाहिए? सम्बन्ध तोड़नेवाला यह विनाशक अन्तर क्या प्रेम से पाटा जा सकता है?"

यदि प्रेम होगा, तो क्या तोड़नेवाली बंधनकारी दृढ़ धारणाएँ रहेंगी?

"शायद नहीं रहेंगी; परन्तु अब तो बात प्रेम की स्थिति से परे चली गयी है; अब दृढ़ धारणाएँ कठोर, पाशवी, न झुकनेवाली बन चुकी हैं। दोनों में से एक झुकने को तैयार, लचीला होगा भी, परन्तु यदि दूसरा वैसा नहीं है तो विस्फोट अनिवार्य है। उसे टालने के लिए क्या कुछ कर सकती हूँ? दोनों में से एक झुकने को, समझौता करने को तैयार हो, परन्तु दूसरा यदि पूर्ण दुराग्रही ही रहे, तो उस व्यक्ति के साथ जीना ही असंभव होता है, फिर उसके साथ कोई सम्बन्ध शेष नहीं रहता। इस दुराग्रह के कारण भयंकर परिणाम आ सकते हैं, परन्तु संबंधित व्यक्ति अपने दृढ़ मतों के लिए शहीद होने को भी तैयार है। कल्पनाओं का स्वरूप कितना भ्रामक होता है, यह देखने पर यह सारा व्यवहार मूर्खतापूर्ण ही लगता है; परन्तु यदि अपने पास ठोस जैसा कुछ न हो तो कल्पना ही गहरी जड़ें पकड़ती हैं। कल्पनाओं की प्रखर दीप्ति के सामने दयाभाव और विवेक शून्य हो जाते हैं। जिस व्यक्ति

के सन्दर्भ में यह सब कह रही हूँ, उन्हें पूरा और पक्का विश्वास है कि उनके अध्ययन से जो कल्पना और सिद्धान्त उन्हें मिले हैं, वे ही सारी मानव-जाति के लिए शान्ति और विपुलता लाकर विश्व को बचानेवाले मूल्य हैं, और वे सोचते हैं कि अपने आदर्श को धरती पर उतारने के लिए आवश्यक हो तो हत्या और विनाश भी साधनरूप में समर्थनीय हैं। अन्तिम साध्य ही सर्वोपरि है और साधन महत्त्व का है ही नहीं; उस ध्येय के प्राप्ति तक किसी का कोई मूल्य है ही नहीं।''

इस तरह का मन जिसका होगा, वह व्यक्ति यह मानता है कि उससे भिन्न निष्ठा रखनेवालों के विनाश में ही उसका अपना मोक्ष है। पूर्वकालीन कुछ धर्मविचारों की ईश्वर के निकट पहुँचने के लिए यही मान्यता थी, और अभी भी उनमें बहिष्कार, शाश्वत नरक-वास इत्यादि की मान्यताएँ हैं। आप जिस विचार की बात कर रही हैं, वह तो अत्याधुनिक धर्म ही है। हम गिरिजाघरों में विभिन्न कल्पनाओं में, महात्माओं में एवं गुरुओं में आशास्थान खोजते हैं, परन्तु ये सभी दुःख और विनाश की परम्परा ही निर्माण करते हैं। इन दुराग्रही दृष्टिकोणों से अपने-आप को मुक्त रखने की आवश्यकता है; क्योंकि कल्पनाएँ कितनी ही महान्, कितनी ही सूक्ष्म और प्रत्ययकारी क्यों न हों, वे फिर भी भ्रामक ही होती हैं, वे सम्बन्धों को तोड़ती हैं, नष्ट करती हैं। जब कल्पना, मत और धारणाओं के जाल से मन मुक्त होता है, तब मानसिक प्रक्षेपणों से पूर्णतः भिन्न ऐसा एक तत्व, जीवन का सत्य उभर आता है। हमारी समस्याओं के सुलझाव के लिए हमारा अन्तिम आधार मन नहीं है, बल्कि मन तो समस्याओं का जन्मदाता ही है।

''मैं जानती हूँ कि आप लोगों को परामर्श नहीं देते श्रीमान्, परन्तु इस संदर्भ में क्या करना चाहिए, आप कृपया बतायेंगे? अनेक महीनों से मैं स्वयं से यह प्रश्न करती आयी हूँ, परन्तु मुझे समाधानकारक उत्तर नहीं मिला। किन्तु अभी आपके सामने यह प्रश्न रखते-रखते मैं देख रही हूँ कि इसका निश्चित कोई उत्तर है नहीं, और मनुष्य को प्रतिक्षण जीते जाना चाहिए। जैसा परिस्थिति का आह्वान आयेगा, अहं विस्मृत होकर उसका प्रतिसाद देते जीवन जीना चाहिए। तब शायद सौम्य, मृदु व्यवहार की और क्षमाभाव की सम्भावना है। परन्तु यह कितना कठिन परीक्षा का समय होगा।''

जब आप कहती हैं कि 'कितना कठिन परीक्षा का समय होगा', तभी आपने क्षण क्षण में प्रेम और मार्दव के साथ जीना तो छोड़ ही दिया। मन स्वयं को भविष्य में प्रक्षेपित करता है, और इस तरह समस्या उत्पन्न करता है—और यह तो अहम् का स्वभाव ही है। भूत और भविष्य के आधार से ही तो मन जीवित रहता है।

"एक भिन्न प्रश्न आपसे पूछना चाहती हूँ। मेरे स्वप्नों का अर्थ मुझे समझना क्या संभव है? आजकल मुझे बहुत स्वप्न आने लगे हैं, और मुझे मालूम है कि ये स्वप्न मुझसे कुछ कहना चाहते हैं। परन्तु उनमें दीखनेवाले प्रतीक और प्रतिमाओं का अर्थ मैं निश्चित नहीं कर पाती हूँ, और ये मेरे स्वप्नों में बारम्बार दिखाई देते हैं, परन्तु इनका स्वरूप सदैव वही नहीं रहता, वे बदलते हैं, किन्तु उन सबमें मूलतः एक ही आशय और अर्थ रहता है—कम से कम मैं ऐसा मानती हूँ, शायद मैं इस विषय में गलत भी हो सकती हूँ।"

स्वप्नों के सन्दर्भ में 'अर्थ निश्चित करना' इस शब्द प्रयोग से आपका क्या अभिप्राय है?

"मैंने जैसे स्पष्टरूप से पहले ही कहा, अनेक महीनों से मुझे चिन्ता में डालनेवाली एक अत्यन्त गंभीर समस्या मेरे जीवन में उपस्थित हुई है, और मेरे सारे स्वप्न इसी समस्या से संबंधित हैं। वे मुझे कुछ बताने की कोशिश करते हैं, शायद मुझे क्या करना चाहिए इसका इशारा वे करते हैं, और यदि मैं उनका सही अर्थ निर्णय कर पाऊँगी तो मैं समझ जाऊँगी कि वे मुझे क्या सूचित करना चाहते हैं।"

एक बात स्पष्ट है, कि स्वप्नद्रष्टा स्वप्न से पृथक् नहीं है, स्वप्नद्रष्टा स्वयं स्वप्न ही है। इस तथ्य का आकलन हो ऐसा आपको नहीं लगता?

"आपके कहने का आशय मैं समझी नहीं, कृपया इसे आप स्पष्ट करेंगे?"

हमारी चेतना, अर्थात् अवमान, एक समग्र प्रक्रिया है, तथापि उसमें आन्तर्विरोध भी होंगे। चाहे वह स्वयं को चेतन और अचेतन, प्रकट और अप्रकट—इस तरह से विभाजित कर ले, साथ ही उसमें परस्पर विरोधी कांक्षाएँ, मूल्य, प्रेरणाएँ इत्यादि हो सकती हैं, परन्तु फिर भी चेतनता एक समग्र, एकात्म प्रक्रिया है। चेतन मन को स्वप्न का भान हो सकता है, परन्तु स्वप्न संपूर्ण चेतनता की क्रिया का परिणाम ही है। जब चेतना का सतही स्तर सम्पूर्ण चेतनता के प्रक्षेपणरूप इस स्वप्न का अर्थ करने का प्रयास करता है, तब उसका अर्थ निर्णय एकांगी, अधूरा और विकृत ही होगा। अर्थ निर्णय करनेवाला चेतनांश स्वप्न का और उसमें निहित प्रतीक का यथार्थरूप कभी प्रस्तुत कर ही नहीं सकता।

"मुझे क्षमा कीजिये, किन्तु इन सबका अर्थ मेरे लिए स्पष्ट नहीं हुआ।"

देखिये, चेतन मन, अर्थात् ऊपरी स्तर का चेतनांश अपनी चिन्ता में इतना व्यस्त रहता है, अपनी समस्या का सुलझाव खोजने में इतना व्यग्र रहता है कि अपनी जागृतावस्था में वह कभी शान्त, स्थिर होता ही नहीं। तथाकथित निद्रा में उतना विचलित न होने से, और जागृत अवस्था की अपेक्षा थोड़ा अधिक शान्त होने

से उसे संपूर्ण चेतनता की क्रिया का एक सूचन, एक संकेत मिल जाता है। यह संकेत है स्वप्न। चिन्तित मन अपनी जागृतावस्था में इस स्वप्न का अर्थ निर्णय करने बैठता है; परन्तु इसका अर्थ निर्णय यथार्थ हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसे तत्काल क्रिया करने की और उसके परिणाम की चिन्ता रहती है। चेतनता की सम्यक् प्रक्रिया का आकलन होने से पहले, अर्थ निर्णय करने की इस प्रेरणा का अन्त होना आवश्यक है। अपनी समस्या के सन्दर्भ में सही कर्म कौन-सा होगा, यह खोज करने की तीव्र चिन्ता में आप पड़ी हैं, है न? यह चिन्ता ही समस्या के आकलन में रुकावट डाल रही है, और इसलिए प्रतीकों का आशय सदैव एक ही दीखने पर भी ये प्रतीक सदैव बदलते रहे हैं। तो बताइये, अब समस्या कौन-सी है?

"कुछ भी घटित होने पर भी, भयभीत न होना।"

इतनी सहजता से क्या आप भय को हटा सकेंगी? केवल एक शाब्दिक विधान कभी चिन्ता को दूर नहीं कर सकता। परन्तु क्या समस्या यही है? भय को हटाने की आपकी इच्छा होगी, और आपके सामने पुरानी समस्या के साथ एक नयी समस्या खड़ी हो जाती है; इस प्रकार हम समस्या से समस्या की ओर बढ़ते जाते हैं और उनसे कभी छुटकारा पाते ही नहीं। किन्तु अभी तो हम सर्वथा अन्य बात की चर्चा कर रहे हैं, है न? एक समस्या के स्थान पर दूसरी उत्पन्न करना यह तो हमारा विचार है नहीं।

"तब तो मैं समझती हूँ कि वास्तविक समस्या शान्त, स्थिर मन होना—यही है।" निश्चित ही, केवल यही एक मूल प्रश्न है। निस्तब्ध, नीरव मन।

"मुझे निस्तब्ध मन की उपलब्धि कैसे होगी?"

आप क्या कह रही हैं, देख लीजिये। आप चाहती हैं कि आपको निस्तब्ध मन की प्राप्ति हो, जैसे आप कोई पोषाक या घर प्राप्त करेंगी। एक नवीन लक्ष्य, मन की निस्तब्धता का नया साध्य—सामने आने पर आपने उसकी प्राप्ति के मार्ग और साधनों की पूछताछ प्रारम्भ की है; इसका अर्थ यह हुआ कि आपके सामने एक अन्य समस्या उपस्थित हो गयी। निस्तब्ध मन की तीव्र आवश्यकता और गहरे महत्त्व का केवल अवधान रखिये। निस्तब्धता के पीछे दौड़धूप मत करिये, नीरवता प्राप्त करने के लिए स्वयं को अनुशासन की कारा में डालकर यातना मत दीजिये, उसे न विकसित कीजिये, न करिये उसका अभ्यास। ये सारे प्रयास परिणाम को जन्म देते हैं, और कोई भी परिणाम कभी निस्तब्धतास्वरूप हो नहीं सकता। जो एकत्र जोड़कर बना है, उसे तोड़ा भी जा सकता है। निस्तब्धता के सातत्य की चाह भी न रखिये। क्षण-क्षण में नीरव निस्तब्धता का अनुभव लेना होता है; उसका संग्रह नहीं किया जा सकता।

५१. मृत्यु

यहाँ नदी का विस्तार बहुत अधिक, करीब मीलभर था, और गहराई भी वैसी ही थी। प्रवाह के मध्य जल स्वच्छ और नीलवर्ण था, परन्तु किनारे के निकट वह दूषित, गन्दा और मन्द था। नदी-प्रवाह के ऊपर की ओर, विशाल, फैलते नगर के पीछे सूर्यास्त हो रहा था; नगर की धूल और धुएँ के कारण अस्तायमान सूर्य के रंग अद्‌भुत रम्य हो गये थे, और विस्तृत, नाचती जल-लहरियों पर आकाश के वर्ण प्रतिबिंबित हुए थे, वह संध्या रमणीय थी और तृण का प्रत्येक पर्ण, वृक्ष और चुलबुलाते पक्षी—सभी कालातीत सौंदर्य में एकत्र गूँथे हुए थे। कुछ भी पृथक्, विभक्त नहीं था। दूर स्थित पुल पर से खड़खड़ाहट करती रेल की आवाज इस परिपूर्ण निस्तब्धता का एक अंग ही थी। पास ही एक मछुआरा गा रहा था। दोनों किनारे पर फैले खेतों में फसल खड़ी थी और दिन के समय ये समृद्ध, हरे खेत निमंत्रण देते, मुस्कुराते रहते; किन्तु अब अंधकार से आवृत, नीरव, निवृत्त हो गये थे। नदी के इस पार प्रशस्त खुली जगह थी, जहाँ पर देहात के बालक अपनी पतंगें उड़ाया करते थे, और किलकारियाँ मारते आनन्द मनाते थे। यहीं पर मछुआरों ने जाल सुखाने के लिए फैलाये थे और उनकी पुरानी नौकाएँ वहीं पर लगायी थीं।

गाँव नदी के किनारे से ऊपर ऊँचाई पर था। सामान्यतः उस ओर उनका गाना-बजाना या नृत्य आदि चलता रहता है। परन्तु आज की संध्या में, यद्यपि वे सब अपनी-अपनी झोपड़ियों से निकलकर आसपास बैठे थे, फिर भी शान्त और विचार में डूबे से थे। उनमें से कुछ लोग किनारे की चढ़ाई पर से नीचे उतर रहे थे, और बाँस की डोली पर शुभ्र वस्त्र से ढँके हुए मृत देह को ला रहे थे। वे निकट से निकल गये और मैं उनके पीछे-पीछे चलता गया। नदी के किनारे पहुँचकर, पानी से सटकर, उन्होंने डोली रखी। अपने साथ वे लकड़ी के बड़े भारी कुन्दे और तीव्र जलनशील लकड़ी लाये थे, उनकी चिता रचकर उस पर शव रखा। फिर उन्होंने उस पर नदी के जल का छिड़काव किया और अधिक लकड़ी व घास से उसे ढँक दिया। एक नवयुवक ने चिता को अग्नि दी। हम बीसेक लोग, चारों ओर से घेरकर बैठे थे। स्त्रियाँ यहाँ नहीं आयी थीं और पुरुष वर्ग सफेद कपड़ों में बिलकुल निस्तब्ध उकड़ूँ बैठे थे। अग्निज्वालाओं का उष्ण ताप तीव्रता से बढ़ रहा था और हमें पीछे हटना पड़ा। एक जलता काला पैर अग्नि के बीच से निकल बाहर आ रहा था, उसे एक लम्बी लकड़ी से अन्दर ढकेला गया; वह स्थिर नहीं हो रहा था, तब एक भारी कुंदा उस पर डालना पड़ा, प्रदीप्त पीली ज्वालाएँ काले जल पर प्रति-

बिंबित हो रही थीं, साथ ही आकाश के तारे प्रतिबिंब थे। हलकी-सी चलनेवाली वायुलहरी सूर्यास्त के साथ-साथ विलीन हुई। अग्नि की चट् चट् आवाज के सिवा सारी सृष्टि पूर्ण निस्तब्ध थी। चिता पर मृत्यु जल रही थी। उन निश्चल लोगों के और उन जलती ज्वालाओं के मध्य असीम अवकाश था, एक असीम अन्तर, एक अपार, उत्कट एकाकीपन था। यह सारा जीवन से अलग, टूटा-सा विभाजित नहीं था। जीवन का प्रारंभ वहीं पर था, और यह प्रारंभ सदैव वहीं से होनेवाला था।

अभी-अभी प्रेत का कपाल भग्न हुआ और गाँव के लोग वापस जाने लगे। सबसे अन्त में जानेवाला कोई सम्बन्धी रहा होगा; उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और धीरे-धीरे वह किनारे से ऊपर चढ़ता गया। अब चिता का अल्प भाग ही शेष था; आकाश की ओर ऊँची उठनेवाली ज्वालाएँ शान्त हुई थीं और केवल प्रदीप्त लकड़ियाँ बची थीं। जो जली नहीं ऐसी थोड़ी अस्थियाँ कल प्रातःकाल नदी में विसर्जित की जायेंगी। मृत्यु की अनन्तता, उसकी तात्कालिकता—दोनों भी एक साथ वहाँ सन्निकट थे। उस देह के भस्मीभूत होने के साथ ही, वहाँ उपस्थित इस एक का भी अन्त हो गया। वहाँ परिपूर्ण एकाकीपन था, परन्तु विभक्तता नहीं थी। एकाकीपन था, किन्तु विलगाव नहीं था। विलगाव मन का होता है, मृत्यु में विलगाव कहाँ ?

वे काफी उम्र के बुजुर्ग थे, उनका व्यवहार शान्त और व्यक्तित्व गौरवान्वित था, नेत्र स्वच्छ और चेहरे पर उत्फुल्ल मुस्कुराहट थी। कमरे में ठण्ड थी, अतः वे गरम शाल लपेटकर बैठे थे। विदेश में शिक्षित होने से वे साफ अंग्रेजी बोल रहे थे। उन्होंने कहा कि सरकारी नौकरी से वे अवकाश प्राप्त कर चुके थे और उनके पास काफी समय था। उन्होंने अनेक धर्मों का तथा तत्वदर्शनों का अध्ययन किया था, परन्तु उनकी चर्चा करने वे इतनी दूर नहीं आये थे, ऐसा उनका कहना था।

प्रातःकालीन सूर्य नदी के ऊपर क्षितिज पर उदित हुआ था और जल सहस्र-सहस्र हीरे मणिकों के समान चमक रहा था। बरामदे पर एक छोटा-सा हरा-सुनहरा पंछी धूप सेंक रहा था, वहाँ वह अविचलित, सुरक्षित बैठ सकता था।

अपनी बात आगे चलाते हुए उन्होंने बताया, "वास्तव में मैं एक विशिष्ट बात पूछने के लिए या उसकी चर्चा करने के लिए आपके पास आया हूँ—वह बात है—मृत्यु—जो मुझे बहुत अधिक बेचैन करती है। 'मृतों' के विषय में तिब्बती पुस्तक मैंने पढ़ी है, और इस विषय पर हमारे यहाँ के ग्रंथ जो कहते हैं, उससे मैं परिचित हूँ। खिस्ती और इस्लामी विचारों में मृत्यु के संदर्भ में जो मान्यताएँ हैं, वे अधिकतर सतही स्तर की हैं। यहाँ के और विदेशों के अनेक धार्मिक आचार्यों और गुरुओं के साथ मैंने चर्चा की है, परन्तु मुझे तो उनके सारे सिद्धान्त बहुत

असमाधानकारक लगते हैं। इस विषय पर मैंने बहुत विचार और अनेक बार चिंतन किया है, परन्तु इसमें मेरी कोई प्रगति नहीं हो रही है। कुछ ही दिन पूर्व मेरे एक मित्र ने आपका प्रवचन सुनकर मुझे उसका कुछ अंश बताया था, इसलिए मैं आपके पास आया हूँ। मेरी दृष्टि से समस्या केवल मृत्यु के भय की, अस्तित्व में न रहने की भीति की ही नहीं है, किन्तु मृत्योपरांत क्या होता है, इसकी चिन्ता की भी है। युग-युग से मानवी जीवन में इस समस्या का ऊहापोह होता आया है, और किसीने भी उसका समाधान पाया हो, ऐसा दीखता नहीं। इस सन्दर्भ में आपका क्या कहना है ?''

मृत्यु जीवन की एक वास्तविकता है, इस तथ्य से पलायन करने की प्रेरणा को प्रारंभ से ही हम दूर रखेंगे। यह पलायन होता है किसी तरह के मान्य विश्वास के द्वारा—उदाहरणार्थ : पुनर्जन्म या पुनरुत्थान के द्वारा—अथवा किसी आसान बौद्धिक समर्थन के द्वारा भी पलायन होता है। मृत्यु का तर्कशुद्ध स्पष्टीकरण अथवा इस समस्या का समाधानकारी उत्तर पाने के लिए मन कितना उत्सुक रहता है, और उसके आधार से वह सहजता से किसी भ्रम में आश्रय पा सकता है। इस तरह पलायन करके आश्रय पाने की वृत्ति से मनुष्य को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।

''परन्तु हमारी सबसे बड़ी कठिनाइयों में से एक क्या यही नहीं है ? हम किसी न किसी प्रकार के आश्वासन के लिए तड़पते हैं, विशेषरूप से इस संबंध में जिन महान् व्यक्तियों को ज्ञान और अनुभव है, ऐसा हम मानते हैं, उनसे यही अपेक्षा हम करते हैं। और जब ऐसा आश्वासन हमें नहीं मिलता, तब आशा और निराशा के मध्य झूलते हम सान्त्वना देनेवाली अपनी ही श्रद्धाएँ और सिद्धान्त निर्माण करते हैं। इसलिए कोई आस्था, श्रद्धा—चाहे अत्यन्त तिरस्करणीय हो या सबसे अधिक तर्कशुद्ध ही क्यों न हो—एक आवश्यकता बन जाती है।''

कितना ही तृप्तिदायी आश्रय क्यों न हो, वह समस्या का आकलन नहीं करवा सकता। यह आश्रय के लिए पलायन ही भय का कारण है। वास्तविक घटना से, तथ्य से दूर निकल जाने से भय उत्पन्न होता है। कितना ही सान्त्वनादायी विश्वास हो, उसमें भय का बीज रहता ही है। मृत्यु के तथ्य को दृष्टि से ओझल करने के लिए मनुष्य अपने द्वार बन्द कर लेता है, और मान्य विश्वास एवं सिद्धान्त केवल आसान मार्ग सुझाते हैं। इसलिए यदि मन मृत्यु की असामान्य अर्थवत्ता समझना चाहता है तो उसे अत्यन्त सहजता से, प्रतिरोध न करते हुए, किसी आशादायी सान्त्वना को त्याग देना चाहिए। यह पर्याप्त स्पष्ट बात है, क्या आपको ऐसा ही नहीं लगता ?

''आप बहुत अधिक की अपेक्षा नहीं कर रहे हैं ? मृत्यु का आकलन करने के लिए हमें निराश, हताश होना चाहिए; यही आप कह रहे हैं न ?''

बिलकुल नहीं, महाशय ! जिसे हम आशा का भाव कहते, वह जब नहीं होता, तब क्या निराशा हो होती है ? हमें सर्वदा परस्पर विरोधी द्वंद्वों की परिभाषा में ही क्यों सोचना चाहिए ? क्या आशा निराशा की विरोधी है ? यदि है, तब तो आशा अपने में ही निराशा का बीज संजोती है, और इस प्रकार की आशा में भय की छटा बनी ही रहती है । यदि हम आकलन का उदय चाहते हैं, तो क्या विरोधी द्वंद्वों से मुक्त होना आवश्यक नहीं है ? मन की अवस्था सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु है । आशा और निराशा की क्रियाएँ मृत्यु के अनुभवन और आकलन में बाधा डालती हैं । यह विरोधी द्वंद्वों की गति रुक जानी चाहिए । मृत्यु की समस्या के सामने मन को सर्वथा नवीन अवबोध को लेकर चलना होगा, जिस अवबोध में जागरूकता की, पहचान की प्रक्रिया अनुपस्थित होगी ।

"आपका यह विधान मैं पूरी तरह समझ नहीं पा रहा हूँ । द्वंद्वों से मन मुक्त होने का आशय मैं कुछ धुँधला-सा समझ रहा हूँ । यद्यपि यह आकलन भी अत्यन्त कठिन है, फिर भी मैं मानता हूँ कि यह आवश्यक है । परन्तु पहचान की प्रक्रिया से पूर्ण मुक्त होने का क्या अर्थ है, मैं किंचित् भी नहीं समझ पाया ।"

पहचान ज्ञात की प्रक्रिया है, वह है भूतकाल का परिणाम । जिसका परिचय न हो उससे मन भयभीत रहता है । आप यदि मृत्यु को जानते होते, तो उसका भय हो ही नहीं सकता, और उसका विस्तार से स्पष्टीकरण पाने की आवश्यकता भी नहीं रहती । परन्तु आप मृत्यु को जान ही नहीं सकते, वह पूर्णतया अभिनव है, उसका कभी भी पूर्वानुभव किया नहीं है । जो अनुभूत है, वह ज्ञात है, अतीत है और इस अतीत से, ज्ञात से पहचान होती है । जब तक अतीत से यह गति प्रवाहित रहती है, तब तक नूतन के उदय की संभावना नहीं है ।

"जी हाँ, जी हाँ, अब उसका कुछ भान मुझे हो रहा है ।"

हम दोनों मिलकर जिसकी चर्चा कर रहे हैं, वह विषय बाद में विचार करने का नहीं है, किन्तु जैसे ही हम साथ-साथ आगे बढ़ते हैं, वैसे ही इसका प्रत्यक्ष अनुभव करना होता है । इस अनुभव का संग्रह नहीं कर सकते, क्योंकि यदि संग्रह करते हैं, तो वह स्मृति बन जाता है, और स्मृति, अर्थात् पहचान की रीति, नूतन का, अज्ञात का मार्ग अवरुद्ध करती है । मृत्यु है अज्ञात । समस्या यह नहीं है कि मृत्यु क्या है, और उसके बाद क्या होता है, किन्तु समस्या वस्तुतः यह है : ज्ञात को, अतीत को पोंछकर मन का स्वयं स्वच्छ निर्मल बनना । तब ऐसा जीवन्त, ताजा मन मृत्यु के निवास में प्रवेश कर सकता है, वह मृत्यु से, अज्ञात से भेंट कर सकता है ।

"आप क्या ऐसा सुझा रहे हैं कि जीते-जी ही मनुष्य मृत्यु को जान सकता है ?"

दुर्घटना, व्याधि और वृद्धावस्था के कारण मृत्यु आती है, परन्तु इन परिस्थितियों में पूर्ण अवधान रहना संभव नहीं होता । वेदना, आशा या निराशा, अकेले-

पन का भय—इनकी संभावना रहती है, और मन या अहम् जाने-अनजाने अनिवार्य मृत्यु के विरोध में लड़ता व्यस्त रहता है। मृत्यु का भयानक प्रतिरोध करते-करते हमारा अन्त होता है। परन्तु, प्रतिरोध का भाव न रखकर, विकृत न होते हुए, पर-पीड़न या आत्महत्या की प्रेरणा से शून्य जब मन पूर्ण जीवन्त और स्वच्छ हो, तब मृत्यु के गृह में प्रवेश करना क्या संभव है? यह केवल तब संभव है, जब ज्ञात के, अहं के संदर्भ में मन मृत होता है। इसलिए मृत्यु हमारी समस्या नहीं है; हमारी मूलभूत समस्या है : शतकों से संग्रहीत हुए मानसिक अनुभव से, नित्य वर्धिष्णु स्मृति से, प्रबल और परिष्कृत अहम् से मन का स्वयं मुक्त होना।

"लेकिन यह किया कैसे जायेगा? मन स्वयं को अपने ही बंधनों से कैसे मुक्त कर सकेगा? मुझे ऐसा दीखता है कि, या तो इसके लिए कोई बाह्य हस्तक्षेप आवश्यक है, अथवा मन का ही श्रेष्ठ और उदात्त अंश अतीत को धोकर पूरे मन का शुद्धिकरण करे।"

यह एक अत्यन्त काफी जटिल प्रश्न है, है न? बाह्य अस्तित्व परिस्थिति-जन्य प्रभाव हो सकता है, अथवा यह मन की सीमाओं से परे कोई तत्व हो सकता है। यदि यह बाह्य अस्तित्व परिस्थिति के प्रभावरूप होगी, तो इसी प्रभाव के कारण उसकी परंपराएँ और संस्कृतियों के कारण तो—मन बद्ध हुआ है। यदि यह बाह्य अस्तित्व मन के परे का कोई तत्व होगा तो, किसी भी स्वरूप का विचार उसे स्पर्श तक नहीं कर सकता। विचार काल का परिणाम है; वह अतीत से बद्ध है, गतकाल से वह कभी मुक्त हो ही नहीं सकता। यदि विचार स्वयं को अतीत से मुक्त करता है, तो वह विचार रहता नहीं। मन से परे जो है, उसके विषय में तर्क करना बिलकुल व्यर्थ है; क्योंकि विचार के पार जो तत्व है, वह मध्यस्थ बनकर तभी आ सकता है, जब अहम् के रूप में विचार का समापन होगा। मन क्रियाशून्य निश्चल होना आवश्यक है, और यह निश्चलता हेतुरहित होनी होगी। मन उसका आवाहन नहीं कर सकता। मन अपने क्षेत्र की क्रियाओं का विभाजन कर सकता है, उदात्त और अनुदात्त, इच्छित-अनिच्छित, उच्च-नीच, इस प्रकार के विभाग कर सकता है, और करता भी है; परन्तु ऐसे सारे विभाजन और अनुविभाजन मन की अपनी सीमाओं के अन्तर्गत ही हैं। इसका आशय यह है कि मन की कोई भी गति या चाल किसी भी दिशा में क्यों न हो, वह गतकाल की प्रतिक्रिया है, अहम् की, काल की प्रतिक्रिया मात्र है। यह सत्य ही मुक्तिदायी तत्व है और जो इस सत्य के दर्शन नहीं करता वह, चाहे जो करे; नित्य ही बंधन में रहेगा; उसकी तपस्याएँ, व्रत, अनुशासन, त्याग—सभी समाजशास्त्रीय दृष्टि से और सांत्वना के रूप में महत्त्वपूर्ण होंगे, परन्तु सत्य के सन्दर्भ में उनका कोई मूल्य नहीं है। ❀

५२. मूल्यांकन

ध्यान जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्म है; शायद इस कर्म का मूल्य अन्य सभी कर्मों से अधिक और गहरा है। उसके अद्‌भुत परिमल को सहज नहीं पा सकते, प्रयास एवं अभ्यास का मोल चुकाकर उसे प्राप्त नहीं किया जाता। पद्धति या प्रणाली केवल उतना ही फल देती है, जिसकी अपेक्षा उससे की जाती है, और उसका आधार तो मत्सर और लोभ ही है।

ध्यान करने की कला नहीं सधती है तो इसका यही आशय हुआ कि सूर्य का उज्ज्वल प्रकाश, घनी गम्भीर छायाएँ; चमकता जल और मुलायम पर्ण संसार—इन सृष्टि के नित्यनूतन आविष्कारों के दर्शन करने की समर्थ कला अवगत नहीं है। परन्तु इन सबके दर्शन करनेवाले विरले होते हैं। ध्यान आपको कुछ नहीं देता, इसलिए अपेक्षा रखकर आप इसके सामने हाथ जोड़कर प्रार्थना करने मत आइये। वह किसीको वेदना से बचाता नहीं; परन्तु सभी वस्तुओं को निर्मल और सरल बना देता है। इस सरलता के दर्शन करने हों तो मन को कारण-रहित और हेतुशून्य होकर आना होता है, किसी कारण और हेतुवश एकत्रित की गयी सभी वस्तुओं से मुक्ति पाकर उसे आना होता है। ध्यान में यही रहस्य सर्वोपरि है। ध्यान अर्थात् ज्ञात का विरेचन। ज्ञात विविध रूपों में व्यक्त होता है, उसकी आकांक्षा करने में आत्मवंचना के खेल का शिकार होना पड़ता है, और इस खेल का स्वामी है ध्याता, यहाँ ध्यान के सरल कर्म के लिए अवसर नहीं है। ध्याता का कर्मक्षेत्र केवल ज्ञात की सीमा के अन्तर्गत ही है, अज्ञान के उदय के लिए उसे कर्म-विरत होना होगा। अज्ञेय आपका आवाहन नही करता, न आप उसे निमंत्रित कर सकते हैं। उसका आवागमन वायु के समान है, आप अपने लाभ के लिए, उपयोग के लिए उसे एकत्रित कर संचित नहीं कर सकते। उसका कोई उपयुक्त मूल्य नहीं है, किन्तु उसके अभाव में जीवन की रिक्तता का पार नहीं रहता।

प्रश्न यह नहीं कि ध्यान कैसे करें, किस पद्धति से करें? प्रश्न है, ध्यान का स्वरूप है? "कैसे" पूछने से केवल पद्धति का परिणाम निकल सकता है; परन्तु ध्यान के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा ही उसका द्वार खोलती है। जिज्ञासा की प्रक्रिया मन के क्षेत्र से परे कहीं नहीं चलती, किन्तु वह स्वयं मन की गति के अन्तर्गत ही रहती है। जिज्ञासा के साथ चलने पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात होती है—स्वयं जिज्ञासा का आकलन। यहाँ जिस लक्ष्य की जिज्ञासा है, उसका कोई मूल्य नहीं है। जिज्ञासु तो

अपनी तड़पन, अपने स्वयं के ही दबाव एवं इच्छाओं का प्रक्षेपण चाहता है। इस तथ्य का जब अवलोकन होता है, तब लक्ष्य के पीछे कामनावश होकर जाने की सारी प्रेरणा ही विलीन हो जाती है, और यह बात अपने में ही अत्यन्त अर्थपूर्ण है। बाह्यवर्ती प्रेरणा समाप्त होने पर मन किसी बाह्य लक्ष्य को प्राप्त करने की कामना नहीं करता, अर्थात् बाह्यवर्ती गति और उसकी प्रतिक्रियात्मक आन्तर्वर्ती गति—उभय क्रियाएँ निःशेष हो जाती हैं। परन्तु कामना की द्विविध गति रुकने पर भी मन की एक विशिष्ट गति अवश्य रहती है। संकल्प की क्रिया से अथवा निष्कर्षों की जटिल प्रक्रिया से लक्ष्य की कामना समाप्त नहीं होती। कामना की दौड़ विलीन होने के लिए महान् आकलन शक्ति की आवश्यकता है। कामनातृप्ति के पीछे चली गति का अन्त ही निश्चल, नीरव मन का प्रारंभ है।

जो मन एकाग्र हो सकता है, उसमें ध्यान की शक्ति होगी ही, ऐसा नहीं। स्वार्थ के कारण एकाग्रता होती ही है, और अन्य अभिरुचि भी मन को एकाग्र बनाती है, परन्तु इस प्रकार की एकाग्रता में कोई चेतन या अचेतन हेतु या कारण निहित है, एकाग्र मन में सदैव किसी वस्तु की प्राप्ति या अन्य किसीका निषेध, किसी प्रयास को समझना या कहीं पर पहुँचना—इत्यादि उद्देश्य रहते हैं। लक्ष्य-केन्द्रित अवधान संचय का विचार लेकर प्रवृत्त होता है। किसी वस्तु की ओर या उसकी विरोधी दिशा में जो अवधान गतिशील होता है, उसमें सुख का आकर्षण और दुःख का तिरस्कार रहता है। परन्तु इसके विपरीत ध्यान में जो अपूर्व, असामान्य एकाग्रता निहित है, उसमें प्रयत्नकर्ता या प्राप्तव्य के लिए अवकाश नहीं होता। संग्रह की प्रक्रिया का ही एक अंश है—प्रयत्न। प्रयत्न में अनुभविता अनुभव संचित करने में व्यस्त रहता है। अनुभविता एकाग्र हो सकता है; अवधान दे सकता है और अवबोध भी जगा सकता है; परन्तु अनुभविता को अनुभव पाने की जो तड़पन होती है, उसे पूर्ण विराम मिलना अत्यावश्यक है, क्योंकि अनुभविता केवल ज्ञान का संचित-रूप है।

ध्यान में अपार आनन्द समाया है।

अपने विषय में उन्होंने बताया कि तत्वज्ञान और मानवशास्त्र का उन्होंने अध्ययन किया है और पतंजलि के योगशास्त्र को भी उन्होंने पढ़ा है! वे मानते थे कि ख्रिस्ती विचार कुछ सतही है और केवल सुधार को ही उसमें स्थान है, इसलिए वे पौर्वात्य देशों में गये और किसी योग साधना में लगे रहे; साथ-साथ हिन्दू-विचार का अच्छा परिचय उन्होंने प्राप्त किया।

"आपके कुछ प्रवचन मैंने पढ़ें हैं, और एक विशिष्ट मर्यादा तक मैं उन्हें समझ पाया हूँ, ऐसा मैं मानता हूँ। यद्यपि अपराधभाव को, निन्दावृत्ति को न जगाना अत्यन्त कठिन है, फिर भी अपराध का या निन्दा का भाव न हो, इस कहने का

महत्त्व मैं समझता हूँ; परन्तु जब आप कहते हैं, मूल्यांकन मत करो, निर्णय मत दो, तब इसे समझना मेरे लिए असंभव होता है। समूची विचार-प्रक्रिया ही मूल्यांकन की प्रक्रिया है, ऐसा मुझे दीखता है। हमारा जीवन; हमारा समग्र दृष्टिकोण चयन के आधार पर, मूल्यों की, इष्टानिष्ट की नींव पर खड़ा है। मूल्यों के बिना हमारा पूरा जीवन विघटित हो जायेगा और आपका ऐसा आशय तो हो ही नहीं सकता। सभी मूल्यों से और आदर्शों से अपने मन को रिक्त करने का मैंने प्रयास किया, किन्तु मेरे लिए तो यह असंभव है।"

यह बताइये कि, शब्द या प्रतीकों के बिना क्या विचार सम्भव है? विचार प्रक्रिया के लिए क्या शब्द सचमुच आवश्यक है? यदि प्रतीक और सन्दर्भ न होते, तो हम जिसे विचार क्रिया कहते हैं, वह अस्तित्व में आती? क्या सारी विचार प्रक्रिया शब्दरूप है, अथवा शब्द के बिना भी वह चलती है?

"इसकी मुझे कोई जानकारी नहीं है और इस विषय का मैंने कभी विचार भी नहीं किया। जहाँ तक मेरी समझ जाती है, मैं मानता हूँ कि प्रतिमा, आकृति और शब्दों के बिना विचार प्रक्रिया नहीं चल सकती।"

अब यदि इस विषय की चर्चा हम कर ही रहे हैं, तो इसमें जो वास्तविकता होगी, उसे हमें समझना चाहिए न? शब्द और प्रतीकों के बिना विचार क्रिया चलती है अथवा नहीं, इसकी खोज करना क्या हमारे लिए संभव है?

"परन्तु मूल्यांकन का इसके साथ क्या सम्बन्ध है?"

मन का ताना-बाना सन्दर्भों से, सम्बन्धों से, प्रतिमा एवं शब्दों से बुना जाता है। इस पार्श्वभूमि से मूल्यांकन अंकुरित होता है। ईश्वर, प्रेम, समाजवाद, साम्यवाद इत्यादि शब्द हमारे जीवन में असामान्य महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। नाड़ी विज्ञान और मानसशास्त्र की दृष्टि से, जिस संस्कृति में हमारा पालन-पोषण होता है, उस पर शब्दों का अर्थ निर्भर करता है। एक क्रिश्चयन व्यक्ति के लिए कुछ विशिष्ट शब्दों का और प्रतीकों का अत्यन्त महत्त्व होता है, और किसी मुस्लिम व्यक्ति की दृष्टि में अन्य प्रकार के शब्द और प्रतीकों का संचय उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत ही मूल्यांकन का उद्भव होता है।

"क्या इस क्षेत्र के परे कोई जा सकता है? और यद्यपि कोई जा भी सके, तो किसलिए जाना चाहिए?"

मानवी विचार-प्रक्रिया सदैव संस्कारोत्पादित होती है; विचार-स्वातन्त्र्य नाम की कोई वस्तु होती ही नहीं। आपको जो पसन्द है, वह आप सोचते होंगे, परन्तु आपकी विचार-क्रिया सदा ही मर्यादित होती है और वैसी ही रहेगी। मूल्यांकन एक विचार की, चयन की प्रक्रिया है। यदि मन अपने ही संकुचित या

विस्तीर्ण घेरे में सन्तुष्ट है, जैसे सामान्यतः वह होता ही है, तो उसे किसी मूलभूत प्रश्न की चिन्ता रहती ही नहीं; इसका अपना एक लाभ भी होता है। परन्तु यदि मन चाहता है, कि विचार के परे कुछ है या नहीं, यह समझ ले, तो सारा मूल्यांकन समाप्त होना चाहिए; विचार से परे जो सत्य है, उसे खोजने के लिए विचार-प्रक्रिया का अन्त होना आवश्यक है।

"परन्तु मन तो स्वयं ही इस विचार-प्रक्रिया का अविभाज्य अंग है, तब किस प्रकार के प्रयत्न से या अभ्यास से विचार का अन्त किया जा सकता है?"

विचार की कार्य-पद्धति मूल्यांकन, निन्दा-तिरस्कार, तुलना इत्यादि के आधार से ही चलती है और जब आप पूछते हैं, कि किस प्रयास या पद्धति के द्वारा विचार-प्रक्रिया का अन्त करेंगे, तब आप किसी लक्ष्य की प्राप्ति ही चाहते हैं, है न? किसी पद्धति का अभ्यास करने की या अधिक प्रयास करने की यह प्रेरणा मूल्यांकन की कोख से ही जन्म लेती है और यह समूची प्रक्रिया अभी भी मानसिक ही है। हम न तो किसी विधि के अभ्यास से अथवा न किसी भी प्रयास से विचार का अन्त कर सकते हैं। यह बताइये, हम प्रयास किसलिए करते हैं?

"यदि हम प्रयास नहीं करेंगे तो निष्क्रिय होकर मृत्यु को ही हमें स्वीकार करना पड़ेगा—केवल इस सीधे-सादे कारण के लिए हम प्रयास करते हैं। सृष्टि में प्रत्येक वस्तु प्रयत्नरत है, समूची प्रकृति ही जीवन्त रहने के लिए दौड़धूप करती है।"

हम केवल जीवन्त रहने के लिए ही दौड़धूप करते हैं, या एक विशिष्ट मानसिक और आदर्श विचार-प्रणाली की चौखट में जीने के लिए संघर्षरत रहते हैं? वास्तव में हम चाहते हैं कि कुछ विशिष्ट बनें; महत्त्वाकांक्षा की, सार्थकता की, भय की प्रेरणा विशिष्ट समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत चलनेवाली हमारी दौड़धूप को और संघर्ष को आकार देती है। यह विशिष्ट समाज-रचना सामूहिक महत्त्वाकांक्षा के, सार्थकता के और भय-भावना के द्वारा विकसित होती है। हम किसी एक वस्तु की प्राप्ति के लिए या अन्य किसीको टालने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। यदि हम केवल जीवित रहने की ही चिन्ता करते, तो हमारा सम्यक् दृष्टिकोण ही मूलतः पृथक् होता। प्रयत्न निहित है; और चयन का अर्थ है तुलना, मूल्यांकन, निन्दा व्यंजना। विचार का निर्माण इन प्रयासों के और आन्तर्विरोधों के द्वारा हुआ है। तब इस तरह से निर्माण हुआ विचार क्या स्वयं को अपना ही सातत्य बनाये रखनेवाले घेरे से मुक्त कर सकेगा?

"तब तो स्वयं को अपने ही घेरे में बन्द करनेवाली विचार-क्रियाओं का अन्त करने के लिए कोई बाह्य हस्ती की—आप इसे दैवीकृपा या जो भी कहिये ऐसी

किसी शक्ति की—आवश्यकता होगी। क्या आप ऐसी ही किसी शक्तिशाली हस्ती का निर्देश कर रहे हैं?''

हम किसी संतोषदायी स्थिति को प्राप्त करने के लिए कितने उत्सुक होते हैं। एक बात आपसे कहूँ, महाशय? कहीं पहुँचने के, किसी उपलब्धि के विचार में, किसी विशिष्ट परिस्थिति से मन को मुक्त करने की चिन्ता में ही क्या आप फँसे नहीं हैं? स्वयं अपनी ही कामनाएँ और प्रयासों से बनाये इस कारागृह में मन कैसा वन्दी बनता है, देखिये! और इस मन की प्रत्येक गति, किसी भी दिशा में होनेवाला उसका सारा व्यवहार इस कारागृह में ही चलता है; परन्तु इस तथ्य का भान उसे न होने के कारण, अपनी ही वेदना और संघर्ष के बीच तड़पता हुआ वह प्रार्थना करता है और किसी बाह्य प्रभावशाली हस्ती की कृपा से अपनी वेदना-मुक्ति की आकांक्षा करता है। सामान्यत: अपनी अभीप्सित वस्तु वह पाता भी है, परन्तु उसे जो प्राप्त होता है, वह उसके अपने ही प्रयास का परिणाम है। इतना होने पर भी मन कैदी ही है, केवल अब उसकी कारा नयी है और साथ ही वह अधिक सान्त्वनादायी, तृप्तिकारी है।

''किन्तु भगवान् के लिए आप इतना तो बताइये कि कोई करे तो क्या करे? यदि मन की प्रत्येक क्रिया उसके अपने ही कारागृह का विस्तार है, तब तो सारी आशा ही त्याग देनी पड़ेगी।''

निराशा में फँसे हुए विचार की एक अन्य क्रिया है—आशा। आशा और निराशा, ये ऐसे शब्द हैं, जो अपने भावात्मक आशय के, और परस्पर विरोधी एवं आन्तर्विरोधी दीखनेवाली प्रेरणाओं के द्वारा मन को अपंग बनाते हैं। निराशा से कहीं दूर, उसके विरोधी कल्पना में आश्रय पाने के लिए दौड़ जाने के बदले, अथवा निराशा से आक्रान्त होकर हर्षपूर्ण या आशादायी किसी स्थिति से चिपक जाने के बदले, क्या निराशा में या उसके समान ही किसी अन्य स्थिति में स्थिर रहना संभव नहीं है? जब मन दु:ख-वेदनामय स्थिति से भागकर दूसरी आशा और सुखदायी कहलानेवाली स्थिति में आश्रय लेने दौड़ता है, तब संघर्ष उत्पन्न होता है। जिस अवस्था में हम हैं, उसका आकलन करने का अर्थ यह नहीं कि हम उस स्थिति का स्वीकार कर लें। स्वीकार और अस्वीकार दोनों ही मूल्यांकन की सीमा में विचरते हैं।

''अभी भी मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि विचार किसी भी प्रकार की क्रिया के बिना कैसे समाप्त होगा?''

संकल्प की, कामना की या बाध्यताकारी प्रेरणा की कोई भी क्रिया मन से ही तो जन्म लेती है, और यह मन कैसा है?—जो नित्य मूल्यांकन में, तुलना और निन्दा-तिरस्कार में लगा रहता है। मन यदि वास्तविकता के दर्शन करेगा तो विचार

का अन्त हो जायेगा; परन्तु इस सत्य के दर्शन किसी विवाद के द्वारा, दृढ़ धारणा या विश्वास के माध्यम से नहीं, किन्तु केवल सरल बनकर, पूर्ण अवधान देकर ही हो सकते हैं। विचार के अन्त की स्थिति कोई निद्रावस्था की नहीं है, न यह कोई जीवन को क्षीण बनानेवाली, अस्वीकार की स्थिति है, यह एक अत्यन्त निराली, अलौकिक स्थिति है।

"अपनी इस चर्चा के कारण मेरे ध्यान में आया है कि इस सारे विषय के सन्दर्भ में मैंने बहुत गहराई से सोचा ही नहीं है। यद्यपि मैंने पर्याप्त पढ़ा है, फिर भी जो दूसरों ने कहा उसी का मैंने ग्रहण किया है। मुझे प्रत्यय आ रहा है कि जीवन में पहली बार अपने ही विचारों का में अनुभव कर रहा हूँ, और मेरे लिए शायद केवल शब्दों से अधिक कुछ मूल्यवान् सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ है।" •

५३. ईर्ष्या तथा अकेलापन

उस शाम के समय वृक्ष के तले निःशब्द शान्ति थी। अभी भी पत्थर गरम था, पर एक छिपकली ऊपर-नीचे दौड़ रही थी। रात्रि में कड़ाके की ठंड रहेगी, और फिर अनेक घण्टों तक सूर्य ऊपर नहीं आयेगा। दूर खेतों में अपने मालिकों के साथ पशुओं ने दिनभर श्रम किया था और वे अब थके-मांदे, मन्द गति से लौट रहे थे। पहाड़ी के चोटी पर उल्लू का घर था, वहाँ से वह गहरी आवाज में पुकार रहा था। हर शाम को लगभग इसी समय उसकी पुकार प्रारम्भ होती और अंधकार बढ़ते-बढ़ते उसकी आवाज धीरे-धीरे हल्की, सौम्य और कम हो जाती; परन्तु कभी प्रसंगवश रात देर में वह आवाज पुनः कान पर आती। एक उल्लू घाटी के उस पार दूसरे को पुकारता और उन दोनों की पुकार-ध्वनि रात्रि को अधिक ही नीरवता और सौन्दर्य प्रदान करती। वह संध्या रमणीय थी और कृष्ण पहाड़ी के पीछे बालचन्द्र का अस्त हो रहा था।

मन की चतुर बातों से अन्तःकरण व्याप्त नहीं रहता, तब कारुण्य का आगमन कठिन नहीं होता। अपनी अपेक्षाएँ और भय, अपनी आसक्तियाँ और अस्वीकार; अपने आग्रह और प्रेरणाएँ—इन सभी से ग्रस्त हुआ मानस प्रेम की हत्या करता है। और इन सारी जटिलताओं के सन्दर्भ में सरल बनना कितना दुःसाध्य है। सौम्य और दयामय होने के लिए तत्वज्ञान और सिद्धान्तों की आवश्यकता नहीं है। कार्य कुशल और प्रभावशाली व्यक्ति देश में सभी लोगोंके लिए अन्न-वस्त्र, गृह एवं औषधोपचार की व्यवस्था तथा उसके लिए संघटन करेंगे। शीघ्र उत्पादन वृद्धि के आज

के काल में इतना होना तो अनिवार्य है; सुसंघटित सरकार और संतुलित समाज का यही कार्य है। परन्तु संघटन कभी हृदय और हाथों की उदारता व्यक्त नहीं करता। उदारता एक अत्यन्त भिन्न, अतुलनीय, स्रोत से प्रवाहित होती है। जैसे अग्नि जलाकर भस्म करता है, वैसे ही महत्त्वाकांक्षा और ईर्ष्या इस उदारता को निश्चितरूप से नष्ट करते हैं, इस मूल-स्रोत का स्पर्श पाना चाहिए, किन्तु इसके लिए उसके पास रिक्त-हस्त, विना प्रार्थना लिये, विना यज्ञ के आना होगा। सद्गुण यद्यपि आवश्यक है, उनका विकास प्रयत्नपूर्वक करके इस उदात्त उदारता के निकट नहीं पहुँच सकते, न उसके पास योग्यता और आज्ञाकारिता के द्वारा भी किसी की पहुँच होती है। जब मन निश्चल, सरल होता है, तब यह उदारता प्रवेश करती है। यह सरलता अहैतुकी हैं, इसमें अधिक की अपेक्षा या आकांक्षा को स्थान नहीं रहता।

वह एक तरुणी थी, परन्तु व्यथा के कारण कुछ थकी-सी थी। शारीरिक वेदना की उसे उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी एक भिन्न स्वरूप की आंतरिक व्यथा की थी। शारीरिक दु:ख का उपाय औषधों से करना उसके लिए सहज था, किन्तु ईर्ष्या की घोर व्यथा कम करना उसे कभी सम्भव नहीं हुआ। उसने अपना विवरण देते हुए बताया कि उसके बाल्यकाल से ही यह व्यथा उसके चित्त में रहती आयी थी। उस उम्र में वह बचपना मानी गयी, जिसे सहनकर मुस्कुराना आसान था, किन्तु अब यह ईर्ष्या एक व्याधि ही बन गयी थी। वह विवाहिता थी और दो बच्चों की माँ थी; परन्तु ईर्ष्या के कारण सारे सम्बन्ध नष्ट हो रहे थे।

"मैं केवल अपने पति और बच्चों से ही ईर्ष्या करती हूँ ऐसा नहीं, किन्तु जिस किसीके पास मुझसे कुछ अधिक होगा—उत्तम बगीचा हो या अधिक सुन्दर पोषाक— जैसे प्रत्येक मनुष्य से मैं ईर्ष्या करने लगती हूँ। यह सारा निवेदन करना मूर्खतापूर्ण प्रतीत होगा, परन्तु इससे मुझे तीव्र पीड़ा होती है। कुछ दिन पहले मैं मनोविश्लेषक के पास गयी थी, और कुछ समय के लिए मुझे शांति अवश्य मिली, परन्तु शीघ्र ही पुन: इस व्यथा का प्रारम्भ हुआ।"

जिस संस्कृति में हम जी रहे हैं, क्या वही ईर्ष्या को प्रोत्साहन नहीं दे रही है? हमारे विज्ञापन, स्पर्धा की वृत्ति, तुलना और यश के लिए किये जानेवाले सभी कार्यों का पूजन–ये सभी प्रवृत्तियाँ ईर्ष्या को पोषण नहीं देतीं? अपने पास जो है, उससे अधिक की अपेक्षा करना, यही तो ईर्ष्या है, है न?

"किन्तु······"

पहले हम प्रत्यक्ष ईर्ष्या का ही विचार कर लेते हैं, आपका उसके साथ जो विशिष्ट संघर्ष चल रहा है, उसकी चर्चा इसके उपरांत करेंगे। यह आपको ठीक लगता है न?

"निश्चितरूप से।"

ईर्ष्या को प्रोत्साहन मिलता है और उसका सम्मान भी होता है, होता है न ? स्पर्धा की वृत्ति बचपन से ही परिपुष्ट की जाती है। तुम्हें दूसरों से बढ़कर होना चाहिए, अधिक करना चाहिए—यह कल्पना पृथक्-पृथक् रीति से सतत दुहरायी जाती है; बालकों के मन में सफलता के उदाहरण, आदर्श पुरुष और उसका शौर्य इत्यादि विचार बारम्बार भर दिये जाते हैं। वर्तमान संस्कृति ईर्ष्या पर, संग्रह वृत्ति पर आधृत है। यदि आपको ऐहिक जीवन की स्थूल वस्तुओं के संग्रह में अभिरुचि नहीं है, तो उसके बदले आप किसी गुरु का शिष्यत्व ग्रहण करते हैं, और पारलौकिक जगत् में आपके लिए उचित स्थान का आश्वासन मिलता है। हम सब इसी वातावरण में बड़े होते हैं, और लगभग प्रत्येक व्यक्ति में यश की कामना गहरी जड़ पकड़ती है। यश का अनुसंधान अनेक मार्गों से किया जाता है, कलाकार का यश हो उद्योगपति की कीर्ति हो या धार्मिक साधक की सफलता हो—ये सभी ईर्ष्या के ही आविष्कार हैं, किन्तु जब ईर्ष्या चिन्ताजनक, वेदना का रूप लेती है, तभी केवल उससे मुक्त होने का प्रयास किया जाता है। जब तक ईर्ष्या के कारण क्षतिपूर्ति होती है, और वह सुखद होती है, तब तक उसे मनुष्य स्वभाव का एक अंग मानकर स्वीकार किया जाता है। हम इस तथ्य को नहीं देखते कि इस सुख में ही दुःख समाया है। आसक्ति से सुख अवश्य होता है, परन्तु उससे ईर्ष्या और व्यथा भी निष्पन्न होती है, इसका अर्थ यह है कि वह प्रेम नहीं है। इस तरह का व्यवहार करते-करते, उसी के दायरे में मनुष्य जीवित रहता है, सहता है और मरता है। जब स्वयं को संकीर्णता में बद्ध करनेवाले कर्म असह्य दुखदायी बन जाते हैं, तभी केवल मनुष्य उसके घेरे को तोड़कर बाहर निकलने की चेष्टा करता है।

"मुझे लगता है कि इस विवेचन का एक धुंधला-सा आकलन मुझे हुआ है, किन्तु मुझे करना क्या चाहिए ?"

आपको क्या करना चाहिए, इसका विचार करने से पूर्व, आइये, समस्या क्या है यह देख लेते हैं। बताइये, क्या है आपकी समस्या ?

"मेरे चित्त में सबके प्रति ईर्ष्या का भाव उमड़ता है, इससे मुझे तीव्र यातना होती है, इसलिए उससे मैं मुक्त होना चाहती हूँ।"

आप उसकी यातना से मुक्त होना चाहती हैं; किन्तु स्वामित्व और आसक्ति के साथ आनेवाला जो विशिष्ट सुख है उसे तो आप अवश्य चाहती हैं, क्या नहीं चाहती हैं ?

'-अवश्य चाहती हूँ। आप मुझसे ऐसी तो अपेक्षा नहीं कर रहे न कि अपनी सभी वस्तुओं का स्वामित्व मैं छोड़ दूंगी ?"

हम परित्याग का विचार नहीं कर रहे हैं, किन्तु स्वामित्व की आकांक्षा की चर्चा कर रहे हैं। वस्तुओं के साथ ही हम मनुष्यों का भी स्वामित्व चाहते हैं। हम चाहते हैं कि आशा और दृढ़-धारणाओं को पकड़ कर रखें। वस्तु और मनुष्य पर स्वामित्व रहे, ऐसी धधकती आसक्ति हमें क्यों होती है ?

"मुझे मालूम नहीं, इसका मैंने कभी विचार नहीं किया है। ईर्ष्या करना स्वाभाविक है, ऐसा ही लगता है, किन्तु मेरे जीवन में वह विषरूप बन गयी है, एक भयंकर तूफानी तत्व बन चुकी है।"

कुछ चीजों की हमें आवश्यकता होती है, अन्न, वस्त्र, माथे पर छत इत्यादि की, परन्तु ये सारी चीजें मानसिक समाधान का आधार बन जाती हैं, और फिर इनसे अनेक अन्य समस्याएँ निर्माण होती हैं। उसी प्रकार अन्य व्यक्ति पर मानसिक निर्भरता रहेगी तो चिन्ता, ईर्ष्या, भय इत्यादि की परम्परा जन्म लेती है।

"इस अर्थ में कुछ व्यक्तियों पर मैं निर्भर हूँ, ऐसा मुझे लगता है। मेरे लिए ये लोग अत्यन्त आवश्यक बने हैं, और उनके बिना मेरे जीवन का सर्वस्व खो जायेगा। यदि पति और बच्चे मेरे नहीं होंगे, तो मैं धीरे-धीरे पागल हो जाऊँगी, या फिर किसी अन्य व्यक्ति के प्रति मैं असक्ति रहूँगी। परन्तु मेरे ध्यान में यह नहीं आ रहा है कि आसक्त में अनिष्ट या गलत क्या है।"

हम आसक्ति को गलत या सही नहीं कह रहे हैं, केवल उसके कार्य-कारण की चर्चा कर रहे हैं, है न ? न हम अवलंबन का समर्थन कर रहे हैं, न निषेध; परन्तु यह तो समझ लें कि किसी अन्य व्यक्ति पर मनुष्य मानसिक दृष्टि से क्यों निर्भर रहता है ? क्या वास्तविक समस्या यही नहीं है ? ईर्ष्या की यातनाओं से स्वयं को मुक्त कैसे करें—यह वस्तुतः समस्या है ही नहीं। ईर्ष्या तो केवल परिणाम है, मात्र एक लक्षण। और बाह्य लक्षण के साथ कुछ करना व्यर्थ ही है। बताइये, क्यों कोई व्यक्ति मानसिक रूप से दूसरे पर अवलंबित है ?

"मैं स्वयं अवलंवित हूँ, इतना ही मैं जानती हूँ, किन्तु मैंने इस पर कभी गहराई से विचार नहीं किया। प्रत्येक व्यक्ति अन्य किसी पर अवलंबित होता है, इसे मैंने गृहीत ही माना है।"

अर्थात् शारीरिक दृष्टि से हम सब एक दूसरों पर निर्भर रहते हैं और सदैव रहेंगे भी, यह स्वाभाविक है और अनिवार्य भी। परन्तु दूसरों पर हमारा मानसिक अवलम्बन क्यों है, इसका जब तक हमें आकलन नहीं होता, तब तक ईर्ष्या की वेदना बनी ही रहेगी, क्या ऐसा आपको नहीं लगता? इसलिए यह पूछना आवश्यक है कि यह दूसरे पर मानसिक निर्भरता क्यों है ?

"मुझे अपने परिवार की आवश्यकता है इसलिए अपने परिवार पर मैं प्रेम करती हूँ। यदि मैं उन पर प्रेम नहीं करती तो मुझे उनकी कोई चिन्ता नहीं होती।"

आप क्या यह बता रही हैं, कि प्रेम और ईर्ष्या साथ-साथ चलते हैं ?

"ऐसा ही तो दीखता है। यदि मैं उन पर प्रेम नहीं करती तो मुझे किंचित् भी उनकी ईर्ष्या नहीं होती।"

ऐसा ही यदि है, तब तो ईर्ष्या से मुक्ति पाते ही आपको प्रेम से भी मुक्ति मिलेगी, मिलेगी न ? तब फिर आप ईर्ष्या से मुक्त होना क्यों चाहती हैं ? आसक्ति का सुख तो आपको चाहिए, परन्तु उसकी व्यथा आप मिटाना चाहती हैं, क्या यह सम्भव है ?

"क्यों नहीं सम्भव ?"

आसक्ति में भय निहित है, है न ? यदि आपका प्रिय व्यक्ति आपको छोड़ कर चला जाता है, या उसकी मृत्यु होती है, तो आपका क्या होगा, इस विचार से आप भयभीत हैं, और इस भय के कारण ही आप इस व्यक्ति के प्रति आसक्त हैं। जब तक आप आसक्ति के सुख मे रममाण हैं, तब तक भय छिपा रहता है, ताले में बन्द है, परन्तु दुर्भाग्य से वह निरंतर वहाँ उपस्थित है, और इस भय से मुक्त होने तक ईर्ष्या की यातनाएँ आपको भोगनी पड़ेंगी।

"मुझे किस बात का भय है ?"

प्रश्न यह नहीं कि आपको किस बात का भय है, किन्तु प्रश्न यह है कि आप भयभीत हैं, इसका आपको भान भी है ?

"अब जब कि आप यह सीधा प्रश्न मुझे कर रहे हैं, तब मुझे महसूस होता है कि मैं भयाक्रान्त हूँ। ठीक है मैं स्वीकार करती हूँ कि मुझे भय लगता है।"

किस बात का ?

"मैं उध्वस्त हो जाऊँगी, असुरक्षित होऊँगी, प्रेम न पा सकूँगी, मेरी सम्हाल नहीं होगी -- इत्यादि विचारों से मैं भयभीत हो जाती हूँ, साथ ही मैं अकेली हो जाऊँगी, इस विचार से भी मैं आक्रान्त होती हूँ। मैं सोचती हूँ कि बात यही है। मैं अकेली होऊँगी तो जीवन का सामना करने का सामर्थ्य मुझ अकेली में कैसे होगा—इसी का भय मुझे घेरे रहता है। इसलिए मैं अपने पति और बच्चों पर आधृत हूँ और आतंकित होकर मैं उन्हें पकड़कर रखती हूँ। मेरे मन मन मे हमेशा एक भय बना रहता है कि उन्हें कुछ हो जायेगा। कभी-कभी मेरा आतंक ईर्ष्या का रूप लेता है, कभी तूफानी क्रोध में वह व्यक्त होता है तो कभी और किसी रूप में सामने आता है। मेरा पति किसी अन्य स्त्री की ओर आकर्षित तो नहीं होगा—इस विचार से भी मैं भयग्रस्त रहती हूँ। चिन्ता ने मुझे पस्त कर दिया है। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि अश्रुपात करने में मैंने घण्टों बिताये हैं। इस सारे अन्तर्विरोध को, और खलबली को हम प्रेम कहते हैं; और आप मुझसे पूछ रहे हैं कि क्या यह प्रेम

है ? जब आसक्ति होती है, तब क्या उसे प्रेम कहेंगे ? मैं स्पष्टरूप से देख रही हूँ कि वह प्रेम नहीं है। यह सब भद्दा है, पूर्णतया स्वार्थपूर्ण है। मैं निरन्तर अपना ही विचार करती रहती हूँ। परन्तु मैं करूँ भी तो क्या ?"

चित्त में अपराध भावना रखने से, स्वयं को बुरा, घृणित, स्वार्थी कहने से किसी भी प्रकार समस्या कम नहीं होती; प्रत्युत् वह बढ़ती ही है। इस बात का आकलन होना आवश्यक है। निन्दा या समर्थन के कारण भय की पार्श्वभूमि में जो छिपा पड़ा है, उस वास्तव का दर्शन आप कर नहीं पातीं, और ये चित्त के भाव ही आपका ध्यान प्रत्यक्ष प्रकट होनेवाले तथ्य के सम्मुख लाने के बदले, अन्यत्र आकर्षित कर देते हैं। जब आप कहती हैं; "मैं घृणित हूँ, स्वार्थी हूँ"—तब आपके ये शब्द निन्दा और अपराधभाव से बोझिल रहते हैं। इन शब्दों के द्वारा निन्दा का गुण आप परिपुष्ट करती हैं, और यही अहम् का अंगभूत गुण है।

"इस बात का आकलन मुझे हो रहा है, ऐसा नहीं लगता।"

आपके बालक की किसी क्रिया का समर्थन या निषेध करने से क्या आप कभी उसका आकलन कर सकती हैं ? समझाने के लिए आपके पास समय या वृत्ति नहीं है और तुरन्त परिणाम आप चाहती हैं, तो आप बच्चे से "यह करो" या "यह मत करो" इतना ही कह देती हैं, परन्तु इतना कहने से आपको उसके चित्त की सारी क्रिया-प्रक्रिया का आकलन नहीं ही हुआ न ? उसी प्रकार निन्दा, समर्थन या तुलना करने से आपके स्वयं के आकलन में बाधा आती है। आप स्वयं जो एक संश्लिष्ट अस्तित्व हैं, उसका आकलन आपको करना होगा।

"जी हाँ, जी हाँ, इतनी बात तो मैं समझ गयी।"

तब आप इस विषय में निन्दा या समर्थन न करते हुए, धीरे-धीरे आगे बढ़िये। निन्दा या समर्थन न करना आपके लिए बड़ा कठिन होगा, क्योंकि शताब्दियों से या तो अस्वीकार करने या फिर स्वीकार करने की मनुष्य की आदत बनी है। हमारी चर्चा चलेगी, तब आप अपनी ही प्रतिक्रिया का अवलोकन कीजिये।

तब समस्या ईर्ष्या और उससे मुक्ति—यह नहीं है, समस्या है भीति की। भय का स्वरूप क्या है ? वह उत्पन्न कैसे होता है ?

"भय मेरे चित्त में है तो अवश्य, परन्तु उसका स्वरूप क्या है, मैं जानती नहीं।"

भय कभी स्वतन्त्र, पृथक् रूप से अस्तित्व में नहीं रह सकता, वह किसी अन्य के सन्दर्भ में ही केवल उत्पन्न होता है, होता है न ? जिसे आप अकेलापन कहती हैं, वह एक ऐसी स्थिति है कि जिसका भान आपको होते ही भय भी मालूम

होता है, तो यह स्पष्ट बात है कि भय का स्वतन्त्ररूप से अस्तित्व नहीं होता। अब बताइये, आपको वास्तव में किस बात का भय लगता है।

"मै समझती हूँ कि, जैसा आप कहते हैं, अकेलेपन से मुझे भय लगता है।"

आप "समझती हूँ" ऐसा क्यों कहती हैं? क्या आपको पूरा विश्वास नहीं है?

"किसी भी विषय में पूरा विश्वास करने में मुझे हिचक होती है, किन्तु इतना निश्चित है कि अकेलेपन की समस्या मेरी अत्यन्त गहरी समस्याओं में से एक है। मेरे चित्त की पार्श्वभूमि में वह सदैव रहती आयी है, किन्तु अभी यह चर्चा करते समय ही केवल उसके साथ दृष्टि मिलाने के लिए, वह निश्चितरूप से है, यह देखने के लिए मैं विवश हुई हूँ। यह एक प्रचण्ड रिक्तता है, भयंकर और अपरिहार्य।"

इस रिक्तता को कोई भी नाम न देते हुए, उसका किसी भी स्वरूप का वर्णन न करते हुए, क्या उसका केवल अवलोकन संभव है? किसी स्थिति को केवल नाम देने से उसका आकलन होता है ऐसा नहीं, इसके विपरीत नामकरण से आकलन में विघ्न ही निर्माण होता है।

"आपका आशय मेरे ध्यान में अवश्य आया; परन्तु नामकरण किये बिना मुझसे रहा नहीं जाता। सच कहूँ तो यह तत्काल होनेवाली प्रतिक्रिया ही है।"

भावसंवेग होना और नाम देना ये दोनों क्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं, चलती हैं न? क्या उन्हें अलग किया जा सकता है? क्या संवेदनशील होना और नाम देना इन दोनों के बीच अन्तराल रहना संभव है? यदि यह अन्तराल या रिक्तता प्रत्यक्ष अनुभूत हुई तो यह ध्यान में आयेगा कि विचारक विचार से पृथक् और भिन्न अस्तित्व के रूप में शेष रहता ही नहीं। शब्दीकरण की प्रक्रिया अहम् की, "मैं" की अंगभूत प्रक्रिया है। और यह अहम् का अस्तित्व ईर्ष्यालु भी होता है और ईर्ष्या के भाव से मुक्त होने का प्रयास भी करता है। इस वास्तविकता का सत्य यदि आप सचमुच आकलन कर लेती हैं, तो भय का समापन होता है। नामकरण का मानसिक एवं शारीरिक परिणाम होता है। जब नाम देने की क्रिया नहीं होती है, तभी केवल अकेलेपन की रिक्तता का अवमान समग्रता से होना सम्भव है। इस अवबोध के होते ही मन स्वयं को "जो है", उस वास्तविकता से पृथक् नहीं करता।

"इस सारे विवेचन का पूरा अभिप्राय समझना मेरे लिए अत्यन्त कठिन लग रहा है, परन्तु इसके कुछ अंश का आकलन तो मुझे हुआ है, ऐसा अनुभव करती हूँ, और इतने आकलन को खिलने के लिए मैं अवसर दूँगी।"

५४. मन का विक्षोभ

दिनभर कोहरा छाया रहा, और शाम के समय जैसे ही वह साफ हुआ, पूर्व की ओर से तेज हवाएँ चलने लगीं—सूखी, कठोर, सूखे पत्तों को उड़ा ले जानेवाली, जमीन की सारी नमी सोखनेवाली तूफानी हवा बहने लगी। वह भीषण आँधी की विकराल रात थी। तीव्र हवा की गति अधिक तेज हो गयी, बंगला चरमरा रहा था। वृक्षों की शाखाएँ टूट रही थीं। दूसरे दिन प्रातःकाल में वातावरण पूर्ण स्वच्छ था और पर्वत श्रेणी का सहज स्पर्श कर सके, इतने वे निकट लग रहे थे। थोड़ी देर में हवा के साथ ही ऊष्मा लौट आयी, परन्तु जैसे ही सध्या के पूर्व हवा शान्त हुई, सागर पर से कुहरा अँगड़ाई लेता फिर से चारों ओर फैल गया।

धरती कितनी असामान्य सुन्दर और वैभव सम्पन्न है! उसकी नवोन्मेषशाली विविधता देखते हुए मन अघाता नहीं, थकता नहीं। नदियों के रेतीले पात्र जीवन्त सृष्टि के आविष्कारों से भरपूर रहते हैं: छोटे-छोटे पर्णों की झाड़ियाँ लाल-शुभ्र पोपी के फूल, ऊँचे, पीले सूर्य-पुष्प—सभी की बहार रहती। बड़े-बड़े पत्थरों पर छिपकलियाँ थीं। भूरे और सफेद छटाओं का राजा सर्प धूप सेंक रहा था, उसकी काली-काली जिह्वा अन्दर-बाहर लपक रही थी। घाटी के परे एक कुत्ता खरगोश के या ऐसे ही किसी प्राणी के पीछे दौड़ता हुआ भोंक रहा था।

संतोष कभी भी कामनापूर्ति के कारण, उपलब्धि या वस्तु-स्वामित्व के परिणामस्वरूप उदित नहीं होता। उसके उदय का सक्रियता या अक्रियता से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तविकता की, उसके 'है' पन की भरपूरता के साथ वह प्रकट होता है। इस वास्तविकता में परिवर्तन लाने से वह निष्पन्न नहीं होता। जो परिपूरित है, भरपूर है उसे बदलाव की, परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। जो अपूर्ण होता है, वही पूर्ण बनने के प्रयास में निहित असंतोष को और परिवर्तन के विक्षोभ को जानता है। जो 'है' वह तो है अधूरा, वह पूर्ण नहीं है। पूर्ण तो अवास्तविक है, मिथ्या है। और जो वास्तविक नहीं है, उसका पीछा करने से असंतोष की व्यथा जन्म लेती है, और उस वेदना का उपशमन करना कभी भी संभव नहीं होता। इस व्यथा को मिटाने का प्रयत्न करना अर्थात् अवास्तविक की खोज करना, और इस प्रयास में से असंतोष की ज्वाला उठती है। असंतोष से उबरने का कोई मार्ग है नहीं। असंतोष का अवबोध ही वस्तुतः जो 'है', उसका अवबोध है, और उसी की भरपूरता में एक ऐसी स्थिति खिलती है, जिसे संतोष कह सकते हैं। इस स्थिति की विरोधी द्वंद्वात्मक जैसी कोई स्थिति नहीं होती।

बंगले के नीचे की ओर घाटी दिखाई देती थी, और दूरवर्ती पहाड़ों का सबसे ऊँचा शिखर अस्तमान सूर्य की किरणों से प्रदीप्त हो गया था। उसका पाषाण-गर्भ स्वरूप आकाश में अधर में लटका हुआ-सा और भीतर से ही प्रकाशित लगता था, अंधेरे कमरे में उस प्रकाश की शोभा असीम, अपार थी।

वह नवयुवक उत्सुक था, और कुछ खोजता हुआ जैसे आया था।

"धर्म और धर्म-साधनाओं पर लिखी पुस्तकें, ध्यान एवं परमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए बतायी गयी अनेक साधना-पद्धतियों पर लिखे ग्रंथ मैंने बड़ी मात्रा में पढ़े हैं। किसी समय मुझे साम्यवाद का आकर्षण रहा, परन्तु शीघ्र ही मैंने पाया कि अनेक बुद्धिमान विचारक रहते हुए भी साम्यवादी आन्दोलन प्रतिगामी था। कैथोलिक धर्म विचार ने भी मुझे आकर्षित किया। उसके कुछ सिद्धान्त मुझे पसंद आये, और कभी कैथोलिक बनने का विचार भी मेरे मन में उठा; परन्तु एक दिन एक अत्यन्त विद्वान् पादरी से चर्चा करते समय अचानक मेरे ध्यान में आया कि कैथोलिक धर्म भी साम्यवाद के बंदीगृह के समान ही है। अनेक देशों की यात्रा करनेवाले जहाज पर नाविक बनकर घूमते समय एक बार मैं भारत जाकर लगभग एक साल तक रहा, और वहाँ संन्यासी बनने का विचार मेरे मन में आया; परन्तु वह तो निवृत्त; जीवन था और मुझे अधिक आदर्शवादी, अवास्तविक-सा लगा। ध्यान साधने के लिए एकान्तवास का प्रयास भी मैंने किया, परन्तु वह प्रेरणा भी समाप्त हो गयी। इतने साल इन प्रयत्नों के बावजूद अभी भी अपने विचारों पर नियंत्रण रखने में मैं पूरी तरह असमर्थ रहा हूँ, और इसी विषय के सन्दर्भ में मैं आपसे बात करना चाहता हूँ। अर्थात् मेरी अन्य कुछ समस्याएँ भी हैं, विशेषतः यौन आदि की, परन्तु यदि मैं अपने विचारों पर पूर्ण नियंत्रण पा सकूँगा तो अपनी ज्वलंत कामनाओं और प्रेरणाओं को मर्यादित रखने की व्यवस्था मैं कर ही लूँगा।"

विचार को नियंत्रित करने से कामनाओं का शमन होगा या उनका केवल दमन ही होगा? और इस दमन में से फिर दूसरी गहरी समस्याएँ भी उत्पन्न होंगी न?

"कामना को व्यक्त करने का उपदेश तो आप निश्चित ही नहीं कर रहे हैं। कामना विचार की ही अभिव्यक्ति है, और विचार-नियंत्रण के मेरे प्रयास में मैंने आशा की थी कि मेरी कामनाएँ भी सहज नियंत्रित हो जायेंगी। कामनाओं का या तो नियंत्रण होता है, अथवा उदात्तीकरण, किन्तु उनके उदात्तीकरण के लिए भी पहले उन पर अंकुश रखना आवश्यक है। बहुत से आचार्य आग्रहपूर्वक कहते हैं कि कामनाओं के परे निकल जाना चाहिए, और इस कामना-विजय के लिए वे अनेक साधना-पद्धतियों का उपदेश देते हैं।"

अन्य लोग क्या कहते हैं इसे ध्यान में न लेकर, आप स्वयं क्या सोचते हैं, बताइये ? केवल कामना-नियंत्रण से क्या इन कामनाओं से उत्पन्न होनेवाली अनेक समस्याओं का समाधान होगा ? कामना के दमन या उदात्तीकरण से क्या उसका आकलन होना या उससे मुक्ति पाना आपके लिए संभव होगा ? किसी धार्मिक या अन्य व्यवसाय के माध्यम से सारे दिन के प्रत्येक घण्टे के लिए मन को अनुशासित कर भी सकेंगे, परन्तु किसी व्यवसाय में व्यस्त हुआ मन मुक्त मन नहीं है; और केवल मुक्तमन ही निश्चितरूप से कालातीत सृजनशीलता का अवबोध पा सकता है।

"कामना से परे निकल जाने में क्या मुक्ति नहीं है ?"

'कामना से परे निकलना' इसका क्या अर्थ आप करते हैं ?

"अपने लिए सुख प्राप्ति हो और साथ ही परम साक्षात्कार भी हो ऐसी चाह है, तो यह आवश्यक है कि हमें वासनाएँ खींचकर न ले जायँ, हम कामना के विक्षोभ और संभ्रम में न फँस जायँ। ये कामना-वासनाएँ नियंत्रण में रहें इसलिए उन्हें किसी तरह वश में कर लेना आवश्यक है। जीवन की क्षुद्र वस्तुओं का अनुसंधान करते रहने के बदले ये ही कामनाएँ उन्नत साध्य की खोज में लग सकती हैं।"

कामना का विषय आप बदल सकते हैं, घर से लेकर ज्ञात तक, निम्न स्तर से अतिश्रेष्ठ ऊँचे शिखर तक विषयों में अदल-बदल हो सकता है, परन्तु इनमें निहित सारी क्रिया कामना की ही है न ? आप ऐहिक विश्व में मान-मान्यता न भी चाहते हों, लेकिन स्वर्ग प्राप्ति की प्रेरणा भी लोभ की ही खोज रहेगी। कामना निरंतर परिपूर्ति की, उपलब्धि की खोज करने में व्यस्त रहती है, और कामना की इसी गति का, इसी क्रिया का हमें आकलन करना होगा, न उसके नीचे दब जाना चाहिए, न उसके साथ घसीटते रहना चाहिए। कामना की विविध रीतियों का आकलन किये बिना केवल विचार के नियंत्रण का कोई विशेष अर्थ नहीं होता।

"किन्तु जिस विषय से मैंने प्रारंभ किया था, वहाँ मुझे वापस आना ही होगा। कामना के आकलन के लिए भी एकाग्रता आवश्यक है, और यही मेरी प्रमुख कठिनाई है। अपने विचारों का नियंत्रण मैं नहीं कर सकता, ऐसा स्पष्ट दीखता है। मेरे विचार एक-दूसरों से टकराते, सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। सभी असंगत विचारों के मध्य, कोई एकमात्र, सतत टिकनेवाला प्रभावी विचार है ही नहीं।"

अहर्निश काम करनेवाले यंत्र के समान, हमारा मन भी जागृति में, सुषुप्ति में अविरत नाद, शब्द आदि के आवर्तन में व्यस्त ही रहता है। वह अत्यन्त गति-मान है और इतना चंचल है कि जैसा सागर। इसकी जटिल और क्लिष्ट रचना का एक अंश इसकी सभी क्रियाओं का नियंत्रण करने के प्रयास में रहता है, और इस तरह परस्पर विरोधी कामनाओं के और प्रेरणाओं के बीच संघर्ष छिड़ जाता है।

एक को उच्च या श्रेष्ठ अहम् कहेंगे, तो दूसरे को निम्न स्तरीय अहम् मानेंगे, किन्तु ये दोनों भी मन की सीमा में ही रहते हैं। मन की और विचार की क्रिया एवं प्रतिक्रिया साथ-साथ और लगभग यांत्रिक होती है। यह सचेतन तथा अचेतन की समूची प्रक्रिया—स्वीकार और अस्वीकार की, अनुवर्तन की और मुक्ति के प्रयास की—अत्यन्त तीव्रगति से चलती है। तब प्रश्न यह नहीं है कि यह जटिल यंत्र नियंत्रित कैसे होगा, क्योंकि नियंत्रण से घर्षण होता है, और उससे शक्ति का केवल अपव्यय ही होता है। अतः वास्तविक प्रश्न यही है कि क्या इस अत्यन्त गतिशील मन की चाल मन्द हो सकेगी ?

"किन्तु कैसे ?"

महाशय, एक बात का निर्देश करना चाहूँगा कि मुद्दा 'कैसे' का नहीं है। यह 'कैसे' केवल एक परिणाम, एक साध्य उपस्थित करता है, जिसका विशेष मूल्य नहीं है; और उस साध्य की प्राप्ति होने पर एक अन्य अभीप्सित उद्दिष्ट सामने आता है, जिसके लिए एक नयी खोज प्रारंभ होगी, और इसमें भी दुःख और संघर्ष छिपे ही हैं।

"तब मनुष्य को करना क्या चाहिए ?"

आप ठीक प्रश्न कर नहीं रहे हैं, हैं न ? मन की गति मन्द होने के सन्दर्भ में आप स्वयं सत्य या मिथ्या को उद्घाटित नहीं कर रहे हैं, किन्तु एक उद्देश्य-प्राप्ति की चिन्ता में ही लगे हैं। एक-एक उद्देश्य प्राप्त करना तुलनात्मक दृष्टि से सरल है, है न ? अंकुश लगाये बिना अपनी गति धीमी करना क्या मन के लिए संभव है ?

"गति धीमी करना—इसका आप क्या अर्थ करते हैं ?"

मोटर में शीघ्र गति से आप जब चलते हैं, तब निकट के प्रदेश का दृश्य धुँधला-सा दीखता है; केवल पैदल चलने पर वृक्ष, पंछी, पुष्प आदि का विस्तार से अवलोकन आप कर पाते हैं। अहम् विषयक ज्ञान मन की गति कम होने पर खुलकर सामने आता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मन की गति बलपूर्वक धीमी करें। दबाव डालने से केवल प्रतिरोध निर्माण होता है और यह भी देखना होगा कि मन की गति मन्द होने में शक्ति का अपव्यय नहीं होना चाहिए। यही बात है, है न ?

"मुझे लगता है कि विचार नियंत्रित करने में जो प्रयास हम करते हैं, वह व्यर्थ ही है, इतना मेरे ध्यान में आ रहा है। परन्तु और क्या करना चाहिए, यह मेरी समझ में नहीं आता।"

अभी हम कुछ करने के प्रश्न तक आये ही नहीं हैं, क्या आये हैं ? हम यह

देखने की कोशिश कर रहे हैं कि मन की गति मन्द होना कितना आवश्यक है; उसकी गति मन्द होना क्या संभव है ? कब होती है वह मन्द ?

"मुझे मालूम नहीं है, मैंने पहले कभी भी इस पर विचार नहीं किया "

देखिये, यह बात आपके ध्यान में क्या कभी नहीं आयी कि जब आप किसी वस्तु का अवलोकन करते हैं, तब मन की गति धीमी पड़ती है ? वहाँ नीचे रास्ते पर चलनेवाली मोटर को जब आप देखते हैं, अथवा किसी स्थूल वस्तु को आप जब ध्यानपूर्वक देखने लगते हैं, तब आपका मन बहुत धीमी गति से अपना काम करता है न ? अवलोकन, निरीक्षण मन की गति को मन्द कर देता है। किसी चित्र की ओर, किसी प्रतिमा या वस्तु की ओर देखते रहने से मन के नीरव, शान्त होने में सहायता मिलती है, वैसे ही किसी सूत्र के जप से भी मिलती है; परन्तु तब वह वस्तु या सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बनते हैं, और मन की मन्द गति का या उससे कौन-सी वास्तविकता अनावृत्त होती है, इसका कोई महत्त्व नहीं रहता।

"आप जो स्पष्ट करके समझा रहे हैं, उसका अवलोकन मैं कर रहा हूँ, और इसके साथ ही मन के निस्तब्ध होने का अवभान भी मुझे हो रहा है।"

हम कभी किसी वस्तु का सचमुच अवलोकन करते भी हैं ? अथवा हम केवल द्रष्टा और दृश्य के बीच विविध पूर्वग्रहों का, मूल्य, निर्णय, तुलना तथा निंदा-तिरस्कार इत्यादि का एक परदा ही खड़ा करते हैं ?

"यह परदा न होना सर्वथा असंभव है। मुझे नहीं लगता कि मैं अतिक्रमण रहित, अदूषित वृत्ति से अवलोकन करने में समर्थ हूँ।"

एक बात का सूचन करूँ ? आप स्वयं को शब्दों से या अनुकूल-प्रतिकूल निष्कर्षों से कुंठित नहीं कीजिये। इस पर्दे के बिना क्या अवलोकन संभव है ? इस बात को भिन्न रूप में व्यक्त करें तो, जब मन व्यस्त होता है, तब क्या अवधान रहता है ? केवल अव्यग्र मन ही अवधान की अवस्था में रहता है। मन मंदगति-वाला जागृत तब होता है, जब तटस्थ अवलोकन चलता है, अर्थात् वस्तुतः यही अव्यग्र मन का अवधान है।

"आप जो कह रहे हैं, उसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है।"

इसी का हम थोड़ा अधिक परीक्षण कर लेते हैं। यदि मूल्यांकन का यह पर्दा द्रष्टा और दृश्य के मध्य नहीं रहता, तब क्या इन दोनों के बीच कोई भेद रहता है ? क्या तब द्रष्टा दृश्य नहीं बनता ?

"इसका अर्थ मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।"

हीरे को उसके गुणधर्मों से पृथक् नहीं किया जा सकता, बताइये, कर सकते हैं पृथक् ? ईर्ष्या की भावना को, उस भावना के अनुभविता से अलग नहीं किया जा

सकता है, यद्यपि एक भ्रामक विभाजन अवश्य रहता है। और इस विभेद के कारण संघर्ष उत्पन्न होता है, और उसमें मन फँस जाता है। जब यह मिथ्या पृथकता अदृश्य होती है, तब मुक्ति की संभावना रहती है, और तभी केवल मन निस्तब्ध, स्थिर—शान्त होता है। जब अनुभविता विलीन होता है; तभी केवल जीवन-सत्य की सृजनशील गति उदित होती है। ●

५५. विचार का नियन्त्रण

मोटर की गति कितनी ही कम करने पर भी उत्तम, सूक्ष्म, सर्वत्र प्रवेश करनेवाली धूल रहती ही थी और वह प्रतिक्षण मोटर के भीतर प्रविष्ट हो जाती थी। यद्यपि वह प्रातःकाल का प्रारम्भिक प्रहर था और सूर्य अभी एक-दो घण्टे क्षितिज पर आनेवाला नहीं था, तो भी शुष्क, बढ़िया ऊष्मा वातावरण में थी और वह बहुत अधिक चुभनेवाली नहीं थी। उषःकाल के उस पहले प्रहर में भी रास्ते पर बैलगाड़ियाँ चल रही थीं। उनके चालक नींद में थे, परन्तु रास्ते पर करीने से चलते बैल धीरे-धीरे अपने गाँव की ओर बढ़ रहे थे। कभी-कभी दो या तीन गाड़ियाँ दीख जातीं, तो कभी दस और एक बार तो पचीस थीं, उनकी लम्बी कतार चल रही थी, उनके सभी सारथी सोये हुए थे और आनेवाली गाड़ी में एकमेव लालटेन लटकी हुई थी। उनके निकट से जाते समय मोटर को मुख्य रास्ता छोड़कर कच्चे मार्ग पर उतरना पड़ता था, जिससे धूल के पर्वत खड़े हो जाते थे, परन्तु वे वृषभदेव, गले की घण्टियाँ लयबद्ध बजाते हुए चलते-चलते, रास्ते से हटने का नाम नहीं लेते थे।

एक घण्टे से अधिक समय, समगति से मोटर चलाने पर भी अभी पर्याप्त अँधेरा था। वृक्ष गहन, गूढ़ और निवृत्त से लगते थे। अब रास्ता पक्का किन्तु संकीरा था और प्रत्येक बैलगाड़ी मिलने पर यह निश्चित था कि अधिक धूल, अधिक घण्टियों की टुन्-टुन् ध्वनि एवं अधिक संख्या में आगे चलनेवाली गाड़ियाँ अवश्य होंगी। हम पूर्व की ओर जा रहे थे, और अब उषःकाल प्रारम्भ हो रहा था, किन्तु आज का सवेरा धूसर अस्पष्ट, सौम्य था। उसमें नित्य की स्वच्छ, चमकते ओस-कणों से उज्ज्वल आभा नहीं थी। बढ़नेवाली ऊष्मा से वातावरण गहन था, फिर भी वह प्रभात कितना रम्य, मनोहारी था। वहाँ से पर्वतश्रेणी बहुत दूर थी; उन्हें दृष्टि से देख नहीं सकते थे, परन्तु उनका भव्य, शीतल और कालातीत अस्तित्व प्रतीत होता था।

मार्ग विविध प्रकार के देहातों से होकर जाता था। कुछ देहात स्वच्छ, साफ, व्यवस्थित थे, तो कुछ गन्दगीभरे, आशाशून्य दारिद्रय से और अधोगति से सड़े-गले दीखते थे। पुरुष वर्ग खेतों की ओर जा रहा था, स्त्रियाँ कुँओं पर पानी भरने निकली थीं और बच्चे रास्ते पर चिल्लाते, हँसते घूम रहे थे। सरकारी फार्म मीलों तक फैलते थे, उनमें ट्रैक्टर, मछली के तालाब और खेती की प्रायोगिक शालाएँ थीं। एक नयी भारी-सी मोटर श्रीमंत, हृष्ट-पुष्ट लोगों को लेकर निकट से निकल गयी। अभी भी पहाड़ काफी दूर थे और वसुन्धरा सम्पन्न, समृद्ध दृष्टिगत होती थी। अनेक स्थानों पर मार्ग नदी के सूखे पाट में से जाता था, वहाँ कोई मार्ग जैसा तो नहीं था, मात्र पाट को पार करने के लिए बस एवं बैलगाड़ियों ने मिलकर एक ऊबड़-खाबड़ मार्ग बना दिया था। लाल और हरे तोते अपने जोश में उड़ते-उड़ते, एक दूसरों को पुकार रहे थे, हरे और सुनहरे छोटे-छोटे पंछी भी थे और साथ ही धान पर मँडरानेवाले धवल-शुभ्र पक्षी भी थे।

अब रास्ता मैदान से पहाड़ियों की चढ़ाई पर बढ़ने लगा। नीचे की छोटी पहाड़ियों पर उगी घनी झाड़ियों को बुलडोजर से साफ किया जा रहा था। वहाँ मीलों तक फलों के पेड़ लगाये जा रहे थे। मोटर ऊपर चढ़ती ही रही और पहाड़ियाँ पर्वतों में परिवर्तित हो गयीं। ऊँचे, पतले और सरल चीड़ और फूलों से लदे हुए चेस्टनट वृक्षों से ये पर्वत आच्छादित थे। अब वह अनोखा दृश्य खुलकर सामने आ रहा था—असीम लम्बी घाटियाँ नीचे की ओर फैली हुईं और सामने हिम शिखर!

अन्त में चढ़ाई की चोटी के निकट एक घुमाव से हम ऊपर निकल आये और दृष्टि को चौंधियानेवाली स्वच्छ, भव्य पर्वतश्रेणी सामने खड़ी हो गयी। ये पर्वत साठ मील दूर थे, उनके और हमारे बीच एक विस्तीर्ण नीली घाटी फैली थी। दो सौ मिल के विस्तार में विराजमान पर्वतों ने क्षितिज के दोनों छोरों को व्याप्त किया था, और मस्तक इधर से उधर घुमाकर हम उनके एक छोर से दूसरे छोर तक उन्हें सम्पूर्ण देख सकते थे। वह एक अद्भुत विराट दृश्य था। बीच के साठ मील का प्रदेश मानो अदृश्य हो गया और वहाँ केवल उस महान् दृश्य की प्रबलता और निरी निःसंगता उपस्थित थी। उन शिखरों में कुछ तो पचीस हजार फीट से अधिक ऊँचाई के शिखर थे, उन्हें देवताओं के नाम दिये गये थे, क्योंकि देवता वहाँ रहते थे और मानव दूर-दूर से यात्रा करने आते थे। मन में पूजन का भाव लेकर, और वहीं मृत्यु की गोद में सो जाने की अभिलाषा संजोकर वहाँ पहुँचते थे।

उन महाशय का शिक्षण विदेशों में हुआ था और शासन में वे ऊँचे पद पर थे, ऐसा वे कह रहे थे। परन्तु बीसेक साल पहले अपना पदत्याग कर, ऐहिक

जीवन की सारी आकांक्षाएँ छोड़कर उन्होंने अपना शेष जीवन ध्यान-साधना में व्यतीत करने का निर्णय लिया था।

आगे उन्होंने कहा, "ध्यान की विविध प्रक्रियाओं का अभ्यास करने से अपने विचारों पर मुझे पूरा नियंत्रण प्राप्त हुआ। इसके साथ ही कुछ सिद्धियाँ भी आयीं और स्वयं पर मैं विजय प्राप्त कर सका। तथापि, जब मेरे एक मित्र मुझे आपके प्रवचन में ले गये, और उस प्रवचन में आपने, ध्यान पर पूछे एक प्रश्न के उत्तर में ऐसा कहा कि, सामान्यतः जिस ध्यान की साधना की जाती है, वह एक प्रकार का स्वसम्मोहन है, कितना ही परिष्कृत क्यों न हो, वह स्वप्रक्षेपित इच्छाओं का ही विकसन है, तब आपकी वह बात मुझे इतनी सच्ची लगी कि इस संवाद के लिए मैंने स्वयं पहल की, और आज आपके पास आया हूँ। मुझे आशा है कि इस विषय में हम दोनों मिलकर कुछ गहराई में जा सकेंगे, क्योंकि मैंने अपना जीवन ही ध्यान के लिए समर्पित किया है।"

"मेरा विचार है कि चर्चा का प्रारम्भ मैं अपने विकास का क्रम आपके सामने स्पष्टरूप से रखकर करूँ। मैंने जितना अध्ययन किया, उस पर से एक बात का स्पष्ट दर्शन मुझे हुआ कि मनुष्य को अपने विचारों का पूर्ण स्वामी बनना आवश्यक है। यह मेरे लिए अत्यन्त कठिन बात थी। कचहरी के काम में एकाग्रता साधना, मन को स्थिर करने के और सम्यक् विचार प्रक्रिया को नियंत्रित करने के काम से पूर्णतः भिन्न था। ग्रंथों के अनुसार नियंत्रित किये विचारों की बागडोर अपने स्वयं के हाथों में ही रखनी चाहिए। विचार को नियंत्रित करके उसे दिशा दिये बिना, अनेक भ्रमों को छिन्न करने के लिए उसमें तीक्ष्णता लाना सम्भव नहीं था, इसलिए यह मेरा प्रथम कार्य था।"

आपके निवेदन में व्यत्यय न लाते हुए यदि मैं एक बात पूछूं, तो क्या विचार का नियंत्रण सर्वप्रथम कार्य है?

"एकाग्रता पर अपने प्रवचन में आपने जो कहा, सो मैंने सुना, परन्तु, यदि आपको आपत्ति न हो तो, मेरे समग्र अनुभव का वर्णन जहाँ तक सम्भव है, आपके पास मैं करना चाहता हूँ। तदनन्तर उससे सम्बन्धित महत्त्व के कुछ प्रश्नों की चर्चा करेंगे।"

जैसा आप चाहें, महाशय।

"प्रारम्भ से ही मैं अपने व्यवसाय से असंतुष्ट था, और वैसे तो, एक अच्छे-खासे व्यवसाय को छोड़ देना एक दृष्टि से सरल था। मैंने ध्यान और चिन्तन पर अनेक ग्रन्थ पढ़े थे, उनमें पौर्वात्य और पाश्चात्य विभिन्न रहस्यवादियों के लिखे भी थे, और इन सबके अध्ययन से मुझे स्पष्ट रूप से लगा कि विचार-नियन्त्रण ही

सबसे महत्त्वपूर्ण बात है। इसके लिए हेतुपूर्वक और सातत्यपूर्ण पर्याप्त प्रयास की आवश्यकता थी। जैसे-जैसे मेरी ध्यान में प्रगति होती रही, मुझे अनेक अनुभूतियाँ हुईं, कृष्ण, ख्रिस्त और कुछ हिन्दू सन्तों के साक्षात्कार हुए। अतीन्द्रिय दर्शन की सिद्धि मुझे प्राप्त हुई और मैं लोगों के विचार पढ़ने लगा, साथ ही कुछ अन्य सिद्धियाँ और शक्तियाँ प्राप्त हुईं। मुझे अनुभूतियों पर अनुभूतियाँ होने लगीं, एक प्रतीकात्मक अर्थ सम्पन्न साक्षात्कार से दूसरे साक्षात्कार की ओर, निराशा से लेकर श्रेष्ठ परमानन्द तक मैं अनुभव लेता ही रहा। विजेता का गर्व, स्वयं का स्वामी बनने की अस्मिता मुझमें प्रवेश कर गयी। तपस्या और स्वयं के स्वामित्व मनुष्य को एक शक्ति का भान कराता है और उससे अभिमान, बल और आत्मविश्वास निर्माण होते हैं। इन सबकी भरी-पूरी समृद्धि में मैं प्रतिष्ठित था। यद्यपि आपके विषय में मैं अनेक वर्षों से सुना करता था, फिर भी महान् उपलब्धि के अहंकार ने मुझे सदैव आपकी बात सुनने को आने स परावृत्त ही किया; परन्तु मेरे एक संन्यासी मित्र ने आग्रहपूर्वक कहा मैं आपकी बातें सुनूँ, और तब मैंने जो सुना उससे मैं विचलित हो गया। इससे पूर्व मैंने माना था कि मैं कभी विचलित हो ही नहीं सकता, उस अवस्था से मैं परे पहुँच चुका हूँ। ध्यान की मेरी यात्रा का इतिहास संक्षेप में यही है।

"आपने अपने प्रवचन में कहा था कि सम्यक् अनुभव से मन को परे जाना चाहिए, अन्यथा स्वयं के प्रक्षेपणों की कारा में, अपनी अभिलाषाओं और उद्देश्यों में वह बन्दी हो जाता है। और ठीक इन्हीं बातों में मेरा मन पकड़ा गया, यह देखकर मुझे गहरा आश्चर्य हुआ। इस तथ्य का भान जागने पर, अब मुझे बताइये कि स्वयं के चारों ओर मन ने जो कारागृह की दीवारें खड़ी की हैं, उन्हें वह कैसे तोड़े? अब तक के ये बीस से अधिक वर्ष क्या व्यर्थ ही गये? क्या यह सारी यात्रा केवल धोखे की ही हुई?"

इस सन्दर्भ में क्या करना चाहिए, इस विषय की चर्चा अभी हम कुछ ही समय में कर सकेंगे, परन्तु यदि आपकी अनुकूलता हो तो विचार-नियन्त्रण को हम प्रथम देख लेते हैं। क्या यह नियन्त्रण आवश्यक है? यह उपकारक है अथवा हानिकारक? अनेक धार्मिक गुरु प्रथम चरण के रूप में विचार-नियन्त्रण का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु क्या वे ठीक कहते हैं? यह नियन्त्रक है कौन? जिस विचार को वह नियन्त्रित करने का प्रयास करता है, उसीका वह क्या एक अंश नहीं है? वह भले स्वयं को पृथक् समझे, चाहे विचार से भिन्न माने, परन्तु क्या वह विचार का ही परिणाम नहीं है? निश्चितरूप से नियन्त्रण का अर्थ है, संकल्प की बाध्यकारी क्रिया, जिससे दमन, दबाव, अधीन करना एवं अनिश्चित अवस्था के विरोध में प्रतिरोध खड़ा करना—ये सारी क्रियाएँ संचालित होती हैं। इस समूची प्रक्रिया में

एक दुःखद और विराट संघर्ष निहित है, है न ? और संघर्ष में से कुछ शुभ कभी निष्पन्न हो सकता है ?

ध्यान की एकाग्रता एक प्रकार का अहंकेन्द्रित सुधार कार्य है; वह स्व की, अहम् की, 'मैं' की सीमा के अन्तर्गत क्रिया पर बल देता है। एकाग्रता विचार को संकुचित क्षेत्र में समाने की प्रक्रिया है। बालक अपने खिलौने में लीन हो जाता है। खिलौना प्रतिमा, प्रतीक या शब्द मन को अपने में लीन करके उसके अविश्रान्त भ्रमण पर रोक लगाते हैं, और इस तन्मयता को एकाग्रता कहते हैं। यह आन्तरिक या बाह्य वस्तु अथवा प्रतिमा मन को पूरी तरह वश में कर लेती है। प्रतिमा या वस्तु तब सर्वोपरि महत्त्व की बनती है और स्वयं मन के आकलन का कोई मूल्य नहीं रहता। किसी वस्तु पर एकाग्र चित्त होना वस्तुतः सरल है। खिलौना मन को तन्मय अवश्य करता है, परन्तु उसकी सीमाओं से अतीत, चित्ताकाश से परे कुछ है या नहीं, इसका अन्वेषण करने के लिए मन को वह मुक्त नहीं करता।

"आपकी यह बात मेरे अध्ययन या ज्ञान से मैंने जो सीखा, उससे कितनी भिन्न है, तो भी यह सत्य है ऐसा प्रतीत होता है और विचार-नियन्त्रण की प्रक्रिया में निहित जो गहरे अर्थ हैं उनका अब मुझे आकलन हो रहा है। परन्तु एक बात समझ में नहीं आ रही है कि अनुशासन के सिवा मन मुक्त कैसे होगा ?"

दमन और अनुरूपता के उठे चरण मुक्ति की दिशा में नहीं ले जाते, उस दिशा में उठनेवाला प्रथम चरण है बंधन का आकलन। अनुशासन आचरण को निश्चित आकार अवश्य देता है, और विचार को इच्छित ढाँचे में ढाल भी सकता है, परन्तु कामना का आकलन किये बिना मात्र नियन्त्रण या अनुशासन का पथ स्वीकारने से विचार विकृत बनता है; जबकि कामना की कार्यरीति का अवबोध होता है, तो यह अवबोध ही अपने साथ स्पष्टता और व्यवस्था ले आता है। महाशय, अन्ततः एकाग्रता कामना की ही रीति है। व्यापार-उद्योग में जो व्यक्ति व्यस्त है, वह एकाग्र होता है, क्योंकि वह सत्ता और सम्पत्ति का संग्रह चाहता है; और कोई अन्य व्यक्ति ध्यान में एकाग्रचित्त होता है, तो वह भी उपलब्धि के, पारितोषिक के पीछे ही लगा है। दोनों ही सफलता का अनुसंधान करते हैं, और उसी प्रयास में से आत्मविश्वास और सुरक्षा का भाव निष्पन्न होता है। यही बात है, है न ?

"आपके इस स्पष्टीकरण का अर्थ मैं समझ रहा हूँ।"

केवल शाब्दिक अर्थ ग्रहण हो तो वह श्रवण किये शब्दों की मात्र बौद्धिक समझ है, और इसका बहुत थोड़ा मूल्य है, ऐसा आपको नहीं लगता ? केवल शाब्दिक आकलन कभी भी मुक्तिदायक तत्व नहीं होता। मुक्तिदायी है मात्र प्रस्तुत सन्दर्भ में सत्य या मिथ्यात्व का दर्शन। एकाग्रता में निहित आशय का हमें आकलन

हो सकता है और हम मिथ्या को मिथ्या के रूप में यदि देख सकते हैं, तो कुछ भी प्राप्त करने की, अनुभवन की या कुछ बनने की कामना से मुक्ति मिलती है। इस मुक्ति के परिणामस्वरूप अवधान प्रकट होता है, जो एकाग्रता से पूर्णत: भिन्न है। एकाग्रता में एक द्विविध प्रक्रिया है, उसमें एक चयन, एक प्रयास निहित है, है न? यहाँ एक प्रयास करनेवाला है और एक साध्य है—जिसकी ओर इस प्रयास की गति है। अत: एकाग्रता अहम् को 'मैं' को, प्रयासकर्ता के रूप में, विजेता एवं गुणवान् के रूप में जो अस्तित्व है उसे, प्रबल बनाती है। परन्तु अवधान में यह द्विविध क्रिया अवस्थित नहीं है; वहाँ अनुभविता की, जो एकत्र करता है, संग्रह करता है, पुनरावर्तन में लगा रहता है, ऐसे अहम् की अनुपस्थिति है। इस समग्र अवधान की अवस्था में उपलब्धि की प्रक्रिया में निहित संघर्ष और विफलता का भय, दोनों विलीन हो जाते हैं।

"परन्तु दुर्भाग्यवश हम सबको इस सम्यक् अवधान की शक्ति का वरदान प्राप्त नहीं हुआ है।"

यह अवधान कोई वरदान नहीं है। अनुशासन, अभ्यास इत्यादि के बदले में खरीदी जानेवाली वह कोई वस्तु, कोई पारितोषिक नहीं है। कामना के, आकलन के साथ, अर्थात् अहम्ज्ञान के साथ ही, अवधान सहज प्रकट होता है। इस अवधान की अवस्था कल्याणमयी है और यही अहम् की अनुपस्थिति है।

"अनेक वर्षों के मेरे सभी प्रयास और साधना क्या सर्वथा ही व्यर्थ हुए हैं? क्या उनका कोई भी मूल्य नहीं है? किन्तु यह प्रश्न पूछते-पूछते ही, इस सन्दर्भ में सत्य के दर्शन मुझे हो रहे हैं। अभी मुझे प्रत्यय आ रहा है कि बीस वर्षों से अधिक समय तक मेरे चरण ऐसे पथ पर बढ़ते चले हैं, जो स्वनिर्मित कारागृह की ओर अनिवार्य रूप से ले जाता रहा, और इसी कारा में मैं जीता आया, अनुभव लेता रहा और दु:ख भी सहा। अतीत के लिए आँसू बहाना भी अहम् में रममाण होना ही है, इसलिए इस भावुकता से पृथक् होकर एक निराले भाव से पुनश्च 'हरि: ॐ' करना होगा, एक नया प्रारंभ करना होगा। परन्तु उन सारे साक्षात्कार एवं अनुभूतियों का क्या होगा? क्या वे भी मिथ्या और मूल्यहीन हैं?"

महाशय, यह मन मनुष्य के सभी अनुभव, साक्षात्कार, और विचारों का क्या एक विराट कोठार ही नहीं है? अनेक समग्र वर्षों के अनुभव एवं परम्परा के परिणामस्वरूप मानवी मन विकसित हुआ है। उसमें अत्यन्त सरल से लेकर विलक्षण जटिल तक असंख्य अनोखे आविष्कार करने का सामर्थ्य है, बृहत् अवलोकन और अलौकिक भ्रमनिर्माण की कुशलता उसमें है। सामूहिक तथा वैयक्तिक दोनों प्रकार के अनुभव और आशाएँ, चिन्ताएँ और प्रसन्नता से उसमें समायी हैं, साथ-

साथ समूचा संग्रहीत ज्ञान उसकी चेतनता के गहरे स्तरों में छिपा पड़ा है, और कोई भी व्यक्ति स्व-उपार्जित या परम्परा प्राप्त अनुभूतियों और साक्षात्कार आदि के सहारे पुनः जी सकता है। हमने सुना है कि कुछ औषधियाँ ऐसी हैं, जो मनुष्य को अधिक स्पष्ट दर्शन; अनेक गहराइयों के तथा ऊँचाइयों के श्रेष्ठ-कनिष्ठ साक्षात्कार करा सकती हैं, और आन्तरिक विक्षेपों से मन को मुक्त करके उसे प्रचण्ड ऊर्जा और आन्तर्दृष्टि प्रदान करती हैं। परन्तु क्या इन सभी अन्धकारमय और छिपे गलियारों में से यात्रा करके प्रकाश तक पहुँचने की मन के लिए आवश्यकता है? क्या यह प्रकाश शाश्वत सत्य का प्रकाश है? अथवा वह केवल ज्ञात का, पहचान का, खोज, संघर्ष और आशा से उत्पन्न किसी वस्तु का प्रकाश है? क्या मनुष्य की इस थकाने-वाली प्रक्रिया के द्वारा ही उस अमेय, असीम तक पहुँच होगी? क्या इस सारी कष्ट-प्रद प्रक्रिया को टालकर, हम उस अद्वितीय तत्व तक नहीं पहुँच पायेंगे, जिसे प्रेम कहा जाता है? महाशय, चूँकि आपको साक्षात्कार और अनुभूतियाँ हुई हैं, और अतीन्द्रिय शक्तियों का आपको अनुभव है, इस विषय में आप क्या कहते हैं; बताइये?

"जब तक इन सबका अनुभव लेता रहा, तब तक मैं स्वाभाविकरूप से यही मानता था कि वे महत्त्वपूर्ण और अर्थगर्भ हैं। उन्होंने मुझे तुष्टिदायी अधिसत्ता का भाव और तृप्तिकारी उपलब्धि का एक विचित्र-सा सुख दिया। जब विविध शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, तब वे बड़ा आत्मविश्वास जगाती हैं, और साथ ही अत्यन्त गर्व-भरा आत्मविजय का भाव प्रदान करती हैं। अब इनके सही स्वरूप की इतनी चर्चा करने पर मुझे बिलकुल ही नहीं लगता कि ये सारे साक्षात्कार इत्यादि मेरे लिए कुछ अधिक अर्थपूर्ण रहेंगे, जैसे वे इससे पूर्व रहे हैं। मेरे स्वयं के आकलनरूपी प्रकाश में जब वे पीछे हट गये हैं, अदृश्य हो रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है।"

क्या इन सारे अनुभवों में से मन को जाना ही होगा? अनन्त के द्वार खोलने के लिए क्या इनकी आवश्यकता है? उन्हें क्या टाला नहीं जा सकता? अन्ततः आवश्यकता है अहम्—ज्ञान की, जिससे निस्तब्ध, शान्त मानस अनावृत्त होता है। निश्चल मन–कामना–विजय के लिए की साधनाओं की, अनुशासन की या संकल्प की कोई उपज या नवरचना नहीं है। ये सभी साधनाएँ एवं नियमानुशीलता केवल अहम् को प्रबल बनाती है, और तब सद्गुण की शिला पर अहंता अपनी महा-नता का और सम्माननीयता का महल खड़ा करती है। अज्ञेय का प्रकटन होने के लिए मन का ज्ञात से रिक्त होना आवश्यक है। अहम् के विभिन्न आविष्कारों का आकलन नहीं होगा, तब तक सद्गुण अपनी महानता के वस्त्र चढ़ा-चढ़ाकर अहम् का माहात्म्य बढ़ाता रहता है। अपने संकल्प और कामना, अपने अन्वेषण और संग्र-

हार्दि सभी को लेकर अहम् की गति का सम्यक् रूप से समापन होना होगा, तभी केवल उस कालातीत अद्वितीय सत्य का उदय होता है। उसका आवाहन नहीं किया जा सकता। जो मन विविध अभ्यास, अनुशासन, प्रार्थना एवं विभिन्न दृष्टियों के द्वारा सत्य का आवाहन करके निकलता है, वह स्वयं के तृप्तिदायी प्रक्षेपण ही पा सकता है, परन्तु ये प्रक्षेपण जीवन का वास्तविक सत्य नहीं है।

"अब मैं देख रहा हूँ कि इतने वर्षों की तपस्या, अनुशासन और आत्म-पीड़न के बाद मेरा मन स्वतः निर्माण किये कारागृह में बन्दी बना हुआ है, इसलिए इस कारागृह की दीवारें अब तोड़कर धराशायी करनी ही होगी। बताइये, यह कार्य किस रीति से प्रारम्भ करना होगा?"

केवल, ये दीवारें न रहें, इतना अवभान होना ही पर्याप्त है। उन्हें गिराने के लिए जो क्रिया करेंगे वह प्राप्ति की, उपलब्धि की कामना को गति देती है, और इस तरह अनुभविता और अनुभव, साधक और साध्य इन विरोधी द्वंद्वों का संघर्ष निर्माण करती है। मिथ्या को मिथ्या के रूप में ही देखना अपने में पर्याप्त है, क्योंकि यह दर्शन ही मन को मिथ्या से, असत्य से मुक्त करता है।

५६. क्या अगाध विचारणा संभव है?

ताल-वृक्षों से परे बहुत दूर प्रक्षुब्ध, निष्ठुर सागर फैला था; निश्चल शान्ति के साथ उस का कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा, सदैव लहरों के और प्रबल प्रवाहों के कारण वह क्षुब्ध ही रहता आया है। रात्रि के प्रशान्त समय में उसकी गर्जना अन्तस्तल में दूर-दूर तक सुनाई देती थी, और उस गहन-गंभीर ध्वनि में एक तरह की चेतावनी की सूचना-सी रहती थी। परन्तु इधर ताल-वृक्षों के मध्य गहरी छायाएँ और निस्तब्ध नीरवता थी। रात्रि पौर्णिमा की थी और दिन के प्रकाश के समान चाँदनी स्वच्छ, स्पष्ट थी, केवल उसमें धूप की प्रदीप्ति और उष्णता नहीं थी। ढलनेवाले चँवर के समान उन ताल वृक्षों पर चन्द्रकिरणें मृदुल-मनोहर लगती थीं। यह मनोरमता केवल वृक्षों पर बरसनेवाले चन्द्र प्रकाश में ही नहीं थी, किन्तु उन छायाओं में, उन वर्तुलाकार तनों में, उन चमकीली जल लहरियों में और सम्पन्न वसुंधरा में भी सौन्दर्यमयी शोभा व्याप्त थी। यह विस्तृत धरित्री, सर्वव्याप्त आकाश, साथ चलनेवाला व्यक्ति, मेढकों की ध्वनि तथा दूर से सुनाई देनेवाली रेल की सीटी—सभी मिलकर एकरस जीवन्त विभूतिमत्व प्रकट था; इसका नापतौल मन के पास हो नहीं सकता था।

मानवी-मन एक आश्चर्यचकित करनेवाला उपकरण है। इसके साथ तुलना कर सके, ऐसा एक भी मानव-निर्मित यंत्र इतना संकुल, सूक्ष्म और ऐसा अनंत संभावनाओं से परिपूरित बना नहीं है। इसका जो थोड़ा-सा अवभान हमें है, वह केवल ऊपरी स्तर का ही है। और इसी उथले स्तर पर रहने में हमें संतोष होता है। विचारणा को, विचार क्रिया को हम मन की क्रिया के रूप में स्वीकारते हैं: युद्ध में विराट हत्या की योजना में निहित सेनाधीश की विचारणा हो, चतुर राजनीतिज्ञ का धूर्त विचार हो, विद्वान् प्राध्यापक का चिन्तनशील विचार हो या साधारण मिस्त्री का हिसाबी विचार हो – ये सभी मानसिक हैं। तब क्या यह विचारणा कभी अथाह, गहरी होती है ? क्या सभी विचारणा मन की एक सतही क्रिया नहीं है ? विचारणा में मन कभी गहरा होता है ? जो मन काल, स्मृति एवं अनुभव का परिणामरूप है, अनेक घटक एकत्र जोड़कर बना हुआ है, उसे कभी अपने अंगभूत न हो, ऐसे एक तत्व का अवभान होना संभव है ? मन सदैव कुछ टटोलता, खोजता रहता है, अपनी ही स्व-संकोचक क्रियाओं से परे कुछ पाना चाहता है, परन्तु जहाँ से इस क्रियाओं का संचालन वह करता है, वह केन्द्र निरंतर पूर्ववत् ही रहता है।

मन केवल ऊपरी क्रियाओं का आविष्कार नहीं है, किन्तु अनेक शताब्दियों की प्रच्छन्न—प्रसुप्त गतियों के प्रवाह भी उसमें समाये हैं। ये आन्तर्गतियाँ बाह्य क्रिया को नियंत्रित या परिवर्तित करती हैं। इससे मन अपने ही भीतर द्वंद्वात्मक संघर्षों की सृष्टि करता है। मन कभी एकात्म, समग्र, सम्पूर्ण नहीं होता, वह अनेक विभागों में, परस्पर-विरोधी अंग-उपांगों में भग्न, खण्डित-सा रहता है। जो मन स्वयं को एकरस, समन्वित करना चाहता है, वह अपने पृथक् अंग-उपांगों में सामंजस्य, शांति प्रस्थापित नहीं कर सकता। विचार से, ज्ञान या अनुभव से जो मन समग्र-समन्वित बनाया जाता है, वह फिर भी काल तथा दुःख का परिपाक ही है। प्रयासपूर्वक एकत्र किये जाने के कारण वह अभी भी परिस्थितियों के ताने-बाने से बुनी रचना ही है।

मन की एकात्म समग्रता की समस्या को हम भ्रान्तिपूर्ण दृष्टि से ही देखते आये हैं। अंश कभी पूर्ण नहीं हो सकता। अंश के द्वारा कभी सम्पूर्ण का साक्षात्कार संभव नहीं है, किन्तु इस तथ्य को हम देखते नहीं। हम जो देखते हैं वह एक विशिष्ट बृहद्रूप होता है, जिसमें अनेक अंश समाये रहते हैं; परन्तु अनेक अंगों को एकत्र लाने से सर्वांग समग्रता निर्माण नहीं होती, और जब विविध अंगों में समन्वय होता है, या सुस्वरता लायी जाती है, तब इसका कोई अधिक महत्त्व भी नहीं रहता। वास्तव में समस्वरता और समग्रता उतनी महत्त्व की नहीं है, क्योंकि वह तो सुयोग्य शिक्षण से, अवधान और संगोपन से लायी जा सकती है, परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण है अज्ञात को प्रकट होने के लिए अवसर देना। ज्ञात कभी भी अज्ञात का

स्वांगत और दर्शन नहीं कर सकता। मन निरंतर प्रयत्नशील रहता है कि वह स्वनिर्मित एकात्मता के पोखरे में सुखपूर्वक रहे, परन्तु इससे अज्ञात की सृजनशीलता का अलौकिक आविष्कार नहीं होता।

मूलभूत बात यह है कि स्वसुधार केवल मामूली, सामान्य-सी अवस्था है। सद्गुणों का विकास करके, विशिष्ट समर्थता से एकरूप होकर अथवा भावरूप या अभावरूप सुरक्षा की व्यवस्था के द्वारा जो स्व-सुधार का प्रयास होगा, वह चाहे जितना विशाल क्यों न हो, अन्ततः एक स्व-संकोचक प्रक्रिया ही है, स्वयं को कारा-बद्ध करनेवाली कार्य शृंखला ही है। महत्त्वाकांक्षा के कारण यह सामान्यता उत्पन्न होती है, क्योंकि महत्त्वाकांक्षा, किसी कर्म, समूह या कल्पना का उपयोग करके अहम् की परिपुष्टि करने का प्रकट लक्षण है। ज्ञात के विश्व में केन्द्रस्थ है अहम्, वह अतीत की वर्तमान से भावी की ओर बढ़नेवाली गति है। और ज्ञात के क्षेत्र में जो भी क्रिया होती है वह मन के उथलेपन को ही बरकरार रखती है। मन कदापि महान् नहीं बन सकता, क्योंकि महानता अमेय, अपार है। ज्ञात के विश्व में तुलना संभव है, और उसके अन्तर्गत जो भी क्रिया होती है। वह केवल दुःख परंपरा ही ला सकती है।

५७. अनंत-अपार

घाटी तलहटी में दूर तक फैली थी, और यहाँ भी अन्य सभी घाटियों में चलनेवाले क्रियाकलाप ही चल रहे थे। दूरवर्ती पर्वतश्रेणी के पीछे सूर्यास्त हो रहा था और इधर छायाएँ घनी, लम्बी हो गयी थीं। संध्या शान्त, नीरव थी और सागर की ओर से हलकी वायुलहरी बहती आ रही थी। पंक्तिबद्ध खड़े संतरे के पेड़ अब काले दिखाई पड़ने लगे थे। घाटी में से गुजरनेवाली लम्बी, सीधी सड़क पर मोटरें जब-जब दौड़तीं, अस्तमान सूर्य के किरण परिवर्तित होकर वे चमक उठतीं। संध्या निःशब्द, जादूभरी थी।

मन उस विराट् अवकाश को और असीम दूरी को आवृत करता-सा फैल गया; या शायद, मन के विस्तार का कोई अन्त ही नहीं, ऐसा लगा; और मन की पृष्ठभूमि में एवं उसके परे एक ऐसा अद्वितीय कुछ था, जिसने अखिल विश्व को अपने में धारण किया था। स्वयं से अतीत, पृथक् उस अद्वितीय का स्मरण करने का, उसे पहचानने का हलका-सा प्रयास मन ने किया और अन्ततः अपनी नित्य की

अभ्यस्त क्रिया का संवरण किया। परन्तु जो स्व-स्वरूप के समान नहीं था, ऐसी उस विलक्षण वस्तु का ग्रहण करने में मन असमर्थ रहा। और अब देखते-देखते सारी चराचर सृष्टि, मनसहित सम्यक् अस्तित्व उस अनन्तता के आश्लेष में समा गयी। संध्या अधिक गहरी हो गयी और दूर से सुनाई देनेवाली कुत्तों की आवाज, सम्पूर्ण चेतना से परे उस निराली प्रसन्नता को विचलित नहीं कर पायी। मन के लिए उसकी कल्पना करना संभव नहीं था और इसलिए मन की अनुभव-कक्षा से वह अतीत था।

परन्तु, तब वह क्या है, जिसने मानसिक प्रक्षेपणों से अत्यन्त निराले उस अद्वितीय के दर्शन किये और उसका अवबोध पाया? वह कौन है जिसने उस अनोखेपन का अनुभव किया? निश्चित ही, प्रतिदिन की स्मृतियों के प्रतिसाद और प्रेरणाओं के खेल में रहनेवाला मन वह नहीं था; तब क्या यह कोई अन्य मन है, अथवा उसी मन का एक प्रसुप्त अंश है, जिसे केवल वही जागृत करता है, जो संपूर्ण मनतत्व से परे और अतीत है? यदि ऐसा ही है, तब तो मन के भीतर वह सदैव उपस्थित है, जो विचार और काल से परे है। और तो भी यह असंभव हैं, क्योंकि यह केवल अनुमान ही है, और इसलिए यह भी अनेक मानसिक आविष्कारों में से एक है।

अनन्तता मानसिक प्रक्रिया का फल नहीं है, यह बात निर्विवाद है, तब फिर वह क्या है, जिसे इस अमितता का बोध होता है? अनुभविता के रूप में जो मन है, क्या उसी को इस अपार का भान हो रहा है? किन्तु अनुभविता कोई है ही नहीं, इसलिए क्या अनन्तता ही अपने-आप जागृत हुई है? पहाड़ से नीचे उतरते समय यह अनहोनी घटित हुई, तब अनुभविता उपस्थित नहीं था, और तो भी मन की बोधावस्था उस अनन्तता से गुणात्मक दृष्टि से सर्वथा भिन्न कोटि की थी। मन कर्म-विरत था, तटस्थ, सावधान जागृत था, और यद्यपि तरु-पल्लवों से खेलते वायुलहरी का उसे भान था, फिर भी स्वयं उसमें सम्यक् क्रियात्मक गति का लोप हुआ था। दृश्य का नापतौल लेनेवाला कोई द्रष्टा उपस्थित नहीं था। वहाँ था केवल 'वही', और 'वह' स्वयं के अवबोध में अमेय अनन्त व्याप्त था, अनादि वही था, और था अशब्द।

मन को अवभान था कि वह उसे शब्द या अनुभूति में कैद नहीं कर सकता; क्योंकि वह तो निरंतर उपस्थित है, कालातीत और अमित।

परिशिष्ट

जे० कृष्णमूर्तिजी की, तत्वज्ञान के क्षेत्र में कोई भिन्न परिभाषा है, ऐसा नहीं कह सकते। किन्तु मानसशास्त्र में तथा तत्वज्ञान में सामान्यत: उपयोग में लिये जानेवाले अंग्रेजी शब्दों का उनका अपना, कभी अलग अर्थ होता है। कभी इन शब्दों के अर्थ का एक नया ही आयाम रहता है। हिन्दी भाषा में इस क्षेत्र के अनेक शब्द संस्कृत से आते हैं। उसका अपना एक सन्दर्भ अर्थ होता है। अंग्रेजी शब्दों के अनुवाद में संस्कृत शब्द लाते समय, इसलिए थोड़ी-सी कठिनाई आती है। फिर भी अंग्रेजी शब्दार्थ, कृष्णजी का उसमें दाखिल हुआ नया आयाम और संस्कृत शब्दों का अपना संदर्भ—इन सबको ध्यान में लेकर कृष्णजी के अर्थ के आयाम को न्याय मिले, इस तरह अनुवाद करने का प्रयास किया है। उसमें जो विशेष और बारंबार उपयोग में आये शब्द हैं, उनकी अर्थ-सूची नीचे दे रही हूँ।

1. Action—कर्म, क्रिया
2. Activity—क्रिया, व्यापार
3. Alert—सजग, जागृत, सावधान
4. Attention —अवधान
5. Authority—अधिसत्ता, अधिकार
6 Awareness—अवबोध, अवधान
7. Becoming—बनना
8. Being—होने का भाव, होना
9. Belief—मान्य धारणा या विश्वास
10. Conditioning—संस्कार, संस्कार-बंध
11. Confirm —अनुवर्तन
12. Conformity—अनुरूपता, अनुवर्तन
13. Consciousness—चेतनता, चेतना, अवभान
14. Disintegration—विघटन, विघटितता
15. Distraction—विक्षेप, विचलन
16, Disturb—विचलित होना
17. Escape—पलायन, बचाव, आश्रय
18. False—मिथ्या, असत्य

19. Is (italics)—'है' पना, वास्तविकता
20. Isolation—विभक्तता, एकाकिता
21. Passive—तटस्थ
22. Perfect or complete listening—सम्यक् या परिपूर्ण श्रवण
23. Positive and Negative—भावरूप, सकारात्मक; अन्वयात्मक और अभावरूप, नकारात्मक, व्यतिरेकात्मक
24. Resistance—प्रतिरोध
25. Self-enclosing—स्व-संकोचक, स्व-परिवंधक
26. Tranquility—उपशमन, शान्ति
27. Thesis-Antithesis—मतवाद–प्रतिमतवाद, सिद्धान्त–प्रतिसिद्धान्त
28. Understanding—आकलन, समझ
29. Watchfulness—सजग अवलोकन

●